RNI No.: MPHIN/2018/77137

पाठशाला
भीतर और बाहर

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

वर्ष-2 अंक-3 अगस्त 2019



पाठशाला
भीतर और बाहर

अगस्त, 2019 (वर्ष 2, अंक 3)

- प्रकाशक
  Azim Premji University
  अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
  पिक्सल बी, पी.ई.एस. कैम्पस
  होसुर रोड, इलेक्ट्रानिक सिटी, बैंगलूरू-560100
  Web: www.azimpremjiuniversity.edu.in
- प्रकाशन स्थल
  अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन
  प्लॉट नं. 321 - 322, ई-8, अरेरा कालोनी, पंजाब नैशनल बैंक के पीछे,
  फार्च्यून प्राईड सोसाइटी के पास, त्रिलंगा, भोपाल, म. प्र. 462039
  फोन नं. 0755 4074060, ई-मेल : pathshala@apu.edu.in
- लेआउट / डिज़ाइन
  गणेश ग्राफ़िक्स, देशबंधु काम्प्लेक्स, भोपाल
- आवरण चित्र
  'लैला और मजनू मक़तब में', निज़ामी की पुस्तक 'खम्सा' की प्रति से एक लघुचित्र, मेट्रोपोलिटन कला संग्रहालय, फोटो : सी एन सुब्रह्मण्यम

पाठशाला भीतर और बाहर पत्रिका, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन का हिन्दी प्रकाशन है। यह शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों, अन्य ज़मीनी कार्यकर्ताओं व शिक्षा से सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए विचार-विमर्श का एक मंच है। पत्रिका का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों के अनुभवों व आवाज़ को जगह देकर शिक्षा के विमर्श को गहन व यथार्थपरक बनाना है।

अनुक्रम

सम्पादकीय

पाठशाला भीतर बाहर का पहला अंक गए साल बारिश के ऐसे ही मौसम में छपकर आया था और ज्ञान परम्परा के साथ कदमताल का यह सिलसिला जारी है। शोध पत्रिका के प्रस्तुत अंक को अन्तिम रूप देने के इस मसरूफ़ वक्त में बीच-बीच में बारिश ने कहीं मौसम को खुशनुमा बनाया है तो कहीं बाढ़ और तबाही का सिलसिला पैदा किया। इस सबके बीच नए संकल्पों के साथ पत्रिका का यह तीसरा अंक आपके सामने है। यह सुखद है कि पिछले अंकों की तरह इसमें भी बहुत सारे नए लेखकों ने आमद दी है, जोकि इस प्रकाशन का एक बड़ा मक़सद है।

परिप्रेक्ष्य स्तम्भ में कुल पाँच लेख हैं। सी एन सुब्रह्मण्यम का लिखा पहला लेख ***आचार्य से गुरु, उस्ताद से पीर*** भारतीय चित्र-शिल्प कला में शिक्षण से सम्बन्धित चित्रों की ख़ोज यात्रा का दूसरा पड़ाव है। पाठशाला के दूसरे अंक में ***शिक्षण : कुछ छवियाँ*** नाम से प्रकाशित पहला लेख इसकी शुरुआत थी। शिल्प पटलों व तस्वीरों के विश्लेषण पर आधारित ये खोजपरक लेख स्कूल की छवियों, शिक्षण के तरीकों, छात्र-शिक्षक के रिश्तों व इन सब से जुड़ी धारणाओं पर केन्द्रित है। लेख पढ़ते-पढ़ते इन शिल्प पटलों, चित्रों को देखने का एक नज़रिया भी विकसित होने लगता है और यह भी महसूस होता है कि कला की सराहना, विभिन्न संस्कृतियों का संगम आदि सदियों से होता रहा है। दूसरे क्रम में शचीन्द्र आर्य का लेख ***ग्रामीण परिवेश में अध्यापक की निर्मिति*** एक निजी विद्यालय के लम्बे समय तक अवलोकन और उसमें कार्यरत शिक्षकों के साथ अंतःक्रिया पर आधारित है। उनका विश्लेषण दर्शाता है कि विद्यालय, उसका ढाँचा और रोज़मर्रा की परिस्थितियाँ एक वांछित अध्यापक बनने में सक्रिय भूमिका निभाती हैं। शचीन्द्र विद्यालय, शिक्षक और विद्यार्थी के सम्बन्धों को टटोलते हुए मौजूद स्थितियों में शिक्षक की रचना पर प्रश्न उठाते हैं।

स्तम्भ के तीसरे लेख ***हमारे हेडमास्टर साहब*** में मणीश ठाकुर अपने स्कूल और हेडमास्टर का ज़िक्र करते हुए, स्कूल के संस्थागत पहलुओं को समझने की कोशिश करते हैं। यह स्कूल बिहार राज्य के एक गाँव का है और समय है 1970 का उत्तरार्ध। अपने हेडमास्टर साहब के सामाजिक और पेशेवराना व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए मणीश, स्कूल और समाज के रिश्ते की पड़ताल करते हैं। लेख एक शिक्षक, स्कूल और समाज की अंतःक्रिया का द्वंद्व प्रस्तुत करता है और कई सवाल भी रखता है। वेनु तनेजा और अंकित मौर्य का लेख ***टीचर और टीचिंग प्रोफेशन*** शिक्षक को पेशेवर मानने या ना मानने के प्रश्न की पड़ताल करता है। कुछ शिक्षाविदों द्वारा प्रस्तावित पेशेवर कहलाने के मानदण्डों को आधार बनाते हुए लेख कहता है कि यदि पेशेवर होने के लिए उस ख़ास पेशे के तहत सौंपे कार्यों के अनुरूप दक्षता ज़रूरी है तो साथ ही यह भी ज़रूरी है कि शिक्षक को निर्णय लेने की स्वायत्तता हो और कार्यों के लिए परिस्थितियाँ भी संतोषजनक हों। ***इसी रटन्त विद्या का नाम शिक्षा रख छोड़ा है!*** शीर्षक लेख में निशा नाग मौजूदा शिक्षा प्रणाली की चर्चा करती हैं और प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी "बड़े भाई साहब" सहित विभिन्न साहित्यिक सन्दर्भ देते हुए यह दर्शाने की कोशिश करती हैं कि शिक्षा में हम आज भी वहीं है जहाँ सालों पहले थे। और फ़िर वे यह आशंका व्यक्त करती हैं कि क्या प्रस्तावित नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति इक्कीसवीं सदी की ज़रूरतों के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप को परिवर्तित करने की दिशा में कुछ हासिल कर पाएगी?

विमर्श स्तम्भ में भी पाँच लेख शामिल हैं। जिसमें शिक्षा के उन विषयों को शामिल किया गया है जो सामयिक हैं व गहन विमर्श की माँग करते हैं। रश्मि पालीवाल और आकाँक्षा त्यागी का लेख ***आदिवासी अंचल में किशोर जीवन के मोड़ और स्कूल*** मध्यप्रदेश के कुछ ऐसे आदिवासी युवाओं के साथ किए गए साक्षात्कारों पर आधारित है जो स्कूल छोड़ चुके हैं। लेखिकाद्वय इन युवाओं के साथ

हुई बातचीत, शिक्षा का अधिकार- 2009 में किए गए प्रावधानों तथा इन्हें हासिल करने की दिशा में उठाए गए कदमों की चर्चा करती हैं। और अभी तक की उपलब्धियों के आधार पर यह सवाल उठाती हैं कि आदिवासी बच्चे स्कूल न छोड़ें इस दिशा में क्या हम कोई संवेदनशील कदम उठा भी पाएँगे? लेख में इस ओर भी इशारा है कि बनी नीतियों का स्वरूप एक स्थिर, सक्षम व मध्यमवर्गीय परिवार से आ रहे बच्चों के अनुसार ढला हुआ प्रतीत होता है किन्तु यह समझ आदिवासी अंचल की वास्तविकताओं से बहुत दूर है।

एक समतामूलक और न्याय आधारित समाज बनाने में शिक्षा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, शिक्षा यह करने में सक्षम हो पाए इसके लिए कई प्रयास होते हैं पर साथ ही हर दौर में ऐसे व्यक्ति / समूह भी रहें हैं जिनका सुनियोजित प्रयास होता है कि शिक्षा कुछ विशेष लोगों का ही विशेषाधिकार बना रहे। शिवानी नाग का लेख ***तालीम की लड़ाई*** आज के दौर में शिक्षा में, खासकर उच्च शिक्षा में हो रहे सामाजिक बहिष्करण के ऐसे सुनियोजित प्रयासों को समझने में मदद करता है। ये प्रयास उनके अनुसार इस ढाँचे की स्वाभाविक प्रकृति है व सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों को पूर्वाग्रहों और उनके ख़िलाफ़ पक्षपात संचालित रवैयों के कारण अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है। लेख ज़ोर देता है कि इस बहिष्करण को रोकने के लिए, जीत के मजबूत इरादे के साथ संघर्ष होना ही चाहिए।

शिक्षा का अधिकार 2009 किसी भी बच्चे को शारीरिक दण्ड व मानसिक प्रताड़ना दिए जाने का निषेध करता है लेकिन इस बात को स्कूलों में अभी भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया है। कंचन शर्मा का लेख ***बच्चों पर शारीरिक दण्ड : ऐतिहासिक व दार्शनिक पड़ताल,*** विभिन्न सन्दर्भों का हवाला देते हुए चर्चा करता है कि सीखने-सिखाने के दौरान दण्ड देने की प्रथा की जड़ें हमारी संस्कृति में गहरे पैठी हुई हैं और यह ज़रूरी है कि इन जड़ों को पहचान कर उखाड़ दिया जाए, क्योंकि इनको उखाड़े बिना, सीखने-सिखाने का खुशनुमा माहौल नहीं बन सकता है।

संजीव राय के लेख ***हिंसा के शिकार : छात्र, शिक्षक और स्कूल*** में मूल मुद्दा हिंसा का है। वे कहते हैं कि वर्तमान में सांस्कृतिक-सामाजिक और राजनीतिक कारणों से छात्रों, शिक्षकों और स्कूलों पर होने वाली हिंसा पूरी दुनिया के लिए एक बड़ी समस्या बनकर उभरी है।

दिल्ली के सरकारी विद्यालयों में हुए बदलावों की चर्चा हर जगह है। विद्यालयों में उत्कृष्ट आधारभूत सुविधाएँ तो प्रदान की गई हैं साथ ही साथ कक्षा-कक्ष प्रक्रियाओं को बेहतर करने के लिए शिक्षकों की बेहतर तैयारी के लिए भी ढाँचे बनाए गए हैं। निमरत खंदपुर का लेख ***दिल्ली में शिक्षक समर्थन कोशिशों की पड़ताल*** के अन्तर्गत दिल्ली में किए गए इस तरह के प्रयास के एक पहलू 'शिक्षक समर्थन के ढाँचे' पर फोकस करता है और इसके तहत शिक्षक की तैयारी पर जिस तरह के काम हुए है उनका ब्यौरा प्रस्तुत करता है।

शिक्षणशास्त्र स्तम्भ में दो लेख शामिल हैं। अर्चना का लेख ***विज्ञान की प्रयोगों से रिश्तेदारी क्यों?*** विज्ञान विषय में काम करने के अपने कुछ महीनों के अलग-अलग अनुभवों को समेकित करता है। इन अनुभवों में न सिर्फ बच्चों के साथ हुई अन्तःक्रिया को शामिल किया है बल्कि शिक्षकों के साथ कार्य करने के विभिन्न मंचों जैसे– संकुल बैठक, टीएलसी की परिचर्चाओं, कार्यशालाओं, आदि के दौरान हुई बातचीत को भी शामिल किया गया है। लेख में मुख्यतौर पर लेखिका कहती है कि कक्षा में बच्चों का स्वयं प्रयोग करना आवश्यक है और इसको सम्भव बनाने के लिए कोई बहुत बड़ी प्रयोगशाला अथवा बहुत-सी सामग्री की आवश्यकता नहीं है।

इसी स्तम्भ में शामिल अम्बिका नाग का लेख ***विज्ञान शिक्षक की चिन्ताएँ*** विज्ञान शिक्षण और

बच्चों की विज्ञान में रूचि विकसित करने पर केन्द्रित है। वे कहती हैं कि स्कूली शिक्षा का लक्ष्य सीखने में रुचि पैदा करना है और रुचि ही प्रेरणा का स्रोत है। कक्षा में विज्ञान पढ़ाने के खुद के अनुभवों का विश्लेषण करते हुए लेखिका बताती है कि बच्चों की विज्ञान में रुचि विकसित करने के लिए क्या-क्या किया जा सकता है। वे यह भी बताती हैं कि उन्होंने पाया कि पुस्तक में कई ऐसे पहलू हैं जो सीखने में बाधा बन सकते हैं, इस विषय में वे खासतौर पर अवधारणाओं के अनुवाद के लिए चयनित शब्दों पर भी प्रश्न उठाती हैं।

कक्षा अनुभव स्तम्भ में शामिल ***लक्ष्मी की पेंसिल*** लेख में लेखिका उषा शर्मा एक सरकारी स्कूल की कक्षा में बच्चों के साथ काम करने के दौरान हुए अहसासों, उपजे विचारों व प्रश्नों को प्रस्तुत करती हैं। लेखिका ने तीन अलग-अलग कक्षाओं के बच्चों के अवलोकन, उनके साथ हुई बातचीत के आधार पर अध्यापक और बच्चे के सम्बन्ध के बारे में बहुत से महत्त्वपूर्ण बिन्दु सामने रखे हैं।

साक्षात्कार स्तम्भ में पहला साक्षात्कार डॉ हीथर बिग्ले का है। वे अमरीका के बेसिस फ़्लेगस्टॉफ़ *(BASIS Flagstaff)* स्कूल में अध्यापिका हैं। यह साक्षात्कार हमें न केवल एक स्कूल अध्यापक के नज़रिए से अमरीका की स्कूल व्यवस्था को समझने का आधार प्रदान करता है, बल्कि हमारा ध्यान दुनिया भर के अलग-अलग देशों में हो रहे शैक्षिक सुधारों की वैश्विक प्रकृति की ओर भी ले जाता है, जिनकी वकालत आजकल ज़ोरशोर से की जा रही है। डॉ हीथर बिग्ले का यह साक्षात्कार मनीष जैन ने लिया है। दूसरा साक्षात्कार असम के तेजपुर जिले में स्थित एक स्कूल के प्रधान अध्यापक तबीबुल्ला खान का है। वे स्कूल शुरू करने और उसको बनाए रखने के बहुत-से अनुभवों को साझा करते हैं। उनसे यह बातचीत बेदांगो कोटोकी और प्रियांकू हजारिका ने की है।

पुस्तक चर्चा के अन्तर्गत दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का विवरण है। पल्लवी चतुर्वेदी ने ***शिक्षा से जीवन के टूटे पुलों को जोड़ती किताब*** शीर्षक से जॉन ड्युई की पुस्तक ''द स्कूल एण्ड सोसाइटी'' पर चर्चा की है और अमित कोहली ने ***मैकॉले का भूत और स्कूली शिक्षा का भविष्य*** शीर्षक से पुस्तक ''मैकॉले, एल्फिन्स्टन और भारतीय शिक्षा'' की समीक्षा की है।

शोध अध्ययन के तहत दो शोध लेख हैं। स्कूली शिक्षा के बाज़ार-आधारित नज़रिए में स्कूल चयन अथवा स्कूल च्वॉइस का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहला शोध लेख ***अल्प जानकारी के माहौल में स्कूल चयन*** इसी मुद्दे पर आधारित है और यह अभिभावकों द्वारा स्कूल चयन के सन्दर्भ में अनेक ज़रूरी मसलों और बहसों को उभारता है। अध्ययन सुझाता है कि अभिभावकों द्वारा स्कूल चयन को लेकर और बारीक़ समझ विकसित करने की ज़रूरत है। यह अध्ययन अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की शोध टीम ने किया है।

नीरज राणा का शोध लेख ***विद्यालयी ढाँचों में जनजातीय समुदाय की संस्कृति व सभ्यता के लिए जगह*** छत्तीसगढ़ के जांजगीर, चांपा जिले में बसे सबरिया समुदाय के बच्चों, स्कूल और उनकी शिक्षा पर केन्द्रित है। यह एक शुरुआती शोध है, लेखक अपने अवलोकन व समाज के व्यक्तियों के साथ हुई अंतःक्रिया के आधार पर इस समुदाय की पृष्ठभूमि, आर्थिक, सामाजिक स्थिति, समुदाय के प्रति मौजूद मान्यताओं आदि पर उनकी राय प्रस्तुत करते हैं। फिर वे इन पहलुओं के सन्दर्भ में समुदाय के बच्चों के लिए स्कूल, बच्चों की शिक्षा, उनके सीखने की क्षमता आदि पर अपने अवलोकन व व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकाशन की ***संवाद*** शृंखला की तीसरी परिचर्चा ***रटने की ओर जाती शिक्षा और सीखना-सिखाना*** पर आयोजित की गई। इसमें भाग लेने वाले शिक्षकों ने बहुत-सी अनुभवजन्य महत्त्वपूर्ण

बातें सामने रखीं। सभी का मानना था कि वर्तमान शिक्षा रटने को बढ़ावा देती है जबकि सीखना-सिखाना समझ पर ही आधारित होना चाहिए। उनका कहना था कि कक्षा में यदि हम समझने पर आधारित प्रक्रिया अपना लें तो भी कोई खास फ़र्क नहीं होगा क्योंकि मौजूदा शिक्षा प्रणाली में तो रटने पर ही ज़ोर है और समाज के ढाँचे की भी बच्चों से कुछ ऐसी ही अपेक्षा है कि जानकारी ग्रहण करने में बच्चे पीछे न रहें।

इस प्रकाशन के लिए अपनी प्रकृति और धारा के अनुरूप प्राप्त होने वाले लेखों का सिलसिला बढ़ता जा रहा है। जिसमें नए लेखकों की भागीदारी उत्साहवर्धक है। पिछले दो अंकों की तरह इस अंक में प्रकाशित लेखों की विषयगत विविधता व नवीनता का स्वरूप तथा शोध, विश्लेषण और व्याख्यापरक प्रकृति आश्वस्त करती है कि आगामी अंकों के लिए भी हमें शिक्षा के नूतन मसलों पर केन्द्रित गहन विचारशील आलेख प्राप्त होते रहेंगे।

31 मई को जारी किए गए राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी) 2019 के प्रारूप के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सामयिक चर्चा के अन्तर्गत विमर्श के प्रस्थान बिंदु के रूप में पृष्ठ 8 से 12 पर प्रस्तुत हैं। इस विचार-विनिमय में सभी पाठकों-लेखकों की भागीदारी अपेक्षित है।

हम अपने पाठकों व लेखकों को एक बार फिर याद दिलाना चाहते हैं कि इस प्रकाशन का एक अहम उद्देश्य ज़मीनी स्तर पर शिक्षा से जुड़े ज़्यादा से ज़्यादा व्यक्तियों को विचार-विनिमय की ऐसी जगह उपलब्ध करना है, जहाँ वे अपने शैक्षिक प्रयासों और अनुभवों को विमर्श के लिए रख सकें और दूसरे व्यक्तियों के अनुभवों के आलोक में उनका विश्लेषण कर ज्ञान रचना की सार्थक प्रक्रिया से जुड़ सकें।

पत्रिका की सार्थकता इसी में है कि वह अपने मक़सद में कामयाब हो, इसके लिए हम अपने लेखकों व पाठकों से पुनः आग्रह करते हैं कि वे ***पाठशाला भीतर और बाहर*** में प्रकाशित होने वाली पठन सामग्री के बारे में अपनी समीक्षक राय और सुझावों से हमें अवगत कराते रहें।

सम्पादक मण्डल

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019

विमर्श के कुछ प्रस्थान बिन्दु

देश की आज़ादी के बाद के शिक्षा इतिहास में पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति का बृहद् दस्तावेज़ 1968 में प्रस्तुत किया गया था। तदोपरान्त राष्ट्रीय शिक्षा नीति का दूसरा मसौदा 1986 में प्रस्तुत किया गया। शिक्षा नीति 1986 अपने पुनरीक्षित स्वरूप में 'क्रियान्वयन कार्यक्रम' के साथ 1992 में फिर से प्रस्तावित की गई। अब लगभग 35 वर्ष बाद 31 मई, 2019 को शिक्षा नीति का नया दस्तावेज़ 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019' का प्रारूप विचारार्थ प्रस्तुत किया गया है।

शिक्षा नीति 2019 के निर्माण की प्रक्रिया, मई 2015 में शुरू हुई। जब सभी राज्यों में, ज़मीनी स्तर पर काम करने वाले संस्थानों जैसे कि जिला स्तर पर, ब्लॉक स्तर पर, पंचायत और संकुल स्तर पर इस सन्दर्भ में परिचर्चा की शुरुआत की गई। इस परिचर्चा में आए विचारों को मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा दर्ज़ किया गया। अक्तूबर 2015 में, स्वर्गीय टी एस आर सुब्रमनियन, (भूतपूर्व कैबिनेट सचिव, भारत सरकार) की अध्यक्षता में शिक्षा नीति की रिपोर्ट पर काम शुरू हुआ, रिपोर्ट भी बनी लेकिन विभिन्न कारणों के चलते यह जारी नहीं हो सकी। बाद में इसे राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान (न्यूपा) की वेब साइट में अपलोड किया गया।

जून 2016 में, मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने 'सम इनपुट्स फॉर ड्राफ़्ट एडुकेशन पॉलिसी 2016' नाम का दस्तावेज़ अपनी वेबसाइट पर उपलब्ध कराया और साथ ही यह गुज़ारिश भी की कि संस्थान, व्यक्ति सभी इस नीति पर अपना फीडबैक, टिप्पणियाँ देने के लिए स्वतंत्र हैं। हालाँकि इस दस्तावेज़ पर भी काम पूरा नहीं हुआ और यह अपने अन्तिम रूप में नहीं आ सका।

जून 2017 में, मंत्रालय द्वारा पुनः शिक्षा नीति पर काम की शुरुआत हुई। डॉ के. कस्तूरी रंगन (प्रबुद्ध वैज्ञानिक एवं पूर्व इसरो अध्यक्ष) की अध्यक्षता में नौ व्यक्तियों की एक कमेटी गठित की गई। कमेटी को लगभग छह महीने के समय में राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मसौदा तैयार करना था। ऐसा मसौदा जो 'शिक्षा के क्षेत्र में गतिशील और तेजी से बदलते हुए स्वरूप के सन्दर्भ में कम से कम दो दशकों के लिए प्रासंगिक और उपयुक्त हो'।

जैसा कि नीति की प्रस्तावना में कहा गया है, शिक्षा नीति का मसौदा तैयार करने का कार्य काफी व्यापक था– समय के लिहाज से भी और इसमें जुड़े संस्थानों, संगठनों व व्यक्तियों के लिहाज से भी। कमेटी ने न केवल पूर्व में विकसित विभिन्न दस्तावेजों जैसे– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968, 1986, संशोधित नीति 1992, टी एस आर सुब्रमनियन कमेटी रिपोर्ट व देश की शिक्षा से सम्बन्धित अन्य दस्तावेज़ो को सन्दर्भित किया बल्कि व्यक्तियों, संस्थानों आदि की टिप्पणियों को भी ध्यान में रखते हुए इस दस्तावेज़ को अन्तिम रूप दिया। नौ सदस्यों की इस टीम के साथ चर्चा-परिचर्चा में कुल 74 संस्थान (मंत्रालय, संगठन, संस्थाएँ और संघ आदि) और देश-विदेश के विभिन्न शैक्षिक संस्थानों में कार्यरत 217 प्रबुद्ध व्यक्ति जुड़े थे। इसी के साथ जिन नागरिकों ने नीति में अपनी दिलचस्पी ज़ाहिर की व व्यक्तिगत तौर

पर अपनी टिप्पणियाँ व प्रतिक्रियाएँ दीं उनके विचारों को भी जगह दी गई।

नीति की प्रस्तावना में कहा गया है कि यह दस्तावेज़ लीक से हटकर है, इसको पढ़कर यह कथन पुख़्ता होता दिखाई देता है। नीतिगत दस्तावेजों में यह शायद ऐसा पहला दस्तावेज़ है जो अँग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में उपलब्ध कराया गया है। दस्तावेज़ की भाषा सहज, सुपाठ्य है। कई विचारों को पढ़ते वक्त यह भी महसूस होता है कि दस्तावेज़ में विचारों को उनके निहितार्थ सहित सम्पूर्णता में रखने की कोशिश की गई है। उदाहरण के लिये प्रारूप दस्तावेज़ कहता है कि स्कूल में लड़कियाँ सुरक्षित हों पर साथ ही यह भी बताता है कि सुरक्षा के माने क्या हैं और इस सन्दर्भ में स्कूल की, समाज की और अन्य संस्थाओं की क्या ज़िम्मेदारी होगी? इसी तरह अन्य दस्तावेजों की तरह इसमें विद्यार्थियों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और ज़िम्मेदारी की बात भी कही गई है। लेकिन यह दस्तावेज़ इस व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अर्थ को भी साथ में रखता है, वह यह कि विद्यार्थी अपने आसपास के लोगों और समाज के दबाव में ना आएँ और वह करें जिसे लेकर वह आश्वस्त है और वास्तविक जुनूनी हैं।

दस्तावेज़ में चार भाग हैं– स्कूली शिक्षा, उच्च शिक्षा, अतिरिक्त प्रमुख फोकस क्षेत्र व शिक्षा में बदलाव। स्कूली शिक्षा को सम्बोधित करता पहला भाग सीखने की बुनियाद के रूप में 'प्रारम्भिक बाल्यावस्था में देखभाल और शिक्षा' अध्याय से शुरू है। नीति कहती है कि आरम्भिक वर्षों में जिसमें 0 से 3 और 3 से 8 वर्ष, दोनों वर्ग शामिल हैं, बच्चों की हर तरह से उत्कृष्ट देखभाल हो, यही बच्चे के एक सक्षम व्यक्ति के रूप में विकसित होने का एक बेहतरीन मौका है। विभिन्न अध्ययन भी यह सुझाते हैं कि आरम्भिक पोषण और शिक्षा बच्चे के जीवन भर के विकास को प्रभावित कर देते हैं। इसके साथ ही नीति यह भी रेखांकित करती है कि यदि शिक्षा में समता लानी है तब भी 'प्रारम्भिक बाल्यावस्था में देखभाल और शिक्षा' में निवेश जरूरी है। वंचित वर्ग के बच्चे स्कूल में आते ही पिछड़ने लगते हैं क्योंकि उनकी औपचारिक स्कूल के लिए कोई आवश्यक तैयारी ही नहीं हो पाती, न शारीरिक तौर पर और ना ही मनोसामाजिक तौर पर। नीति इस बात की अनुसंशा करती है कि इसमें दिए गए दिशा निर्देशों को ध्यान में रखते हुए एनसीईआरटी प्रारम्भिक बाल्यावस्था शिक्षा के लिए एक उत्कृष्ट पाठ्यक्रम और शैक्षिक ढाँचा तैयार करे। साथ ही यह भी अनुशंसा करती है कि प्रारम्भिक बाल्यावस्था की देखभाल और शिक्षा को आरटीई एक्ट के एक अभिन्न अंग के रूप में शामिल किया जाए। नीति आँगनवाड़ी, पूर्व प्राथमिक और प्राथमिक विद्यालयों के एक ही चारदीवारी में होने और बाल्यावस्था में देखभाल और शिक्षा के लिए अच्छे शिक्षकों के पेशेवर विकास का भी प्रस्ताव रखती है। हालाँकि यह नीति इसका कोई ढाँचा प्रस्तावित नहीं करती।

बहुत से अध्ययन दर्शाते हैं कि पाँचवी तक आते-आते भी बच्चे पढ़ने-लिखने और संख्या ज्ञान जैसे बुनियादी कौशल हासिल नहीं कर पाते। ये कौशल सीखने में आत्मनिर्भर बनने, लगातार सीखते रहने के लिए बहुत ही अहम हैं। नीति इन कौशलों की अहमियत तथा इनके विकसित न होने की वजह से बच्चों को सीखने में आने वाली कठिनाइयों को रेखांकित करती है और यह भी कहती है कि यदि इस दिशा में कुछ नहीं किया गया तो इससे देश को होने वाला नुकसान काफ़ी बड़ा होगा। स्कूल में बच्चों को इन बुनियादी कौशलों को हासिल करने पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न कारकों मसलन शिक्षकों की पदस्थापना, बच्चों के साथ काम करने की उनकी क्षमता, मातृभाषा की अहमियत, बच्चों के पोषण और स्थानीय समुदाय की ज़िम्मेदारी आदि पर भी नीति विस्तार से चर्चा प्रस्तुत करती है।

शिक्षा आज यांत्रिक और रटने पर आधारित है। चाहे सरकारी विद्यालय हो अथवा प्राइवेट, चाहे आरम्भिक शिक्षा हो अथवा उच्च शिक्षा

ज़ोर रटने पर है। इस अंक के लिए हाल ही में आयोजित संवाद में भाग लेने वाले सभी शिक्षकों का भी यही कहना था कि छात्र अवधारणाओं को समझें, यह निहायत ज़रूरी है लेकिन पाठ्यक्रम का अधिक होना, उसका नियत समय पर पूरा करना, परीक्षा प्रणाली, माध्यम की भाषा आदि कई कारक हैं जिनकी वजह से बच्चे विषयवस्तु को समझने की बजाय उसे रट लेने को तरज़ीह देते हैं।

शिक्षा नीति का यह प्रारूप स्कूली शिक्षा के लिए एक नए ढाँचे को बनाने का प्रस्ताव रखती है। एक ऐसा ढाँचा जिसमें विषयवस्तु का बोझ कम हो, जो तार्किक चिंतन, विश्लेषण, स्वयं खोजकर सीखने को बढ़ावा दे, और जिसमें सीखने की वर्तमान मे प्रचलित प्रक्रियाओं जैसे बिना सोचे समझे रटना, बार बार दोहराते हुए सीखना आदि ना हो बल्कि बच्चे यह सीखें कि सीखना कैसे है। नीति यह भी कहती है कि बच्चों की उम्र उनके स्तर और रुचि को देखते हुए सीखने के तौर तरीके विकसित करने की ज़रूरत है और साथ ही यह शुरुआती वर्षों में मातृभाषा में शिक्षा की भी पैरवी करती है। ड्राफ्ट नीति का प्रस्ताव है कि समग्र, अनुभवात्मक, चर्चा और विश्लेषण-आधारित शिक्षा के लिए स्थान प्रदान करने के लिए स्कूल पाठ्यक्रम को कुछ आवश्यक अवधारणाओं तक कम किया जाए ताकि आवश्यक शिक्षा और महत्त्वपूर्ण सोच को बढ़ाया जाए। सभी विषयों पर समान जोर देने के साथ और, पाठ्यचर्या, सह-पाठयक्रम या पाठ्येतर क्षेत्रों में कोई कठिन अलगाव नहीं और व्यावसायिक और शैक्षणिक धाराओं को समान दर्जा देने के साथ, छात्र की पसंद को सक्षम करने के लिए पाठ्यक्रम लचीला होगा। नीति के अनुसार कोर पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें बनाना एनसीईआरटी की ही मूल ज़िम्मेदारी होगी। राज्य स्तर पर एससीईआरटी द्वारा पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की बात कही तो गई है लेकिन उसके पास पाठ्यपुस्तकों के सिर्फ स्थानीय हिस्से के निर्माण की ज़िम्मेदारी होगी। लेकिन साथ ही यह भी कहा गया है कि ये किताबें एनसीईआरटी द्वारा विकसित मूल सामग्री के आधार पर विकसित होंगी। दूसरे शब्दों में राज्य को अपनी पाठ्यपुस्तक विकसित करने की पूरी स्वायत्तता दिए जाने और उसके विकसित किए जाने की कोई मंशा नहीं होगी। हालाँकि अभी एनसीईआरटी द्वारा विकसित पुस्तकें अन्य पुस्तकों से बहुत बेहतर हैं किन्तु सभी राज्यों में ऐसी क्षमता विकसित करना उनके संस्थानों की शैक्षणिक क्षमताओं के विकास का व स्कूली शिक्षा को बेहतर कर पाने की उनकी समझ के विकास के लिए अनिवार्य है। नीति में उनमें इस क्षमता के धीरे-धीरे विकास की बात शामिल किया जाना अच्छी बात होगी।

आकलन, फॉर्मेटिव मूल्यांकन, और मुख्य अवधारणाओं और कौशल के साथ-साथ उच्च क्रम क्षमता पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए सुधार किया जाएगा। ड्राफ्ट नीति छात्र तनाव को कम करने की आवश्यकता पर जोर देती है, और साथ ही बोर्ड परीक्षाओं में विशिष्ट परिवर्तनों की सिफ़ारिश भी करती है।

उच्च शिक्षा के सन्दर्भ में नीति का प्रारूप सुझाता है कि उच्च शिक्षा केवल नौकरियों के लिए तैयार करने वाली न हो बल्कि ऐसी हो जो विद्यार्थियों में समालोचनात्मक सोच, संवाद, समस्या निवारण, रचनात्मकता और बहुअनुशासनात्मक क्षमता का विकास करे। ये ही वे क्षमताएँ हैं जो इंसान को रोबोट से अलग करती हैं।

नीति प्रारूप उच्च शिक्षा के मौजूदा स्वरूप की कमियों को पहचानते हुए उच्च शिक्षा तंत्र के पुनर्गठन का सुझाव देता है। यह प्रारूप प्रस्तावित करता है कि उच्च शिक्षा, अभी खण्डों में बँटी हुई है उसे समेकित करना होगा, साथ ही इन संस्थानों को बहुअनुशासनात्मक भी बनाना होगा यानी विज्ञान, कला, मानविकी और पेशेवर क्षेत्रों के साथ ठोस काम सभी एक ही संस्थान में किए जाएँ। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत, कई संस्थान ऐसे हैं जो एक खास विषय में ही शिक्षा उपलब्ध कराते हैं। ये एकल विषयक संस्थान

पेशेवर व्यक्ति तैयार करते हैं लेकिन इसमें व्यक्तियों की व्यक्तिगत रुचि, रचनात्मकता व प्रतिभा विकसित नहीं हो पाती और न ही ऐसे व्यक्ति विकसित हो पाते हैं जो विविध विषयों का ज्ञान रखने वाले हों। नीति भिन्न-भिन्न लक्ष्य और कार्य के फोकस के मद्देनजर तीन प्रकार के उच्च शिक्षण संस्थानों का प्रस्ताव रखती है : पहला- शोध विश्वविद्यालय जो अनुसंधान और शिक्षण दोनों पर समान रूप से अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे, दूसरा- शिक्षण विश्वविद्यालय जिनमें मूल रूप से शिक्षण पर फोकस होगा तीसरा- कॉलेज जो कि ऑटोनोमस संस्थान होंगे। लेकिन ये बिलकुल अलग-अलग नहीं होंगे बल्कि छात्रों को अपने कार्यों और लक्ष्यों के अनुरूप एक प्रकार के संस्थान से दूसरे में जाने की स्वायत्तता व स्वतंत्रता होगी। यह प्रारूप प्रस्तावित करता है कि सभी विषयों और क्षेत्रों में स्नातक शिक्षा का आधार एक ‘उदार शिक्षा दृष्टिकोण’ होगा, जो विद्यार्थियों के समग्र विकास के लिए बुनियाद का काम करे और इसमें चुने गए विषयों की विशेषज्ञता के लिए भी काम करें।

मसौदा नीति अनुसंधान को उत्प्रेरित करने और समर्थन करने के लिए संरचनाओं और प्रक्रियाओं दोनों के माध्यम से अनुसंधान पर नए सिरे से ध्यान केन्द्रित करती है। इसके लिए, भारत सरकार के एक स्वायत्त निकाय के रूप में ‘नेशनल रिसर्च फाउण्डेशन’ संसद के एक अधिनियम के माध्यम से स्थापित किया जाएगा। फाउण्डेशन के काम में विज्ञान, प्रौद्योगिकी, सामाजिक विज्ञान और मानविकी के व्यापक क्षेत्रों में फंडिंग, अनुसंधान क्षमता का निर्माण और उत्कृष्ट शोध को मान्यता देना शामिल होगा। हालाँकि इस फाउण्डेशन के सदस्य कौन होंगे? इनका चयन कैसे होगा और कौन करेगा, उस चयन के आधार क्या होंगे इन सब पर गम्भीर मनन की आवश्यकता है। नीति के अनुसार इस संकाय के प्रमुख प्रधानमंत्री होंगे। लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसा क्यों है? क्या प्रधानमंत्री के पास वह नज़रिया और इतना समय होगा कि वे शोध को दिशा दे पाएँ? यह समिति पूरे देश की शोध ज़रुरतों का अन्दाज़ कैसे लगाएगी?

इसके अलावा ड्राफ्ट नीति कई अन्य महत्त्वपूर्ण मसलों पर भी विचार करती है व उनको आज के सन्दर्भ में प्रस्तुत करती है। इसमें शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, और अतिरिक्त प्रमुख फोकस क्षेत्रों में भारतीय भाषाओं को बढ़ावा देना शामिल है। भाषा के मसले पर कई महत्त्वपूर्ण सुझाव व कई बुनियादी मुद्दे रखे गए हैं जो शिक्षा में भाषा के प्रति नीति की मान्यताओं को स्पष्टता से व्यक्त करते हैं और आगे का रास्ता हमारे सामने रखते हैं।

शिक्षक-शिक्षा के सन्दर्भ में नीति का प्रारूप प्रस्तावित करता है कि सभी विश्वविद्यालय शिक्षक-शिक्षा का 4 वर्षीय कार्यक्रम प्रदान करेंगे। यानी सभी विश्वविद्यालयों में शिक्षक-शिक्षा के विभाग बनें और स्कूल/ स्कूल कॉम्प्लेक्स व उच्च शिक्षण संस्थानों में सम्पर्क बनें। नीति प्रारूप के अनुसार अब से शिक्षक-शिक्षा कार्यक्रम केवल उच्च शिक्षा के बहुविषयक संस्थानों द्वारा ही उपलब्ध कराए जाएँगे।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019, देश की शिक्षा को सुदृढ़ करने, भविष्य के वर्षों के लिए देश को तैयार करने के लिए प्रस्तावित है। नीति में प्रस्तावित कई विचार उल्लेखनीय हैं व सही दिशा में जाते प्रतीत होते हैं। पर कई जगह पर नीति में इन लीक से हटकर विचारों को आगे ले जाने का कोई सशक्त रास्ता प्रस्तुत नहीं किया गया है। कुल मिलाकर प्रश्न यह है कि क्या इसमें दिए गए विचारों को हम ज़मीनी स्तर तक ले जा पाएँगे? उन्हें अमलीज़ामा कैसे पहनाया जाएगा? यह प्रश्न तो फिर भी है ही।

जैसा कि ऊपर कहा गया है यह नीति चार भागों में विभाजित है, लेकिन हमने यहाँ शुरुआती दो भागों स्कूली शिक्षा और उच्च शिक्षा के सन्दर्भ में प्रस्तावित कुछ बिन्दुओं को विचारार्थ रखा है। नीति के इस प्रारूप पर विभिन्न मंचों के जरिए

चर्चा अभी जारी है। यह अभी भी खुली चर्चा के लिए mygov.in पर टिप्पणियों व सुझावों के लिए उपलब्ध है। हमारी अपेक्षा है कि **पाठशाला भीतर और बाहर** के वर्तमान और भावी लेखक व पाठक अपने अनुभव के आधार पर नीति के इस प्रारूप का विश्लेषण करें साथ ही बदलाव के लिए, इसके कार्यान्वयन के लिए यदि कुछ सुझाना चाहते हैं तो वह भी सुझाएँ। आप चर्चा और विश्लेषण के लिए कोई भी विशिष्ट खण्ड चुन सकते हैं।

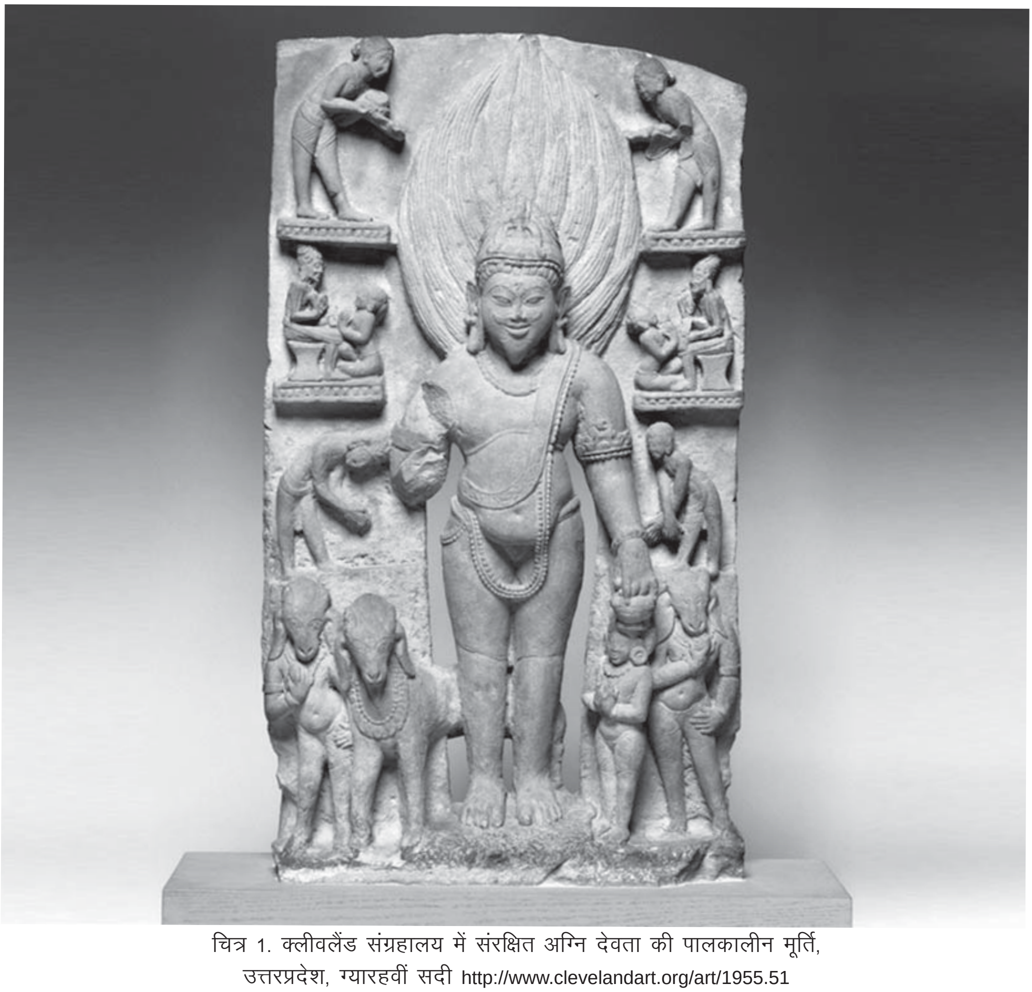
गुरबचन सिंह
रजनी द्विवेदी

आचार्य से गुरु, उस्ताद से पीर

भारत में पूर्व-आधुनिकता और शिक्षण का बदलता स्वरूप

सी एन सुब्रह्मण्यम

अजन्ता के हारिति शिल्प पटल के बाद हमें शिक्षण के चित्रण कुछ शताब्दी तक विरले ही मिलते हैं। उत्तरप्रदेश से अग्नि देवता की पालकालीन (लगभग ग्यारहवीं सदी) मूर्ति है, जो वर्तमान में क्लीवलैंड संग्रहालय में सुरक्षित है (चित्र 1)। अग्नि देवता के दोनों ओर ब्रह्मचारियों का अंकन है। सबसे ऊपर वे आग में कुछ आहुति दे रहे हैं। बीच में दोनों ओर वे अपने शिक्षक के सामने बहुत ही विनम्रता, विनय, उत्सुकता और श्रद्धा से उनकी बातें सुन रहे हैं।



चित्र 1. क्लीवलैंड संग्रहालय में संरक्षित अग्नि देवता की पालकालीन मूर्ति, उत्तरप्रदेश, ग्यारहवीं सदी http://www.clevelandart.org/art/1955.51



चित्र 2. चित्र 1 का डीटेल (क)



चित्र 3. चित्र 1 का डीटेल (ख)

शिक्षक एक ऊँचे आसन पर बैठे हैं और सम्भवतः उनके हाथ में ताड़पत्र की पुस्तक है, जिसकी व्याख्या वे कर रहे हैं। शिक्षक बूढ़े और दुबले-पतले हैं जबकि दोनों ब्रह्मचारी हृष्ट-पुष्ट हैं। (चित्र 2,3)

देखने वालों को छात्रों का विनम्र भाव ही तुरन्त प्रभावित करता है। शिक्षक के चरणों में दुबककर, हाथ जोड़कर और उनके मुँह की ओर ताककर देख रहे हैं।

भारहुत, मथुरा और अजन्ता की छवियों से यह कुछ अलग है– वहाँ शिक्षक तोंद वाले थे, उनके सामने कई सारे शिष्य थे और इतनी विनम्रता किसी में नहीं थी। इस शिल्प में शिक्षक और छात्र की कल्पना कुछ बदलती नज़र आती है। शिल्पों की श्रृंखला में, मैं एक आख़िरी नमूना पेश करना चाहता हूँ जो इस कल्पना के अनुरूप ही है।

यह शिल्प उत्तरप्रदेश से काफ़ी दूर आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक की सीमा पर लेपाक्षी स्थित वीरभद्र स्वामी मन्दिर से है। यह विजयनगर साम्राज्य के काल का माना जाता है। लगभग 1530 ईसवी में विजयनगर साम्राज्य के दो उच्च अधिकारियों ने इस मन्दिर का निर्माण या पुनर्निर्माण कराया था। वैसे यह मन्दिर अपने चित्रों के लिए प्रसिद्ध है, मगर मुझे वहाँ काफ़ी रोचक शिल्प भी देखने को मिले। मन्दिर के अन्दरूनी दरवाज़े के दोनों ओर दो कहानियों को लेकर शिल्प पटलों की श्रृंखला है। इनमें से दाईं ओर पर जो श्रृंखला है, वह तमिलनाडु के शैव भक्तों में से एक की कहानी पर आधारित है। इसे तेरहवीं सदी में पेरिय पुराणम् नामक भक्तों की जीवनी पर आधारित ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया गया था। इस कहानी के नायक हैं शिरुतोण्डर– जो कि रोज़ शिव भक्तों को भोजन कराने के बाद ही खाते थे। उनका एक बेटा था जिसे उन्होंने तीन साल पूरे होने पर विचार और भाषा संवर्धन एवं कला प्रशिक्षण के लिए पाठशाला भेजा। यह कोई गुरुकुल नहीं था मगर एक ग्रामीण पाठशाला थी, जहाँ बच्चे रोज़ सुबह जाते थे और शाम को लौट आते थे। यदि किसी कारण किसी दिन बच्चे को पाठशाला से जल्दी घर लाना होता था, तो उनके पिताजी पाठशाला जाकर बच्चे को घर लाते थे। इस प्रसंग का चित्रण उस मन्दिर की दीवार पर मुझे देखने को



चित्र 4. लेपाक्षी मन्दिर की दीवार पर बना शिल्प पटल (छायांकन सी एन एस)

मिला जो काफ़ी दिलचस्प है। (चित्र 4)

एक मन्दिर जैसे ढाँचे में एक ऊँचे आसन पर शिक्षक बैठे हैं और छात्र उनके पाँव छूकर नमस्कार कर रहा है और वे उसे आशीर्वाद दे रहे हैं। दो अन्य छात्र भी दिख रहे हैं और वे भी बहुत ही विनम्र मुद्रा में हाथ जोड़कर खड़े हैं। एक तरफ पिताजी अपने बालक को घर ले जाने के लिए खड़े हैं। शायद यह वही बालक है जिसने शिक्षक को प्रणाम किया था। वह अब पिता के साथ घर जाने के लिए तैयार है। आगे के पटल में पिता को अपने कन्धे पर बच्चे को



चित्र 5. अपने बच्चे को घर ले जाते पिता (छायांकन सी एन एस)

बैठाकर ले जाते हुए दिखाया गया है। कुछ हद तक यह यूनानी पेडगॉग की याद दिलाता है। (चित्र 5)

चित्र 4 में शाला का जो विवरण है वह अनोखा है। शिक्षण न खुली जगह हो रहा है, न पेड़ के नीचे। एक भव्य मन्दिर में शाला लग रही है। मन्दिर के वास्तु को बहुत खूबसूरती के साथ चित्र के मूल तत्त्वों को उभारने में उपयोग किया गया है। मन्दिर का शिखर ठीक शिक्षक के सिर के ऊपर है, जिससे उनकी महिमा आसमान छू लेती है। दरअसल वास्तु शिक्षक का ही अनुकरण करता दिखता है, मन्दिर का शिखर अगर उनका सिर है तो मण्डप की छत उनके हाथ जैसी आगे बढ़ रही है। शिक्षक पढ़ा नहीं रहे हैं, बल्कि चरण छूने वाले छात्र को हाथ बढ़ाकर आशीर्वाद दे रहे हैं। यह मान्यता झलकती है कि शिक्षक के पास कोई अलौकिक शक्ति है जो छात्र का उद्धार कर सकती है। शिक्षक केवल कुछ सिखाने वाले आचार्य की जगह एक आध्यात्मिक गुरु बन गए हैं। दोनों ही (पाल और लेपाक्षी) शिल्पों में गुरु योग पट्ट बाँधे दिख रहे हैं, उनको योगी के रूप में भी दर्शाया गया है। पूर्व मध्यकाल और मध्यकाल में मठों व आध्यात्मिक गुरुओं का बड़ा बोलबाला था। उनके प्रभाव से अब शिक्षक और गुरु की भूमिकाओं में आपसी आरोपण या 'ओवरलैप'

बढ़ने लगा, ऐसा प्रतीत होता है। लगभग उसी समय यानी 1540 ईसवी में काग़ज़ पर बने एक चित्र को देखें। (चित्र 6) भागवत पुराण की एक पाण्डुलिपि में बने इस चित्र में कृष्ण और बलराम को सांदीपनि के पास शिक्षा ग्रहण करते रहे हैं। इनमें से दो एक-दूसरे के आमने-सामने बैठे हैं और एक सांदीपनि को पीठ दिखाए बैठा है– यानी वे दोनों अलग से स्वाध्याय कर रहे हैं। यह चित्र काफ़ी हद तक उस समय प्रचलित इस्लामी कला शैलियों से प्रभावित है। उनमें



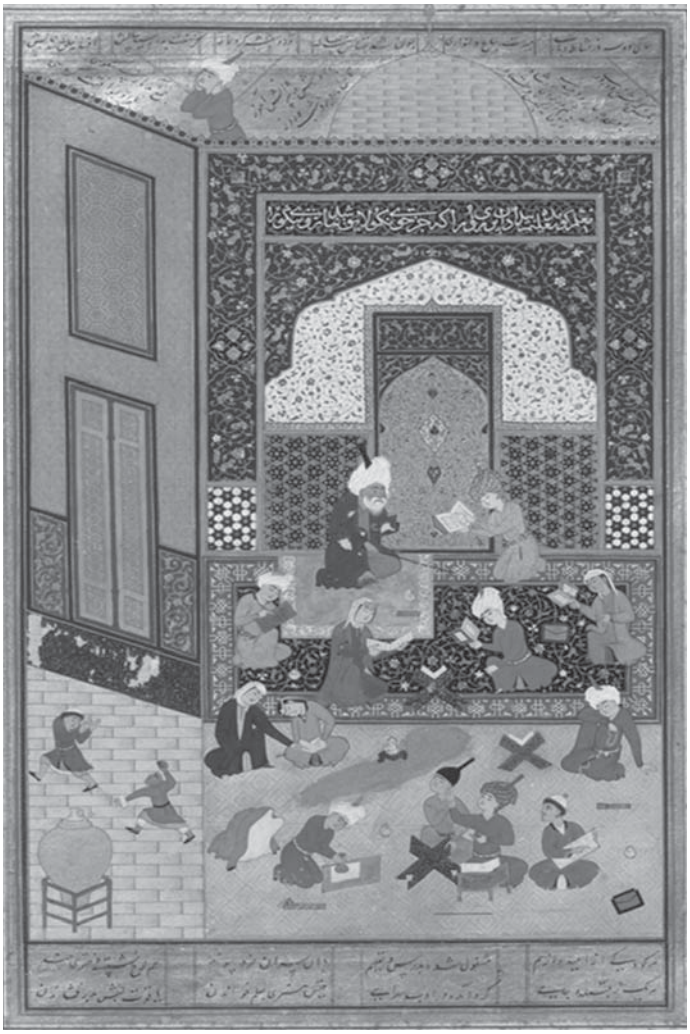
चित्र 6. सांदीपनि से कृष्ण और बलराम शिक्षा ले रहे हैं। (भागवत पुराण, लगभग 1540 ईस्वी)

हुए दिखाया गया है। सांदीपनि किसी आश्रम में नहीं, बल्कि एक सुन्दर तालाब के किनारे बने भव्य महल में शिक्षा दे रहे हैं।

भवन में इस्लामी वास्तुकला का प्रभाव स्पष्ट है। चटख लाल, नीले, काले, सफेद और सुनहरे रंगों से सारे पात्र उभर जाते हैं। जाहिर है कि इसमें शिक्षक का क़द उतना अधिक नहीं है जितना अन्य चित्रों में है– आख़िर शिष्य भी तो महानायक कृष्ण और बलदाऊ हैं। सांदीपनि के सामने चार छात्र हैं, सभी के हाथ में तख़्ती है जिसे वे अपनी जंघा पर रखकर पढ़ या लिख निहित भाव को समझने के लिए हमें उन चित्रों को भी देखना होगा।

पेरिय पुराणम् (जिससे प्रेरणा लेकर लेपाक्षी का शिल्प पटल बनाया गया था) में माना गया है कि गाँव में एक पाठशाला होगी, जहाँ तीन साल से ऊपर के बच्चे पढ़ने जाएँगे। यह भी विवरण मिलता है कि पाठशाला छूटने पर बच्चे दौड़कर घर आते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि चोल और बाद के काल में सुदूर दक्षिण भारत में ग्रामीण पाठशालाएँ आम हो गई थीं। हम देखते हैं कि इस तरह की पाठशालाएँ

मध्यकाल तक आते-आते भारत ही नहीं, बल्कि ईरान, इराक और मध्य एशिया के देशों में भी व्यापक हो गई थीं। इस दौर में बड़े साम्राज्य बनने लगे थे जिनमें लिपिक जैसे पढ़े-लिखे लोगों की ज़रूरत थी, जो गाँव-गाँव में उत्पादन और लगान का हिसाब-किताब रखें। शास्त्र आधारित पेशे (जैसे– स्थापत्य, चिकित्सा) भी बढ़ रहे थे जिनको अपनाने के लिए विशिष्ट ग्रन्थों के अध्ययन की ज़रूरत थी। और फिर इस्लाम जैसे धर्म जो लिपिबद्ध किताब पर आधारित थे, साक्षर होने पर ज़ोर देते थे। बालक और बालिका दोनों से अपेक्षा थी कि वे पढ़ें। इस कारण औपचारिक शिक्षा व्यवस्थाओं का विस्तार होने लगा था।



चित्र 7. 'लैला और मजनू मक़तब में।' हेरात में तैयार की गई निज़ामी की पुस्तक 'खम्सा' की प्रति से एक लघुचित्र, लगभग 1524-25 ईसवी। (मेट्रोपोलिटन कला संग्रहालय में संरक्षित)

ईरान जैसे इस्लामी देशों में हम मक़तबों की स्थापना देखते हैं जो स्थानीय मस्जिदों में होते थे और वहाँ के मौलवी साहब बच्चों को पढ़ाते थे। आमतौर पर वे ख़ुद ज़्यादा पढ़े-लिखे तो नहीं होते थे मगर कम-से-कम थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना और इबादत करना सिखा देते थे। दस साल की उम्र तक के बालक और बालिकाएँ एक साथ मक़तबों में पढ़ते थे और बाद में चाहें तो उच्च शिक्षा के लिए मदरसों में दाखिला लेते थे, जो कि बालकों और बालिकाओं के लिए अलग होता था।

मध्यकालीन चित्रकला के इतिहास में ईरानी उस्ताद कलीमुद्दीन बिहज़ाद (मृत्यु-1535 ईसवी) का नाम बहुत बड़ा है। उन्हें माइकल एन्जेलो की श्रेणी में रखा जाता है। बिहज़ाद मूलतः अफ़गानिस्तान के हेरात शहर के निवासी थे जो बाद में जाकर ईरान के तबरीज़ में बस गए। इस पूरे इलाके की लघु चित्रकला पर उनका गहरा प्रभाव रहा। और कहा जाता है कि उनके कई शागिर्द अकबर के आमन्त्रण पर भारत आए और उसकी चित्रशाला में नए रंग रूप ले आए। नीचे निज़ामी की प्रसिद्ध पुस्तक खम्सा की एक कहानी "लैला मजनू" पर आधारित चित्र प्रस्तुत है। यह सम्भवतः बिहजाद

या उनके शागिर्दों के हाथ का बना है। (चित्र 7)

एक लघुचित्र में कितनी बारीकी भरी जा सकती है, यह चित्र इसका एक प्रमाण है। भव्य मध्य एशियाई मस्जिद, जिसमें नीले चमकीले टाइलों पर नक़्क़ाशी की गई है, पूरे मक़तब की पृष्ठभूमि बनाती है। उसकी नक़्क़ाशी वाली दीवार और अद्‌भुत कालीन वहाँ बैठे लोगों को फ्रेमों में बाँधता है। बाहर आँगन में सफेद फर्शियों का ईंटनुमा जमाव भी एक अति जीवन्त प्रसंग की पृष्ठभूमि बना है। ऐसा भी लगता है कि इमारत को इतना शानदार दर्शाने के पीछे की मंशा उस भवन या मक़तब का निर्माण कराने वाले सुल्तान की उपस्थिति दर्ज करने की भी रही होगी। इस पूरे चित्र की अवधारणा में वास्तुकला एक स्थिर भूमि प्रदान करती है जिसमें रंगीन और जीवन्त घटनाएँ घट रही हैं और ख़ासकर लैला और मजनू दोनों एक-दूसरे से मिल रहे हैं और उनके बीच प्रेम पनपने लगता है।

चित्र में लड़के आठ हैं और लड़कियाँ केवल तीन। इनके अलावा मौलवी साहब और उनकी एक महिला सहायिका भी है जो एक बच्ची को पढ़ा रही है। जहाँ तक मैंने देखा है, यह शायद किसी महिला शिक्षिका की पहली तस्वीर है। बालिकाएँ और बालक साथ पढ़ रहे हैं और उनके बीच मेलमिलाप भी सामान्य है। यह केवल इस्लामी मक़तबों के चित्रों में ही देखने को मिलता है। बालिकाओं की भागीदारी के बावजूद यह कहना लाज़मी है कि इस चित्र में एक अभिजातीयता निहित है, चाहे वह इमारत की शान में हो या फिर बच्चों के पहनावे में।

शिक्षक की आकृति चित्र में प्रधानता लिए हुए है और एक विशेष चादर पर और बेहद सुन्दर मेहराब के नीचे बैठना उनके महत्त्व को बढ़ा देता है। और उनके हाथ में एक लम्बी सण्टी भी है। फिर भी पूरे कॉम्पोजिशन पर उनका दबदबा नहीं है, और माहौल काफ़ी अनौपचारिक है। सभी बच्चे अपने-अपने तरीक़े से स्वाध्याय कर रहे हैं और शिक्षक के पास केवल एक बच्चा उपस्थित है। शायद बारी-बारी से वे उनके पास जाते, पाठ सुनाते या लिखा हुआ दिखाते। एक बच्चा माला जापने के बहाने सो रहा है तो एक और छत पर खड़े होकर ताक रहा है। दो बच्चे आँगन में लड़ने में व्यस्त हैं और सामने बैठे तीन बच्चे उत्तेजित होकर लड़ाई को देख रहे हैं (यह हमें अजन्ता के शिल्प पटल की याद दिलाता है)। एक बच्चा तल्लीन होकर खुरदुरे काग़ज़ को लिखने लायक़ बनाने के लिए तैयार कर रहा है। कुछ बच्चों के पास किताब रखने के लिए स्टैण्ड हैं और इधर-उधर बस्ते, दवात, क़लमदानी आदि बिखरे पड़े हुए हैं।

लगभग सारे बच्चे पढ़ना-लिखना सीख रहे हैं– तख़्तियों और काग़ज़ों पर 'अलिफ़ बे ते...' जो लिखा हुआ है। इस कक्षा में जो शिक्षण विधि झलकती है, वह है स्वाध्याय। हर बच्चा अपना अध्ययन अकेले में या किसी एक और के साथ कर रहा है। भारहुत, मथुरा, अजन्ता आदि के शिल्पों में जो सामूहिक शिक्षण दिखता है, वह यहाँ नहीं है। हाँ, अजन्ता में बुद्ध के शिक्षण का चित्र कुछ इसी तरह का था। वैसे स्वाध्याय प्रथा ऐसी शालाओं में जरूरी हो जाती है जहाँ कम संख्या में मगर अलग-अलग उम्र और रुचि- क्षमता वाले बच्चों को एक या दो शिक्षक पढ़ाते हों। हर बच्चे को उसकी उम्र और गति के आधार पर शिक्षक काम दे देता है और कुछ जटिल बातें समझा देता है, फिर उसे अपने आप पढ़ने या अभ्यास करने देता है। वह बाद में जाकर याद किया गया पाठ सुनाए या फिर लिखा हुआ दिखाकर जँचवा ले।

इस दौर के ईरान और मध्य एशिया से हमें इस प्रसंग के अनेक चित्र मिलते हैं, जिनमें से कुछ इस चित्र से पहले के हैं और ज़्यादातर बाद के हैं। शायद यह काफ़ी लोकप्रिय प्रसंग रहा होगा। बिहज़ाद घराने के इस चित्र का मुग़ल मक़तब चित्रों पर काफ़ी प्रभाव था। अब हम उनमें से दो पर विचार करेंगे।

मुग़ल बादशाह अकबर जब लाहौर में रह रहा था तब उसके निर्देश पर यह प्रति बनाई गई थी। (चित्र 8) चित्रकार का नाम एक काग़ज़



चित्र 8. 'लैला और मजनू मक़तब में।' लाहौर में तैयार की गई अमीर खुसरो रचित 'खम्सा' की पुस्तक की प्रति से एक लघुचित्र। कलाकार धर्मदास, लगभग 1595-97 ईसवी (वाल्टर्स कला वीथि, बाल्टिमोर में संरक्षित)

की चिप्पी पर लिखकर चिपकाया गया है। उसका नाम था धरमदास। अमीर खुसरो की तरह धरमदास भी ठेठ हिन्दुस्तानी था। दोनों ने मिलकर अरबी मूल के लैला और मजनू की कहानी का हिन्दुस्तानीकरण कर दिया। घने पेड़ों-ख़ासकर उर्वरता के प्रतीक-केले के पौधों के बीच एक विशाल आँगन है जो चारों तरफ़ से दहलानों और कमरों से घिरा है। इस सुरक्षित इलाके में पहुँच एक दरवाज़े से है जिस पर एक पहरेदार बैठा हुआ है। आँगन के बीच में एक ऊँचे चबूतरे पर कालीन बिछा है और उस पर मौलवी साहब विराजमान हैं। उनका वज़न बढ़ाने के लिए उनको एक बड़ी तख़्ती (कुशन) दी गई है। उनकी सेवा में एक बालक खड़े होकर पंखा झल रहा है। मौलवी साहब के दोनों ओर लैला और मजनू दो अन्य लड़कियों के साथ बैठे हैं। आँगन के निचले हिस्से में कुछ लड़के क़तार में बैठे अपना लिखना-पढ़ना कर रहे हैं। लेकिन पाँच बच्चे आपस में लड़ने में मशग़ूल हैं। उनकी आवाज़ को अनसुना करते हुए चौकीदार दरवाज़े पर सो रहा है। उसके सामने भी कुछ आवाज़ें आ रही हैं। एक महिला एक अनमने बालक को मक़तब में भेजने का प्रयास कर रही है। शायद यह सब रोज़मर्रा आवाज़ें हैं जिनसे चौकीदार विचलित नहीं होता है। मौलवी साहब के हाथ में तो छड़ी नहीं है मगर चित्र में तीन छड़ियाँ ज़रूर दिख रही हैं— एक सोए हुए चौकीदार के हाथ में, एक बच्चे को ला रही महिला के हाथ में और एक पीछे आ रहे भिखारी के हाथ में। अब शिक्षण एक सुरक्षित प्राँगण में होने लगा है, जो शाला को बाहरी दुनिया से अलग करता है— चाहे हरे-भरे बगीचे हों या पहाड़ हो या फिर ग़रीबी और आवारगी।

अकबर ने रामायण और महाभारत का फ़ारसी में अनुवाद करवाया था और इन पुस्तकों को चित्रों से सजाने का काम कुछ ख़ास शाही कलाकारों को दिया था। इन बेहद ख़ूबसूरत चित्रों में हम रामायण और महाभारत की मुग़ल कल्पना देख सकते हैं। दोनों पुस्तकों की अकबर की निजी प्रतियाँ अभी भी जयपुर के सवाई मानसिंह संग्रहालय में संरक्षित हैं। यह पुस्तकें इतनी लोकप्रिय हुईं कि इनकी कई अन्य प्रतियाँ भी बनाई गई थीं। इनके चित्रकारों ने मूल पुस्तक का अनुकरण भी किया, मगर शायद वे उतने पहुँचे हुए नहीं थे जितने कि अकबर के चित्रकार थे। तो इन पुस्तकों की चित्र शैली को उप-शाही (सब-इम्पीरियल) शैली कहा जाता है।

यहाँ हम उप-शाही शैली में बने एक लघुचित्र को देखेंगे जिसे महाभारत की अनूदित पुस्तक के लिए बनाया गया था।[1] महाभारत के फ़ारसी अनुवाद को रज़्मनामा (युद्ध की कहानी) कहा

जाता है। यह चित्र इसलिए विशेष है क्योंकि यह अभिजात्य दायरों से बाहर निकलकर सामान्य लोगों की पाठशाला का एक वर्णन देता है। यह चित्र कुछ हद तक लघु चित्रकला में अब तक स्थापित मक़तब के तत्त्व को स्वीकार तो करता है मगर उन्हें एक अलग दुनिया में दिखाता है। (चित्र 9)

चित्र का प्रसंग भी कुछ दिलचस्प है। बाणों की शैया में लेटे भीष्म पितामह युधिष्ठिर को राजनीति के बारे में बता रहे हैं। इस लम्बे प्रवचन में वे माता-पिता और गुरुओं का आदर करने का महत्त्व समझाते हुए कहते हैं कि गुरुओं का आदर करना सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि माता-पिता तो शरीर और जीवन देते हैं, मगर शिक्षक हमें वह ज्ञान देते हैं जो अमर है। उनके इस कथन को आधार बनाकर चित्रकार असि कहार ने इस लघुचित्र को बनाया है। चित्रकार का नाम कोई कम महत्त्व का नहीं है। कहार, वर्ण व्यवस्था में निम्न स्तर पर रखी गई जाति है और उनका मुख्य काम पालकी ढोना था। शायद हमारे चित्रकार उनमें से उभरे कलाकार थे। असि कहार के बनाए कई दूसरे लघुचित्र बाबरनामा और अकबरनामा में भी मिलते हैं। उनका नाम महान कलाकार मिस्किन के साथ लिया जाता है।

एक पहाड़ी इलाके के क़िले और शहर के बाहर, झरने किनारे, पेड़ के नीचे, लकड़ी और घास-फूस के शेड के नीचे एक चबूतरे पर शाला लगी हुई है। इस चित्र में यह बताने की विशेष कोशिश की गई है कि शाला सामान्य जनजीवन के बीच लगी हुई है। एक ओर जनविहीन क़िला है तो उसके बाहर विविध लोगों व बच्चों की भीड़ के बीच शाला है। पास में कोई मटके में पानी भरकर ले जा रहा है, कोई झरना पार करके अपनी भैंसों को चरा रहा है तो एक ओर कोई छोटा सौदागर अपने तराजू



चित्र 9. 'क़िले के बाहर एक शाला', 'रज़मनामा', लगभग 1598-99 ईसवी, कलाकार- असि कहार (फ्री लाइब्रेरी ऑफ़ फिलाडेल्फिया)

1. हालाँकि संग्रहालय के विशेषज्ञों ने इसे उप-शाही शैली माना है, यह देखते हुए कि चित्रकार असि कहार ने अकबर के लिए अनेक और चित्र बनाए थे, इसे शाही श्रेणी में रखना शायद ज़्यादा उचित होगा।

से तौलकर कुछ बेच रहा है– शायद यह बच्चों का मनपसन्द खाद्य पदार्थ होगा, जैसे कि आज भी स्कूलों के बाहर छुट्टी के समय बेचने वाले बैठते हैं। पास ही पेड़ के नीचे एक सुन्दर घड़े में पानी रखा हुआ है (ऐसा ही एक मटका हेरात वाले चित्र में भी दिखा था)। अभी तक मक़तबों में जितने बच्चे दिखे उनसे कहीं ज़्यादा बच्चे इस एक शिक्षक से पढ़ रहे हैं।

अलग-अलग उम्र के लगभग 21 बच्चे हैं जिनमें से एक थाली भरकर कुछ फल या लड्डू पेश कर रहा है और एक बालक को उसकी माँ दाख़िल कराने लाई है। एक भी बालिका नहीं है। दो बच्चे शाला के बाहर हैं, एक– जो मटके में पानी भर रहा है और दूसरा– जो सौदागर के पास दौड़े जा रहा है। यह दोनों बच्चे बाक़ी बच्चों से बहुत भिन्न हैं और उनसे ग़रीब भी लगते हैं। शिक्षक और पढ़ने वाले सभी बच्चों की पोशाक मध्यमवर्गीय है– अधिकांश ऊपर जामा और कमरबन्द, नीचे पायजामा और सिर पर पगड़ी पहने हुए हैं। एक अधेड़ उम्र का भी छात्र है जिसने शिक्षक और सौदागर की तरह ऊपर एक अंगोछा भी ओढ़ रखा है। इतने सारे बच्चों को सँभालना शिक्षक के लिए ख़ासा मुश्किल काम रहा होगा। शायद वे किसी वरिष्ठ छात्र को सहायता के लिए रखते होंगे। एक ऊधमी बच्चे को कोड़े से मारने वाला शायद ऐसा ही एक मॉनिटर होगा। पुरानी शालाओं में इनका बड़ा आतंक था। सभी बच्चों के पास तख़्ती है जिस पर वे कुछ लिख रहे हैं। ऐसा लगता है कि वे सब फ़ारसी सीख रहे हैं, जो उन दिनों राजकीय भाषा थी। मक़तबों में किताबें, काग़ज़ और क़लम अधिक दिखे थे, मगर यहाँ किताबें दिख नहीं रही हैं, केवल तख़्ती उपयोग में हैं।

शिक्षक का पहनावा मक़तब के शिक्षकों के पहनावे से कुछ अलग है। मक़तबों के शिक्षक चोगा, पायजामा और सिर पर कुल्ला के ऊपर दस्तर पहने हुए दिखते हैं, जबकि यह ग्रामीण शिक्षक जामा, कमरबन्द और अंगोछा और सिर पर पगड़ी बाँधे हुए है। सम्भवत: यह मध्यमवर्गीय हिन्दुओं का आम पहनावा था। उनका जामा पाँव तक आ रहा है और एकाध जगह फटा हुआ भी है। उनका जूता चबूतरे के बाहर रखा हुआ है, मगर किसी और छात्र का जूता नहीं दिख रहा है।

शिक्षक के क़द को बढ़ाने की युक्ति, जो हम कई बार देख चुके हैं, यहाँ भी अपनाई गई है। शिक्षक के सिर के ठीक ऊपर पेड़ की डाली छाया भी दे रही है और शिक्षक को प्रधानता भी दे रही है। इस चित्र में हम देख सकते हैं कि शिक्षक के पास खड़े छात्र बहुत विनम्रता के साथ झुककर, हाथ बाँधकर या जोड़कर खड़े हैं। आख़िर भीष्म पितामह यही तो कह रहे थे। यह भी एक तरह से मक़तब के मौलवी से अलग है। उनके पास बच्चे न तो खड़े होते हैं और न ही इतनी विनम्रता दिखाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि छात्रों की यह अतिशय विनम्रता हिन्दू शैक्षणिक मानसिकता का अंग बन गई थी। यह विनम्रता महिला के सन्दर्भ में और भी बढ़ जाती है। वैसे मुग़लों से पहले की भारतीय लघुचित्र शैली में महिलाओं को सीधे खड़े नहीं दिखाया जाता था। वे हमेशा कुछ झुकी हुई होती हैं। इस चित्र में भी वह शिक्षक के समक्ष झुकी हुई ही चली आ रही है।

शिक्षक के हाथ में छड़ी नहीं है और उनके अन्दाज़ से भी कोई भय उत्पन्न नहीं हो रहा है। लेकिन हिंसा का उपकरण दोहरा कोड़ा बनकर मॉनिटर के हाथ में है और वह उसका भरपूर उपयोग कर रहा है शाला में अनुशासन बनाए रखने में।

ज़ाहिर है कि यह लघुचित्र शिक्षा के बारे में बहुत जटिल बातें कह रहा है। सबसे अव्वल है शिक्षा और जीवन के बीच की निरन्तरता– यह कोई बाड़ा-बन्द क्षेत्र नहीं है, बल्कि व्यापारिक स्थल, चरागाह, पहाड़, पेड़, झरना आदि के बीच लगा हुआ क्षेत्र है। चरवाहा, पानी भरने वाला, सौदागर, उस औरत की तरह कभी भी शाला में चले आ सकते हैं और शिक्षक से बतिया सकते हैं। यहाँ भी स्वाध्याय ही शिक्षण की प्रमुख विधा है, मगर छात्र के लिखे हुए को

शिक्षक बहुत ध्यान से पढ़कर ग़ल्तियाँ ठीक कर रहे हैं। जीवन के साथ निरन्तरता और अनौपचारिक स्वाध्याय के साथ-साथ विद्यार्थियों व पालकों की अतिशय विनम्रता शिक्षण कार्य को एक आध्यात्मिक प्रक्रिया बना देती है जिसमें शिक्षक एक गुरु भी बन जाता है, जो-जैसा कि भीष्म कहते हैं - परम सत्य का ज्ञान देता है।

हमें मुग़लकालीन प्राथमिक पाठशालाओं के बारे में कम ही पता है। लेकिन यह तय है कि मुग़ल काल में ऐसी शालाएँ बहुत तेज़ी से पूरे दक्षिण एशिया में फैलीं, पाठशालाएँ भी और मक़तब भी। मुग़ल शासन व्यवस्था में पढ़े-लिखे लोगों की बड़ी माँग थी और ऊँचे दर्ज़े के विद्वानों (फ़ारसी-अरबी और संस्कृत विद्वानों) की क़द्र थी। औरंगज़ेब ने वैसे तो संस्कृत पण्डितों का शाही आश्रय कम कर दिया था, मगर उसके दानिशमन्द खाँ जैसे उच्च अधिकारियों ने बड़े पैमाने पर आलिमों और पण्डितों को संरक्षण दिया। इनके अलावा यह वह दौर था जब भारत का विदेशों से व्यापार चरम पर था। इसमें भी हिसाब-किताब वग़ैरह की ज़रूरत थी। इस माहौल में भारत में एक शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय हो रहा था, जो धीरे-धीरे अपने स्वतन्त्र पाँव जमाने लगा था। इन सबके चलते पूरे देश में प्राथमिक शालाओं का जाल बिछा। जिस पाठशाला की तस्वीर असि कहार ने बनाई, उसी को आगे चलकर जॉन एडम, थामस मुनरो और एलफिंस्टन ने औपनिवेशिक शिक्षा की नींव बनाने की वकालत की थी। उपनिवेशवाद का शिक्षण की छवियों पर क्या असर पड़ा, इसे हम अगले किसी अंक में देखेंगे। मगर इस लेख को समाप्त करने से पहले एक आख़िरी छवि पेश करना चाहता हूँ जो मुझे बेहद पसन्द है।



चित्र 10 शिक्षक और छात्र (निजी संकलन से) लगभग 1585

शिक्षक और छात्र के बीच के विशेष रिश्ते और बन्धन को मार्मिक रूप से दर्शाने वाले कई मुग़ल लघुचित्र हैं, मगर यह रेखाचित्र मेरे दिल को छू गया। (चित्र 10)

एक वयस्क विद्वान शिक्षक, किताब और युवा छात्र के बीच के गाढ़े रिश्ते को यह चित्र जिस कोमलता के साथ दर्शा रहा है, उसे बयान करना कठिन है। शायद इसे कुछ देर ध्यानपूर्वक देखना और अनुभव करना ही उचित है।

स्रोत

1. चित्र : 7 https://archive.org/details/mma_laila_and_majnun_in_school_folio_from_a_khamsa_quintet_of_nizami_446603

2. चित्र : 8 https://art.thewalters.org/detail/239/layl-and-majnun-fall-in-love-at-school-3/

3. चित्र : 9 https://libwww.freelibrary.org/digital/item/38977

सी एन सुब्रह्मण्यम पिछले तीन दशकों से एकलव्य के सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम से जुड़े रहे हैं। वर्तमान में सेवानिवृत्त हैं और इतिहास के बारे में बच्चों और शिक्षकों के लिए लिखने में रुचि रखते हैं।

सम्पर्क : subbu.hbd@gmail.com

ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में अध्यापक की निर्मिति

शचीन्द्र आर्य

यह लेख इस मान्यता पर आधारित प्रतीत होता है कि अध्यापक के रचना विन्यास या गढ़न की प्रक्रिया इस बात पर निर्भर करती है कि उसके इर्दगिर्द परिस्थितियाँ और परिवेश कैसा है और उसके चयन की प्रक्रिया और अवसर क्या रहे हैं? और क्या ये परिस्थितियाँ उसे वांछित अध्यापक बनाने में कोई सक्रिय भूमिका निभाती हैं?

शचीन्द्र अपने आलेख में एक निजी विद्यालय के अवलोकनों में अध्यापक के विद्यालय और विद्यार्थियों के साथ के सम्बन्धों को टटोलते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रामीण विद्यालय किसी भी तरह से परिवर्तनकारी भूमिका में नहीं है। और निर्मिति की प्रक्रिया में जो भी बिन्दु संघर्ष या विचलन के हो सकते हैं उन्हें भोथरा किया जा चुका है। इन सबके बीच विद्यार्थी के खुद के रचना विन्यास के बारे में सोचने के कई सवाल हैं। सं.

इस पर्चे में ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में अध्यापकों की निर्मिति पर कुछ बातें की गई हैं। यह उसी विद्यालय के अध्यापक हैं, जिसे मैंने अपने शोध के फ़ील्ड वर्क के लिए चुना था। मैं शोधार्थी के रूप में वहाँ लगभग सात माह रहा। चूँकि मेरा शोध 'शिक्षा और आधुनिकता की अन्त:क्रिया' पर केन्द्रित था, इसलिए मैंने कक्षा ग्यारह को अपने अवलोकन के लिए निश्चित किया। अध्यापक के अवकाश पर रहने या विद्यालय के अन्य कार्यों में संलग्न रहने पर मुझे जो अवसर मिलते थे, उस समय मैं विद्यार्थियों से चर्चा और संवाद स्थापित करता। इन सबके बीच अध्यापकों से भी अनौपचारिक वार्तालाप में अनेक विषयों पर बात होती रहती थी। यह लगातार चलने वाली सघन प्रक्रिया थी और जैसा कि मैंने पहले कहा प्रत्यक्ष रूप से यह शोध अध्यापकों पर नहीं है, लेकिन मुझे लगता है गाँव के उस निजी प्रबन्धन द्वारा संचालित विद्यालय में इतना लम्बा वक़्त बिताने के दौरान सम्भवत: मेरे मन में भी यह प्रश्न उसी तरह बनने लगे जैसे किसी के भी मन में यह सहज जिज्ञासा के रूप में आ सकते हैं कि वह विद्यालय, जो किसी ग्रामीण अंचल में स्थित है, वहाँ अध्यापक की भूमिका में कौन है? उनमें ऐसी कौन-सी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें बाक़ी सब अध्यापकों से भिन्न बनाती हैं? सामाजिक परिवर्तन के उत्प्रेरक के रूप में वह अपना क्या योगदान दे रहे हैं? और अगर ऐसा है, तब उन्हें किस तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है? अगर वह अपनी सीमित-सी भूमिका में इसे सिर्फ़ जीविकोपार्जन का हिस्सा मानते हैं, तब क्या उनकी कक्षाओं में महज़ सामाजिक संरचनाओं का पुनरुत्पादन हो रहा है? फिर इन सबके साथ यह सवाल भी लगातार मेरे भीतर चलता रहा कि प्रबन्धन ने किस प्रक्रिया द्वारा उन्हें अध्यापक के रूप में चुना? क्या वह अध्यापक, अध्यापकों की भूमिका को किसी तरह का विस्तार देते हैं और हमारे सामने ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचने में मदद कर सकते हैं कि हम नए सिरे से अध्यापकों पर सोचने के लिए बाध्य हो सकें? इन सवालों के

जवाब तभी मिल सकते हैं, जब हम यह देख सकें कि वह कक्षा के भीतर और बाहर किस तरह और कैसे अपनी भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं।

इससे पहले कि यह चर्चा शुरू करें, प्रारम्भ में यह भी कह देना चाहता हूँ कि यहाँ ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में काम कर रहे अध्यापकों के प्रति किसी भी तरह के सामान्यीकरण (जनरलाईजेशन) को स्थापित या पुष्ट करने की कोई मंशा नहीं है। यह सिर्फ़ उस एकमात्र निजी विद्यालय से प्राप्त आँकड़ों और अनुभवों पर आधारित चर्चा है, जो केवल अध्यापकों के बारे में बात करती है। किसी अन्य परिस्थिति में वह कैसे हो जाएँगे, ऐसा दावा कहीं नहीं किया गया है। अर्थात वह किसी गाँव या ग्रामीण अंचल में केवल ऐसे ही होंगे, हम यह दावा नहीं करने जा रहे हैं।

विद्यालय का परिचय

विद्यालय ही वह प्रस्थान बिन्दु बन सकता है, जहाँ से हमें चर्चा शुरू करनी चाहिए। यह अध्यापक कहाँ अध्यापन कर रहे हैं, सबसे पहले यह जानना ज़रूरी है। इस विद्यालय को पहली से लेकर कक्षा बारह तक मान्यता प्राप्त है, जिसका संचालन निजी प्रबन्धन के हाथों में है। संचालक और प्रधानाचार्य ब्राह्मण हैं। उन्हें यह ज़मीन गाँव के ही एक प्रबुद्ध व्यक्ति ने विद्यालय खोलने के लिए दान में दी है। जब तक यह विद्यालय चल रहा है, ज़मीन पर किसी तरह से उनका कोई दावा नहीं रहेगा। इस अर्थ में विद्यालय खोलने में सबसे बड़ा संसाधन भूमि है और उस पर भी निवेश नहीं किया गया है।

विद्यालय ही वह प्रस्थान बिन्दु बन सकता है, जहाँ से हमें चर्चा शुरू करनी चाहिए। यह अध्यापक कहाँ अध्यापन कर रहे हैं, सबसे पहले यह जानना ज़रूरी है। इस विद्यालय को पहली से लेकर कक्षा बारह तक मान्यता प्राप्त है, जिसका संचालन निजी प्रबन्धन के हाथों में है।

विद्यालय में प्रतिवर्ष बसन्त पंचमी के दिन भण्डारा होता है। यह विद्यालय बगिया के बीचो-बीच स्थित है। एक बड़ा-सा लोहे का प्रवेश द्वार है। विद्यालय में दाख़िल होते ही दाएँ हाथ की तरफ़ प्रशासनिक खण्ड है, जिसका उद्घाटन क्षेत्र के विधायक ने किया था। इन दो कमरों में एक प्रधानाध्यापक / प्राचार्य का कमरा है तथा दूसरा कमरा कार्यालय और रिकॉर्ड रूम के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। कार्यालय में दो या तीन लोहे की अलमारी होंगी। अर्ध-अवकाश में पुरुष अध्यापक भोजन करने के लिए भी इस कमरे का उपयोग करते हैं। इस खण्ड के बिल्कुल सामने एक घास का मैदान है। विद्यालय में कुल सोलह कमरे हैं जिनमें से दस कमरों की छत लोहे की चद्दर से अस्थाई तौर पर बनाई गई है, जिन्हें भविष्य में पक्का किए जाने की योजना है। इस विद्यालय में कोई पुस्तकालय नहीं है। हाई स्कूल के बाद छात्र-छात्राएँ विज्ञान के विषयों की पढ़ाई कर सकते हैं लेकिन यहाँ प्रयोगशालाओं का भी अभाव है। प्रशासनिक खण्ड के दो कमरों को छोड़कर किसी भी कक्षा में पक्का फ़र्श नहीं है। मिट्टी को समतल कर कच्चा फ़र्श बनाया हुआ है। हर कक्षा में चार खिड़कियाँ हैं। दो, एक तरफ़ और दो, दूसरी तरफ़। एक श्यामपट्ट (ब्लैक़बोर्ड) है। विद्यार्थियों के बैठने के लिए लोहे की बेंच हैं। एक बेंच पर तीन छात्र / छात्राएँ आराम से बैठ सकते हैं। किसी भी कमरे में कोई पंखा नहीं है। खिड़कियों से आ रहे प्राकृतिक प्रकाश में ही अध्यापक पढ़ा रहे हैं और छात्र पढ़ रहे हैं। प्रकाश या बिजली की कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं की गई है।

विद्यालय और अध्यापकों का सम्बन्ध

अब यहाँ प्रश्न आता है कि विद्यालय का निजी प्रबन्धन अपने यहाँ बतौर अध्यापक किन्हें चुनेगा? यह सवाल धुरी है, जिसके इर्दगिर्द बहुत-सी बातें स्पष्ट होंगी। एक तरफ़ सरकारी नौकरियाँ बहुत अधिक संख्या में शिक्षित वर्ग

को खपा नहीं पा रही हैं, वहीं यह भी देखने में आता है कि अप्रशिक्षित युवाओं की ऐसी भीड़ इन रोज़गारविहीन वर्षों में इकट्ठी होती गई है, जहाँ निजी प्रबन्धन को अपने विद्यालय के लिए अध्यापक चुनने में कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता है।

यह विद्यालय भी इस स्थिति से बाहर नहीं है। इस विद्यालय के अधिकांश अध्यापक कई वर्षों से इससे जुड़े हुए हैं। अध्यापक सत्रह-अट्ठारह वर्षों से लगातार यहाँ काम कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि वेतनमान बहुत अधिक है। जैसा कि इस ज़िले में प्रचलित है अध्यापकों को डेढ़ सौ से लेकर दो सौ रुपया दिन दिया जाता है। जो अध्यापक विज्ञान, गणित या अँग्रेज़ी पढ़ाते हैं, उनका मासिक वेतन पैंतीस सौ से लेकर चार हज़ार रुपयों के बीच है, और जो अध्यापक प्राइमरी या प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाते हैं उन्हें पच्चीस सौ से लेकर अट्ठाईस सौ रुपयों में सन्तोष करना पड़ता है। अध्यापक मासिक वेतन पर काम करते हैं लेकिन प्रति माह वेतन न मिलने पर भी वह विद्यालय प्रबन्धन से इस विषय में अपना रोष या विद्रोह प्रकट नहीं करते हैं। इसकी क्या वजह हो सकती है यह समझना बहुत जटिल बात नहीं है।

जब निजी प्रबन्धन के विद्यालयों के अध्यापक प्रदेश की राजधानी में सरकार द्वारा मानदेय की अपनी माँग मनवाने के लिए हड़ताल का आयोजन करते हैं, तब इस विद्यालय के प्रधानाचार्य विद्यालय में अवकाश घोषित कर देते हैं और अध्यापकों को अगले दिन होने वाली हड़ताल में शामिल होने के लिए 'ऑर्डर बुक' में आदेश पारित करते हैं।

अध्यापक इतने कम वेतन पर भी विद्यालय छोड़ कर नहीं जा रहे हैं, इसके दो कारण शोध अवलोकन के दौरान मेरे सामने स्पष्ट रूप से प्रकट हुए। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि जो अध्यापक विद्यालय परिसर में विद्यार्थियों को ट्यूशन पढ़ाना चाहते हैं, वे यहाँ सुबह विद्यालय लगने से पहले और दोपहर में छुट्टी के बाद पढ़ा सकते हैं। इस रूप में प्रबन्धन तनख़्वाह भले ही कम दे रहा हो पर विद्यालय परिसर में वह ऐसी जगह का निर्माण कर रहा है, जहाँ उसके अध्यापक कम मिलने वाली तनख़्वाह की भरपाई कर सकते हैं।

प्रबन्धन की यह सहमति सिर्फ़ जगह देने तक सीमित नहीं है। वह अपने अध्यापकों के लिए छात्र-छात्राओं के एक ऐसे समूह का निर्माण करता है कि वहाँ कुछ छात्र अगर कक्षा बारह के बाद विद्यालय से पास होकर चले भी जाएँगे तो उसी तर्ज़ पर कुछ छात्र विद्यालय में नए दाख़िले के रूप में आएँगे भी तो। दूसरे शब्दों में कहें तो विद्यालय से अध्यापकों के लिए (ट्यूशन हेतु) छात्रों की अबाध पूर्ति भविष्य में भी होती रहेगी। उन्हें अपने लिए छात्रों को खोजने कहीं बाहर नहीं जाना पड़ेगा। वहीं विद्यार्थी यह मान कर सन्तोष कर लेते हैं कि अगर यही अध्यापक उनके घर पर आएँगे तब उन्हें (घर आने का) अतिरिक्त शुल्क देना होगा। जबकि विद्यालय में सुबह या दोपहर के बाद पढ़ने से वह इस अतिरिक्त शुल्क से बच सकते हैं और अध्यापकों से अपने सम्बन्ध भी मधुर कर सकते हैं, जिसका लाभ उन्हें किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलेगा।

दूसरा कारण, विद्यालय प्रबन्धन भले ही कम तनख़्वाह दे रहा हो लेकिन वह राज्य सरकार से निजी विद्यालयों के अध्यापकों के लिए 'मानदेय' की माँग पर उनके साथ खड़ा रहता है। जब निजी प्रबन्धन के विद्यालयों के अध्यापक प्रदेश की राजधानी में सरकार द्वारा मानदेय की अपनी माँग मनवाने के लिए हड़ताल का आयोजन करते हैं, तब इस विद्यालय के प्रधानाचार्य विद्यालय में अवकाश घोषित कर देते हैं और अध्यापकों को अगले दिन होने वाली हड़ताल में शामिल होने के लिए 'ऑर्डर

बुक' में आदेश पारित करते हैं। वह स्वयं अपने अध्यापकों की उपस्थिति को सुनिश्चित करने के लिए और उनकी माँगें मनवाने के लिए उनके साथ धरने पर बैठते हैं और विधानसभा के सामने विरोध प्रदर्शन का हिस्सा बनते हैं।

इसे थोड़ा ऐसे भी समझा जा सकता है कि विद्यालय प्रबन्धन शिक्षकों को अपनी तरफ़ से ढाई-तीन हज़ार रुपये से अधिक नहीं दे सकता लेकिन सरकार से की जा रही माँग पर वह उनके साथ है। वह सिर्फ़ इतने पर ही नहीं रुकता। वह अपने यहाँ कार्य कर रहे अध्यापकों को मुक्त विद्यालय से शिक्षक प्रशिक्षण भी दिलवा रहा है। भले यह उसके विद्यालय की मान्यता को बचाए रखने की एक युक्ति हो लेकिन वह उन्हें अध्यापन करते हुए इस 'डिप्लोमा' को करने का अवसर दे रहा है, यह विद्यालय से इतने कम वेतन पर भी जुड़े रहने की एक और बड़ी वजह है ।

> चूँकि आप अप्रशिक्षित हैं इसलिए कम वेतन दिए जाने योग्य हैं। इतने पर भी आपको विद्यालय से निकाला नहीं जा रहा है क्योंकि आपकी अपने गाँव में इस विद्यालय के अध्यापक के रूप में साख है। इसी साख का उपयोग नए विद्यार्थियों को विद्यालय तक लाने में प्रबन्धन करना चाहता है।

इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि चूँकि आप अप्रशिक्षित हैं इसलिए कम वेतन दिए जाने योग्य हैं। इतने पर भी आपको विद्यालय से निकाला नहीं जा रहा है क्योंकि आपकी अपने गाँव में इस विद्यालय के अध्यापक के रूप में साख है। इसी साख का उपयोग नए विद्यार्थियों को विद्यालय तक लाने में प्रबन्धन करना चाहता है। वह अपने अध्यापकों पर इस रूप में भी दबाव डालता है कि वह अपने यहाँ के बच्चों को उनके विद्यालय में दाख़िला लेने के लिए प्रेरित करें।

इन सब मुद्दों के अलावा एक ऐसा मसला भी है, जो कभी सतह पर नज़र नहीं आएगा। यह मार्च-अप्रैल में होने वाली बोर्ड परीक्षाओं के समय नज़र आता है। एक अध्यापक ने अनौपचारिक बातचीत में स्वीकार किया कि इन्हीं परीक्षाओं में वह जितना साल भर में 'ट्यूशन' से कमाते थे, उतना दस-बारह दिन में निकाल लिया करते थे। वह बताने लगे कि अगर इस बार कक्षाओं में 'सीसीटीवी कैमरे' नहीं लगे होते, तब वह अब तक साठ से सत्तर हज़ार रुपया कमा चुके होते। बात कुछ ज़्यादा बोल गए इसीलिए अपनी झेंप को छिपाने की गरज़ से बोले, "अच्छा हुआ कैमरे लग गए। वरना परीक्षार्थी हमें अध्यापक थोड़े समझते थे।" लेकिन इस बात से पिछली बातें छिप नहीं पाईं।

अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच सम्बन्ध

एक तरफ़ जहाँ हम यह देख रहे हैं कि विद्यालय का प्रबन्धन उनके साथ कैसा व्यवहार कर रहा है और दोनों के बीच आपसी सम्बन्ध कैसे हैं, हमारी रुचि यह जानने की भी है कि ऐसी स्थिति में क्या वह 'दब्बू तानाशाह'[1] जैसी किसी छवि को ओढ़ लेना चाहता है या वह उससे कहीं आगे निकल गया है और वह इस तरह बिल्कुल एक नई संरचना है, जहाँ उसमें मूलभूत परिवर्तन आए हैं? वह पाओलो फ्रेरे (1996) द्वारा वर्णित अध्यापकों से किस तरह भिन्न है? हमें देखना होगा कि क्या वह उसी बैंकिंग अवधारणा से संचालित है या आलोचनात्मक चेतना का विकास करने में एक मददगार की भूमिका में है या फिर उसमें इन दो बिन्दुओं से भी अलग जाकर हम किन्हीं तत्त्वों को चिन्हित कर सकते हैं?

---

1. कृष्णकुमार अपनी पुस्तक *गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद* (2006) में इसका ज़िक्र करते हैं। जहाँ उनका तात्पर्य औपनिवेशिक सत्ता के आने के बाद अध्यापक की भूमिका में हुए परिवर्तन की तरफ़ संकेत करना है। जिसमें अध्यापक पहले की तरह किसी भी निर्णय को लेने के लिए स्वतंत्र नहीं रह गया था और निर्धारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के अस्तित्व में आते ही वह नई भूमिका में था, जिसे वह 'दब्बू तानाशाह' कहकर इंगित करते हैं ।

इस शोध के दौरान मुझे कैसा लगा, इस पर कुछ कहने की बजाय एक-दो उदाहरणों से छात्र और अध्यापक के बीच बनते-बिगड़ते सम्बन्धों को समझना चाहता हूँ, जिससे यह पता चल सके वे किस तरह के अध्यापकों में निर्मित हो रहे हैं।

उदाहरण- एक : दिन की ठण्डी सुबह है। कोहरा अभी भी सूरज को ढँके हुए है। तीसरी घण्टी बजी, तभी गणित के अध्यापक आते हैं और एक विद्यार्थी को अपने पास बुलाते हैं। वे उसे निर्देश दे रहे हैं कि वह अपने गाँव चला जाए और चूँकि अध्यापक सुबह दूध भी नहीं ले जा पाए थे, इसलिए दूध की डोलची को उनके घर पहुँचा दे और वापसी में उनके घर से दोपहर का भोजन टिफ़िन में लेता आए। वह विद्यार्थी अपनी पढ़ाई का हर्ज़ा करता हुआ उक्त अध्यापक से उनकी मोटर साइकिल की चाभी लेता है और कक्षा से बाहर चला जाता है। पीछे से अध्यापक उसे ध्यान से मोटर साइकिल चलाने की बात कह रहे हैं, जिसे वह सुन पाया या नहीं, कहा नहीं जा सकता।

तभी गणित के अध्यापक आते हैं और एक विद्यार्थी को अपने पास बुलाते हैं। वे उसे निर्देश दे रहे हैं कि वह अपने गाँव चला जाए और चूँकि अध्यापक सुबह दूध भी नहीं ले जा पाए थे, इसलिए दूध की डोलची को उनके घर पहुँचा दे और वापसी में उनके घर से दोपहर का भोजन टिफ़िन में लेता आए।

उदाहरण- दो : ऐसी ही एक और सुबह है। पूरी कक्षा ठण्ड की वजह से मैदान में धूप में बैठी हुई है। अध्यापक के लिए कक्षा का एक विद्यार्थी कुर्सी ले आया है। वह अब उस पर बैठ गए हैं। छात्र एक तरफ़ और छात्राएँ दूसरी तरफ़ से घेर कर कुर्सी के इर्दगिर्द ज़मीन पर उकड़ूँ बैठे हुए हैं। इन्हीं में से दो-तीन छात्राएँ हिन्दी के अध्यापक, जो ब्राह्मण हैं, से चन्द्र ग्रहण के विषय में जानना चाहती हैं। जैसे ही छात्राएँ उनसे ग्रहण के बारे में पूछती हैं, वह कहते हैं– "पतरा देखेक पड़ी, पहिले बताय होइत्यु तो देख के आइत" (पत्रा/पंचांग देखना पड़ेगा। पहले बताती तो देख कर आता)। समय भले न पता चल पाया हो लेकिन अब वह छात्राएँ आपस में बात कर रही हैं कि जब तक ग्रहण रहेगा, तब तक भोजन नहीं किया जाना चाहिए। अध्यापक के रूप में वह शिक्षक भी उनकी बात में अपनी बात मिलाते हुए कहते हैं– "बिल्कुल सही। भोजन का त्याग कर देना चाहिए। नहीं करना चाहिए।"

उदाहरण- तीन : दोपहर आधी छुट्टी के बाद का समय रहा होगा। जीवविज्ञान के अध्यापक आज आए नहीं थे। बात बर्तनों पर चल रही थी। कैसे-कैसे बर्तन घरों में होते हैं। शादियों में पाँच तरह के बर्तन दहेज़ में दिए जाते हैं। मुसलमानों के यहाँ प्लास्टिक के बर्तन होते हैं। हम नहीं रखते। कोई बाहर से आ जाए तब? तब उन्हें अलग बर्तन में पानी और खाना देंगे। अपने बर्तनों में थोड़े देंगे। इन सारी बातों के बीच में जैसे ही प्रह्लाद सर की बात आई, एक छात्रा बोली– 'उनको अपने बर्तन में पानी थोड़े देंगे सरजी। आप आओगे तो देंगे। उनको अपने बर्तन में कुछ नहीं देंगे। वह सूअर पालते हैं।'

उदाहरण- चार : वर्मा सर जी आए। वह इस कक्षा को अब नहीं पढ़ाते हैं। लेकिन कौन छात्र कैसा है इसकी ख़बर अभी भी उनके पास पहुँच जाती है। वह अपनी स्मृति के आधार पर दो लड़के और दो लड़कियों को नाम लेकर पुकारते हैं। अपना नाम सुनकर वह चारो खड़े हो जाते हैं। अब सरजी अपनी चार फ़ाइलें उनमें वितरित कर देते हैं। उन्हें हफ़्ता भर लगाकर चित्र सहित सब कुछ दूसरी पुस्तकों में से नक़ल करना है। यह वही 'इन-सर्विस डीएलएड' डिप्लोमा का काम है जो दस दिन बाद उन्हें तुलसीपुर में अपने स्टडी सेण्टर पर जमा करवाना है। वह चारो दी गई उत्तर पुस्तिका और किताब को देख रहे हैं। जितनी जल्दी हो सके यह काम खत्म करके

देना है।

प्रस्तुत चार प्रकरणों में हम यह भलीभाँति देख पा रहे हैं कि अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच किस तरह का सम्बन्ध उभर रहा है। अध्यापक किसी चेतना का विस्तार कर पाएँगे, यह सवाल थोड़ी देर के लिए नज़रअन्दाज़ कर लें तो हम यह पाते हैं कि जन्म से निर्धारित जाति और उससे प्राप्त ज्ञान का मूल्य विद्यालय में पढ़ाई जाने वाली सामग्री से बहुत अधिक है। कक्षा ग्यारह की छात्राएँ विज्ञान से इण्टर की परीक्षा देंगी लेकिन जिस वैज्ञानिक चेतना का विस्तार विज्ञान के उपविषयों में अब तक कर लेना चाहिए था, वह अभी सुषुप्तावस्था में है। भविष्य में वह ऐसा कुछ कर भी पाएँगी, इसमें बराबर सन्देह बना हुआ है। हमें यह भी समझना होगा कि अध्यापक विद्यालय में अध्यापक हैं लेकिन जन्म से जो उनकी जाति है, वह दोनों के मध्य व्यवहार को कभी-न-कभी निर्धारित करने लग जाती है। बर्तनों के उपयोग और उनका किनके लिए निषेध है, यह किसी पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है लेकिन छात्राओं के लिए वह उनकी जीवन शैली का हिस्सा है। इसी तरह अध्यापक विद्यार्थियों द्वारा अपना काम करवाने में किसी भी तरह झिझक नहीं रहे हैं।

ऐसे में एक पदानुक्रम साफ़-साफ़ उभरता हुआ दिखता है, जिसमें जैसा व्यवहार प्रबन्धन अध्यापकों के साथ करता है बिल्कुल वैसा ही अनुकरण अध्यापक अपने विद्यार्थियों के लिए करते हैं। वह अपनी लाचारियों को बिल्कुल भी अपने विद्यार्थियों पर ज़ाहिर नहीं होने देना चाहते। फिर लोक में प्रचलित अध्यापक या उससे भी अधिक 'गुरु' की जो महत्ता है, उसका लाभ अध्यापक अपने पक्ष में कर रहे हैं।

विद्यालय में शौचालय नवनिर्मित कमरों के बाद बची हुई जगह में स्थित है। सामान्य दिनों में इसका उपयोग विद्यालय की छात्राओं द्वारा किया जाता है। विद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक, जो विद्यालय के नियमित संचालन में प्रमुख भूमिका निभाते हैं, और जो पिछले बारह साल से अध्यापन छोड़कर विद्यालय के कार्यालय को सँभाल रहे हैं, उनके कथनानुसार सिर्फ़ परीक्षा के दिनों में छात्रों को इसका उपयोग करने दिया जाता है। सामान्य दिनों में छात्र बाहर जाते हैं। बाहर का मतलब उनके लिए शौचालय की अवधारणा में उस बगिया के इर्दगिर्द उग आई छितरी हुई झाड़ियों और पेड़-पौधों की ओट में निपट आना बहुत सहज और सामान्य-सी बात है। जैसे ही आप उस लोहे के दरवाज़े पर पहुँचेंगे, एक दिशा निर्धारित है। यह दिशा एक तरह का बँटवारा है। बाईं तरफ़ छात्र जाएँगे। दाईं तरफ़ अध्यापक और अध्यापिकाएँ।

यह आश्चर्य का विषय है कि विद्यालय के अन्दर बने शौचालय का उपयोग न तो अध्यापक कर रहे हैं, न वहाँ कार्यरत अध्यापिकाएँ। अध्यापक तो जब भी मन किया तो गुटखा खाने और पेशाब करने आदि के लिए अकेले ही उस तरफ़ के झुरमुट में चले जाते हैं। लेकिन अध्यापिकाएँ कभी अकेले ऐसे जाते हुए नहीं दिखीं।

मुझे लगता है, इस रूप में यह शौचालय भी तो विद्यालय में काम करने वाले अध्यापक और अध्यापिकाओं का आत्मप्रत्यय निर्मित कर रहा होगा, जिसपर हमें अलग से ध्यान देने की ज़रूरत है ।

क्यूरियस केस ऑफ़ सुनील वर्मा

यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते, ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में अध्यापक कैसे निर्मित होते हैं, उसकी कुछ-कुछ रूपरेखा आपको समझ में आ रही होगी। हम इस अन्तिम खण्ड में वहाँ कार्यरत एक अध्यापक के जीवन अनुभव को बारीक़ी से देखते हुए यह समझ पाएँगे कि वह कैसे अध्यापक की भूमिका में आते हैं। हमारे सामने प्रश्न यह भी है कि क्या वह सिर्फ़ अध्यापक बनना चाहते थे और वह अपने अध्यापकीय जीवन से सन्तुष्ट हैं? उनके लिए गाँव में रहकर पढ़ाना और कुछ बनने की इच्छा का क्या अर्थ है?

अध्यापक की उम्र लगभग तीस साल। विवाहित। दो बच्चे। एक पाँच साल का लड़का

यहीं गाँव में पढ़ता है। नौ साल पढ़ाने के बाद 'बीटीसी' करने की सोच रहे हैं। तीन-चार वर्ष पहले सरकारी बीटीसी संस्थान से इन्हें दाख़िला लेने के लिए सम्पर्क किया गया था । इनका नाम बागपत के सरकारी 'डाइट' में आ गया था। घर में पिताजी ने कहा, 'क्या करोगे इतनी दूर जाकर। यहीं तुम्हारे लिए दवाख़ाना खुलवा देते हैं। वहीं बैठा करना।' दवाख़ाना खुला। वह अपना अध्यापन छोड़कर वहाँ बैठना भी शुरू कर चुके थे।

वह बताते हैं कि दवाख़ाना तो ख़ैर क्या चलना था। वहाँ बैठे-बैठे पथरी की समस्या शुरू हो गई। गुर्दे में पथरी। इलाज हुआ और वह वापस विद्यालय जीवन में लौट आए। अब दोबारा 'बीटीसी' का ख़याल दिमाग़ में आया है। अबकी बार संतोषी राम शिक्षा संस्थान, मल्हीपुर से ही बीटीसी कर लेंगे। कहीं बाहर नहीं जाएँगे। शादी के बाद तो और मुश्किल है। घर छूटता नहीं है। फिर बच्चे हो जाएँ तब तो और भी नहीं।

कहने लगे 'गाइडेंस' नहीं थी। फिर शादी के बाद मुश्किल हो जाता है सब। कुछ कर ही नहीं पाए। जबकि वह खुटेहना के स्कूल में पढ़ा चुके हैं। सेवाराम स्मारक, गिलौला में भी पढ़ाते थे। श्री मानस विद्यालय में भी पढ़ाया है। अब यहाँ दोबारा आ गए हैं। बीए में अँग्रेज़ी, कला और भूगोल पढ़े हैं। कला अध्यापक बनना था। नहीं बन पाए। फिर शिक्षाशास्त्र (एजुकेशन) में एमए कर लिया। अब 'एजुकेशन' में ही 'नेट' का पेपर पास कर लें तो 'पीएचडी' पर विचार बनाएँ। कहाँ से करेंगे समझ नहीं आ रहा, पर सोच रहे हैं नेट निकले तो करेंगे ज़रूर। पिछली बार गए थे नेट का पेपर देने। कम्प्यूटर पर था सबकुछ। समझ ही नहीं आया ज़्यादा और परिचित थे नहीं उस तकनीक से। अब 'यू-ट्यूब' से नेट की तैयारी कर रहे हैं। बहुत सारी जानकारी तो वहाँ उपलब्ध है। कहने लगे, बाहर निकल जाओ तभी पढ़ाई सम्भव है। यहाँ घर पर रहते-रहते पढ़ नहीं पाते हैं। बताने लगे, खुटेहना में थे तब तीन बार 'मानदेय' आया था फिर सरकार बदल गई।

आज दो मार्च को जब वर्माजी हम दोनों के साथ धूप में बैठे हुए हैं, तब 'गोदाम अधीक्षक' की नौकरी का ज़िक्र आया। सुनील वर्मा के घूस देने से पहले कोई पचास हज़ार रुपया दे चुका था। जिन्हें पैसा दिया जाना था, वह कह रहे थे कि अगर वह इससे ज़्यादा पैसों का इन्तज़ाम कर पाएँ तो वह नौकरी उन्हें दिलवा सकते हैं। सुनीलजी बोले, 'सत्तर-अस्सी हज़ार या दोगुना दे देता तो काम हो जाता। लेकिन पैसा तो घर वाले ही देंगे।' उन्होंने इस बाबत अपने घर पर बात चलाई। घर वाले (उसमें भी मुख्य रूप से पिताजी) बोले, 'अब खाद्यान्न विभाग में जाकर क्या करोगे?' नहीं दिया पैसा। नहीं मिली नौकरी। कुछ होते हैं, जो विरोध कर देते हैं / विद्रोह कर देते हैं। पर हमने ऐसा कुछ नहीं किया। माता-पिता तय कर चुके होते हैं कि उन्हें अपने बच्चों के साथ क्या करना है। चार लड़के हैं, तो किसे पास रखना है? किससे खेती करवानी है? किसे पढ़ाना है? वह सब पहले ही तय कर चुके होते हैं। ऐसी स्थिति में उनका कोई सहयोग मिल ही नहीं पाता। पर हम मानते हैं, स्वतंत्रता ही सबसे बड़ा सुख है। धन के साथ थोड़ी स्वतंत्रता तो मिलनी ही चाहिए।

माता-पिता तय कर चुके होते हैं कि उन्हें अपने बच्चों के साथ क्या करना है। चार लड़के हैं, तो किसे पास रखना है ? किससे खेती करवानी है ? किसे पढ़ाना है ? वह सब पहले ही तय कर चुके होते हैं। ऐसी स्थिति में उनका कोई सहयोग मिल ही नहीं पाता। पर हम मानते हैं, स्वतन्त्रता ही सबसे बड़ा सुख है। धन के साथ थोड़ी स्वतन्त्रता तो मिलनी ही चाहिए।

सुनीलजी का यह प्रकरण हमारा ध्यान इस ओर ले जाता है, जहाँ हम देखते हैं कि शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी अपने निर्णयों को लेकर स्वतंत्र

नहीं है। परिवार नामक संस्था पुरुष को भी उसी तरह नियंत्रित करने की कोशिश करती है, जैसा हमें समाज में महिलाओं या स्त्रियों के विषय में देखने को मिलता है। पुरुष होने के बावजूद परिवार के सदस्य उसे गाँव से दूर पढ़ने के लिए नहीं भेजते हैं। दूसरी तरफ़ गाँव का पढ़ा-लिखा हताश शिक्षित युवा घूस या रिश्वत को एक मूल्य की तरह स्वीकार कर लेता है। लालफ़ीताशाही में उसे नौकरी के लिए रिश्वत देने से भी गुरेज़ नहीं है। यह 'घूस' राज्य की नाकारा संस्थाओं में उत्पन्न हुआ नया आधुनिक मूल्य है, जिसे समाज में स्वीकार्यता मिल गई है।

और अन्त में...

जिन प्रश्नों को लेकर हम शुरू हुए थे, उनमें से कितनों को हम सुलझा पाए बात सिर्फ़ इतनी नहीं है। हम इन अनुभवों, प्रकरणों और उदाहरणों से वहाँ पहुँच गए हैं, जहाँ हम एक बात तय रूप तरीक़े से कह सकते हैं कि विद्यालय किसी भी तरह से परिवर्तनकारी भूमिका में नहीं है। वह जगह जो विद्यालय परिसर के भीतर निर्मित हो रही है, वह काण्ट (1997) के शब्दों में एक ऐसी जगह बन सकती थी, जहाँ हम अलग-अलग विषयों, मतभेदों और संघर्षों पर बात कर सकते थे। पर वह बन नहीं पाई। अध्यापकों की भूमिका भी उसी सामाजिक ढाँचे को पोषित करती हुई लग रही है, जहाँ एक तरफ़ वह उस समाज से आते हैं जो रूढ़िग्रस्त है और दूसरी तरफ़ उन्हें उसी समाज में रह रहे अपने परिवार का पेट पालना है।

जो-जो बिन्दु संघर्ष या विचलन के हो सकते थे, उन्हें भोथरा किया जा चुका है। प्रबन्धन अध्यापकों को वेतन नहीं दे रहा लेकिन विद्यार्थियों के शोषण के लिए ट्यूशन के नाम पर अवसर दे रहा है। उन्हें शौचालय जैसी मूलभूत आवश्यकता से वंचित रखा गया है लेकिन किसी भी तरह का कोई स्वर हमें सुनाई नहीं देता। वह इसी में ख़ुश हैं कि कोई उन्हें आज भी अध्यापक के साथ-साथ ब्राह्मण मानकर तिथि-पंचांग की बात कर रहा है। उनसे ग्रहण पर सलाह ले रहा है।

जो जन्म से उच्च जाति में पैदा नहीं हुए उनके लिए विद्यालय प्रतीक्षा कक्ष की तरह है। वह भविष्य में किसी ऐसी जगह पहुँचना चाहते हैं, जिसकी तैयारी वह यहाँ इन दीवारों के बीच में बिना रोक-टोक कर सकते हैं।

इन सबके बीच विद्यार्थी किस तरह अपनी दुनिया को बना रहा है और वह किस तरह से इस बनाई हुई दुनिया को समझे, इसका कोई नक़्शा किसी के पास अभी तक उपलब्ध नहीं है।

सन्दर्भ

पार्थ चटर्जी (1997), अवर मॉडर्निटी, South–South Exchange Programme for Research on the History of Development (SEPHIS), Rotterdam/Dakar,.

कृष्ण कुमार(2006), गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली.

पाओलो फ्रेरे (1996), उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली.

शचीन्द्र आर्य केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं।
सम्पर्क : shachinderarya@gmail.com

हमारे हेडमास्टर साहब

मणीश ठाकुर

भारत की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में जाति और पितृसत्ता की जड़ीभूत सांस्थानिकता के भीतर से आधुनिक संस्थाओं और नई पेशेवर पहचानों का ताना-बाना कैसे उभर कर आया यह शिक्षा के समाजशास्त्र और शिक्षा के इतिहास की बड़ी गुत्थी है। यह संस्मरणात्मक लेख इस परिघटना की पड़ताल करता है। लेखक, जो एक सक्रिय समाजशास्त्री हैं, ने अपने स्कूल के प्रधानाध्यापक की स्मृतियों को दर्ज़ करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं।

आज से चालीस-पचास साल पहले गाँव में बहुत कम लोग दुग्ध धवल कपड़ों में दिखाई देते थे। ज़्यादातर लोग दैनन्दिन जीवन में धोती, लुँगी तथा गंजी से काम चला लेते थे। सर्दी के मौसम में मोटी चादर ओढ़कर जैसे-तैसे रह लेते थे। जहाँ तक मुझे याद है अपने बचपन में मैंने दो ही लोगों को हमेशा पूर्ण परिधान में देखा। एक थे प्रोफ़ेसर साहब जो हमेशा जूते-मोज़े के साथ धोती, कुर्ता और बण्डी पहनकर शाम को टहलने निकला करते थे तथा दूसरे थे हमारे हेडमास्टर साहब जिन्हें मैंने हमेशा धोती और खादी के सफ़ेद कुर्ते में ही देखा।

शिक्षा और औपचारिक परिधान में कोई रिश्ता होता है यह मुझे नहीं पता, परन्तु मेरे गाँव के हेडमास्टर साहब की वेशभूषा विशिष्ट थी। वह यह बताती थी कि वह गाँव के सैकड़ों बुज़ुर्गों से अलग हैं। वह गाँव में हैं, लेकिन गाँव के नहीं हैं। शायद यह उनकी अथॉरिटी का आदि स्रोत था। आज जबकि विद्यालय और समाज के रिश्तों पर अकादमिक बहस चल रही है, मुझे लगता है कि शिक्षक की यह अवस्थिति (लोकेशन)– समुदाय से सम्बद्ध होकर भी समुदाय का न होना– विचारणीय है। शिक्षक और समुदाय के बीच का विशिष्ट सम्बन्ध मुझे रचनात्मक और सम्भावनाशील लगता है।

मेरा गाँव 'ऊँची' जाति के भूमिहारों के प्रभुत्व वाला गाँव है। बाद में पता चला कि हमारे हेडमास्टर साहब भी उसी जाति के थे। यहाँ तक कि गाँव के एक सम्पन्न परिवार से उनकी रिश्तेदारी भी थी। पाँच-छह साल तक मैं उनके विद्यालय का छात्र रहा परन्तु कभी भी मुझे उनकी जाति या नातेदारी सम्बन्धों का भान नहीं हुआ। यह बात अब मुझे सारगर्भित लगती है। समाजशास्त्र का छात्र होने के नाते मैंने हमेशा पढ़ा कि जाति और गाँव आपस में गडमड हैं। अगर ऐसा है तो फिर क्या कारण है कि हमारे हेडमास्टर साहब अपने रोज़मर्रे के व्यवहार में अपनी ख़ास जाति की जगह अपनी पेशेवर पहचान को तरजीह दिया करते थे? लोग उन्हें मूलत: उनके प्रोफ़ेशन की वजह से जानते थे उनकी रिश्तेदारी की वजह से नहीं और वह शायद ऐसा ही चाहते थे।

क्या मामला व्यक्तिगत विशेषताओं का है? क्या मामला उस दौर का है जब यह लगता था कि राष्ट्र-निर्माण जाति-समुदाय से ऊपर उठने के अनन्त, अनथक प्रयासों का दूसरा नाम है? क्या यह राष्ट्रीय आन्दोलनों के दरमियान प्रस्फुटित गाँधीवादी आदर्शों का प्रभाव है? ऐसा

भी तो हो सकता है कि आज़ादी के दो-तीन दशकों तक कुछेक जाति समुदाय के पास वह पूँजी थी जिसके बल पर वह जातिगत दलदल से ऊपर उठ पाते थे या ऊपर उठ पाने का स्वाँग रच पाते थे जिसको परवर्ती राजनीति ने मुश्किल कर दिया। वैसे ही जैसे परवर्ती जनतांत्रीकरण ने गाँधी और गाँधी के आदर्शों को कठघरे में खड़ा कर दिया।

बहरहाल, हेडमास्टर साहब गाँधीवादी माने जाते थे। खादी पहनते थे। साफ़-सुथरा रहते थे। विद्यालय भवन के एक कमरे में रहते थे। बगल के टोले की एक वृद्ध महिला उनका खाना बना दिया करती थी। वह विद्यालय खुलने के पहले और बाद में पड़ोस के टोले के बच्चों को पढ़ाया करते थे। ध्यातव्य है कि ये बच्चे 'छोटी' जातियों के थे और अनियमित छात्र थे।

मैंने यह भी सुना था कि हेडमास्टर साहब ने मेरे स्कूल के मौलवी साहब को एक दिन घर वापस भेज दिया था। कारण यह था कि वह बग़ैर कुर्ते के सिर्फ़ गोल गंजी में स्कूल आ गए थे।

न जानने की ज़रूरत थी और न आज मुझे पता है कि हेडमास्टर साहब की ख़ुद की शिक्षा किस स्तर तक थी। शायद बीए होंगे। शायद उन्होंने शिक्षक-प्रशिक्षण का कोई डिप्लोमा भी प्राप्त किया हो।

ग्रामीण समाज में उनकी प्रतिष्ठा की एक वजह और भी थी। हमने गाँव में चर्चा सुनी थी कि एक बार उनका चयन स्कूल इंस्पेक्टर के रूप में हुआ था, लेकिन तब उन्होंने हेडमास्टर बने रहना ही पसन्द किया। बेसिक स्कूल के हेडमास्टर और स्कूल इंस्पेक्टर का ऑफ़िशियल रैंक एक ही होता था। फिर भी इंस्पेक्टर का रुतबा ज़्यादा होता था। उसके पास पैसे भी ज़्यादा होते थे क्योंकि उसके पास 'ऊपरी आमदनी' का जरिया होता था। जाहिर है कि मेरे गाँव के लोग इस बात से प्रभावित थे कि हेडमास्टर साहब ने एक रुतबे वाले पद को ठुकरा दिया था तथा शिक्षक बने रहना स्वीकार किया था। नौकरशाही और शिक्षा का यह द्वन्द्व मेरे गाँव में कैसे पहुँचा और अध्यापकीय कर्म की श्रेष्ठता के भाव ने लोगों के चेतन में कैसे अपनी पैठ बनाई यह मुझे नहीं पता। बहुत बाद में मैंने सुना कि प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम एन श्रीनिवास ने शिक्षा मन्त्रालय में सचिव के पद को ठुकरा दिया था।

> मेरे गाँव के लोग इस बात से प्रभावित थे कि हेडमास्टर साहब ने एक रुतबे वाले पद को ठुकरा दिया था तथा शिक्षक बने रहना स्वीकार किया था। नौकरशाही और शिक्षा का यह द्वन्द्व मेरे गाँव में कैसे पहुँचा और अध्यापकीय कर्म की श्रेष्ठता के भाव ने लोगों के चेतन में कैसे अपनी पैठ बनाई, यह मुझे नहीं पता।

मैं हेडमास्टर साहब का कोई शब्दचित्र नहीं उकेरना चाहता। मेरी मंशा यह साबित करने की भी नहीं है कि वह एक अतिविशिष्ट व दुर्लभ व्यक्ति थे। मैं हेडमास्टर साहब के बहाने स्कूल के हेडमास्टर के कुछ संस्थागत पहलुओं को समझने की कोशिश कर रहा हूँ।

हेडमास्टर साहब जनेऊ पहनते थे। बाद में पता चला कि उनकी चार बेटियाँ थीं जिनका विवाह उन्होंने तिलक-दहेज़ देकर अपनी ही जाति में किया। एक पुत्र भी था जिसका जन्म चार बेटियों के पश्चात हुआ था। बहुत बाद में मुझे एक बार उनके पैतृक गाँव जाने का मौक़ा मिला। जब मैं उनके घर गया तो वह मुझे अपनी जाति के अन्य सद्‌गृहस्थ की तरह ही दिखे— ज़मीन-ज़ायदाद, माल-जाल, कुर्सी-चौकी, जनेऊ-गोसाईं सब कुछ था जो आम सद्‌गृहस्थ के पास होता है। हेडमास्टर साहब मृदुभाषी थे। मुझसे मिलकर ख़ुश हुए। घर ले जाकर अच्छा खाना खिलाया और फिर बोले, "पुत्र और शिष्य दोनों समान रूप से स्नेह के भागीदार होते हैं फ़र्क़ बस इतना है कि पुत्र सम्पत्ति का भी उत्तराधिकारी होता है जबकि

शिष्य सिर्फ़ स्नेह का।" सुनकर मुझे अच्छा लगा। यह बात उन्होंने रिटायर होने के दशकों बाद की थी। मर्मस्पर्शी बात थी।

लेकिन अपनी जाति के किसी अन्य सद्गृहस्थ के समान होने के बावजूद वह एक अच्छे हेडमास्टर थे। विद्यालय सुचारु रूप से चलाते थे। शिक्षकगण विद्यालय में नियमित रूप से उपस्थित रहते थे और कक्षाएँ समय पर लगती थीं। स्कूल बेवजह बन्द नहीं हुआ करता था। आमतौर पर छात्र शिष्ट थे और शिक्षक अध्यवसायी व स्नेहिल।

ज़्यादातर शिक्षक एक ही जाति के थे और ज़्यादातर छात्र भी। हाँ, जाति के भीतर परिवार की आर्थिक स्थिति का अन्तर था। कुछ छात्र ज़्यादा ज़मीन वाले परिवारों से आते थे तो कुछ कम ज़मीन वाले परिवारों से। कुछ विद्यार्थियों के परिवार वाले छोटी-मोटी सरकारी नौकरियों में थे जबकि ज़्यादातर विद्यार्थी खालिस किसान परिवारों से आते थे। अन्य जातियों के छात्र भी थे, परन्तु वे कम संख्या में थे। पीछे मुड़कर देखने से लगता है कि हिन्दुस्तान की अन्य कई संस्थाओं की तरह तब मेरा स्कूल भी सीमित अर्थ में ही समावेशी था। ऊँची जातियों का वर्चस्व प्रकट रूप से था जो तब 'स्वाभाविक'-सा लगता था उनके आर्थिक संसाधनों और सामाजिक-सांस्कृतिक पूँजी के सन्दर्भ में। बहुसंख्यक ठाकुर उपनाम वाले विद्यार्थियों के बीच कुछ पासवान, मण्डल, साहू, मोची, बैठा, कामत आदि उपनाम वाले विद्यार्थी भी मिल जाया करते थे।

> शिक्षकों की बात हो या छात्रों की, हेडमास्टर साहब हमेशा समन्वयक की भूमिका में ही दिखे। सबको साथ लेकर चलने वाले— न्यूट्रल और निष्पक्ष। छोटी-मोटी शरारतों के अलावा मैंने विद्यालय में कोई बड़ा झगड़ा नहीं देखा। शिक्षकों की कोई आपसी गुटबन्दी हो इसका भी मुझे आभास नहीं था।

स्कूल के शिक्षकों का भी ऐसा ही सामाजिक चरित्र था। एक मौलवी साहब का ज़िक्र ऊपर आया है, उनके अलावा एक साहूजी थे। शिक्षकों की बात हो या छात्रों की, हेडमास्टर साहब हमेशा समन्वयक की भूमिका में ही दिखे। सबको साथ लेकर चलने वाले— न्यूट्रल और निष्पक्ष। छोटी-मोटी शरारतों के अलावा मैंने विद्यालय में कोई बड़ा झगड़ा नहीं देखा। शिक्षकों की कोई आपसी गुटबन्दी हो इसका भी मुझे आभास नहीं था। तो क्या हमारे हेडमास्टर साहब ने मैक्स वेबर को आत्मसात कर लिया था और एक आधुनिक ब्यूरोक्रैटिक इंस्टीट्यूशन के रूप में व्यक्तिनिरपेक्ष पद्धतियों और प्रक्रियाओं का पालन करते हुए वह बख़ूबी स्कूल चला रहे थे? या कि मेरा स्कूल उस वक़्त की सामाजिक शक्तियों के आपसी सन्तुलन का प्रतिबिम्ब था इसलिए ऊपर से सब कुछ सहज, समांगी और समावेशी प्रतीत होता था?

मेरे ज़ेहन में एक सवाल उठता है। यदि हमारे हेडमास्टर साहब सिर्फ़ अपने-आप को एक सरकारी विद्यालय के कार्यालयी प्रधान के रूप में देखते थे तो वह हर मानसून के पहले गाँव में घूमकर कुछ सम्भ्रान्त परिवारों से विद्यालय की मरम्मत के लिए बाँस आदि क्यों माँगा करते थे। यहाँ तक कि उनके कहने पर स्कूल के पास के टोले के मज़दूर भी बिना पैसे लिए साल में एक बार स्कूल की खपरैल छत की आवश्यकतानुसार मरम्मत कर देते थे। खपरैल छत बनाने वाले तब कुछ ही कुशल मज़दूर गाँव में हुआ करते थे। उनकी विशेष पूछ-परख होती थी क्योंकि ज़्यादातर घर खपरैल के थे इसलिए मानसून के पहले वह मज़दूर हमेशा व्यस्त रहते थे। उन व्यस्त दिनों में समय निकालकर बिना मज़दूरी लिए वे स्कूल की छत को दुरुस्त कर देते थे ताकि पढ़ने वाले बच्चों के सिर पर पानी नहीं टपके। ऐसा लगता है कि कहीं-न-कहीं हमारे हेडमास्टर साहब अपने विद्यालय को 'कॉमन

पब्लिक गुड' के रूप में समुदाय के सामने पेश कर पाते थे, तभी तो जिनके पास सम्पत्ति थी वे स्कूल को बाँस दे देते थे और मज़दूर अपना श्रमदान कर देते थे। किसी ने उनसे कभी नहीं कहा कि आपका तो सरकारी स्कूल है विभाग से मरम्मत के लिए पैसे मंजूर करवा लीजिए और हमें तंग मत कीजिए।

इसी तरह से अन्य स्कूल के अन्य हेडमास्टर भी ऐसा ही करते होंगे। उनकी कर्तव्यनिष्ठा और समर्पण भी हमारे हेडमास्टर साहब से कम नहीं होती होगी। तो फिर क्या यह शीर्षक 'हमारे हेडमास्टर साहब' भ्रामक नहीं है? अभी तक तो मैंने पाठकों को यह भी नहीं बताया कि उनका नाम राम कृपाल राय था और मेरे स्कूल का नाम था राजकीय वरीय बुनियादी विद्यालय, बैंगरा। मैं 1976-81 के कालखण्ड की बात कर रहा हूँ। स्कूल के नाम में 'राजकीय' या 'शासकीय' लगे होने का अर्थ स्कूल का सरकारी होना है। जब मैं उस विद्यालय का विद्यार्थी था तो वहाँ छठी तक ही पढ़ाई होती थी, लेकिन इस स्कूल को आठवीं कक्षा तक पढ़ाने की अनुमति सरकार से मिली हुई थी इसलिए उसके नाम में 'वरीय' लगा था। कुछ बातें 'बुनियादी' के बारे में। मैंने सुन रखा था कि हमारे ज़िले में मात्र तीन बुनियादी विद्यालय थे। महात्मा गाँधी और ज़ाकिर हुसैन की नई तालीम योजना के अन्तर्गत जब विभिन्न राज्यों में बुनियादी विद्यालय शुरू किए गए तब मेरे गाँव में भी एक स्कूल खुला। हालाँकि, जब मैं इस विद्यालय का विद्यार्थी था तो पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, आकलन आदि के मामले में यह किसी भी अन्य मध्य विद्यालय की तरह ही था। सिर्फ़ विभागीय दृष्टि से इस विद्यालय के शिक्षकों का तबादला अन्य मध्य विद्यालयों में नहीं हो सकता था क्योंकि बुनियादी विद्यालयों के शिक्षकों का कैडर अलग होता था।

यह बुनियादी विद्यालय मेरे ही गाँव में क्यों खुला, इस बारे में मैं सिर्फ़ अनुमान लगा सकता हूँ। मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। दोनों सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में जेल गए थे। अँग्रेज़ पुलिस मेरे गाँव आई थी। पुराने लोग बताते थे कि पुलिस के आने के पहले ही गाँव के तमाम नौजवान भागकर अपने रिश्तेदारों के यहाँ चले गए थे। मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों में से एक समाजवादी विचारधारा के थे। एक बार उन्होंने ज़मींदारी पृष्ठभूमि के एक काँग्रेसी उम्मीदवार के ख़िलाफ़ चुनाव भी लड़ा था जिसमें वह सफल नहीं रहे। बाद में वह ज़िला परिषद के अध्यक्ष बने। इस तरह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मेरे गाँव तक पहुँचा और राष्ट्रीयता को समर्पित गाँव के रूप में मेरे गाँव की पहचान बनी। शायद इसी पृष्ठभूमि के कारण मेरे गाँव में बुनियादी विद्यालय स्थापित हुआ होगा। बुनियादी विद्यालय के सामने ही बाद में एक उच्च विद्यालय भी स्थापित हुआ जिसका नाम सर्वोदय विद्यालय रखा गया। हालाँकि, उस विद्यालय का सर्वोदय से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। विद्यालय के लिए ज़मीन एक महन्तजी ने दान में दी थी। वैसे इस स्कूल का सीधा सम्बन्ध भले ही भूदान आन्दोलन से नहीं हो, लेकिन आजादी के बाद भूदान आन्दोलन की धमक मेरे गाँव में भी पहुँची थी। कालान्तर में मेरे गाँव में दो भूदानी कार्यकर्ता हुए। भूदान आन्दोलन ने जमीन की निजी मिल्कियत की प्रचलित धारणा को भूदान आन्दोलन ने अपने इस उदबोधन से किसी हद तक चुनौती दी— 'सबै भूमि गोपाल की, नहीं किसी की मालिकी।' संसाधनों का निवेश सबके

मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। दोनों सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में जेल गए थे। अँग्रेज़ पुलिस मेरे गाँव आई थी। पुराने लोग बताते थे कि पुलिस के आने के पहले ही गाँव के तमाम नौजवान भागकर अपने रिश्तेदारों के यहाँ चले गए थे। मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों में से एक समाजवादी विचारधारा के थे।

हित में हो इस बात को भूदान आन्दोलन ने पुनः रेखांकित किया। भूदान आन्दोलन की ठोस सफलता-असफलता पर बहस की गुंजाइश है, लेकिन इन आन्दोलनों के जरिए 'कॉमन पब्लिक गुड' की धारणा ने लोक मानस में अपनी पैठ बनाई।

कुल मिलाकर स्वाधीनता आन्दोलन की धमक मेरे गाँव में बनी रही। उस कड़ी में ऊपर समाजवादी विचारधारा के जिन स्वतंत्रता सेनानी का जिक्र आया है से लेकर भूदानी कार्यकर्ता और हमारे स्कूल के हेडमास्टर साहब आदि जुड़ते चले गए। इसी सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता ने बुनियादी विद्यालय और सर्वोदय हाई स्कूल की स्थापना के लिए अनुकूल परिवेश निर्मित किया।

स्कूल के बाहर मौजूद उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन जब स्कूल के भीतर प्रवेश करता था तो आन्दोलन के वैचारिक अन्तर्विरोध शिथिल हो जाते थे। स्कूल के भीतर का राष्ट्रवाद वैचारिक से अधिक भावनात्मक, अनुष्ठानिक और अपेक्षाकृत स्थिर था। 15 अगस्त और 26 जनवरी को बच्चे प्रभातफेरियाँ करते थे।

स्कूल के बाहर मौजूद उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन जब स्कूल के भीतर प्रवेश करता था तो आन्दोलन के वैचारिक अन्तर्विरोध शिथिल हो जाते थे। स्कूल के भीतर का राष्ट्रवाद वैचारिक से अधिक भावनात्मक, अनुष्ठानिक और अपेक्षाकृत स्थिर था। 15 अगस्त और 26 जनवरी को बच्चे प्रभातफेरियाँ करते थे। 'गाँधीजी की जय' और 'नेताजी सुभाषचन्द्र बोस अमर रहें' के नारे लगाते थे। झण्डोतोलन होता था और बच्चों को चीनी का बताशा मिलता था। चरित्र-निर्माण हेतु महापुरुषों की सूक्तियाँ स्कूल की दीवारों पर मोटे लाल अक्षरों में लिखी हुई थीं। कुछ सामान्य से भित्ति चित्र और राष्ट्रीय नेताओं के फ्रेम में मढ़े हुए कुछ चित्र भी थे– गाँधी, नेहरू, सुभाष और घनी मूँछों के नीचे मन्द-मन्द मुस्कराते डॉ राजेन्द्र प्रसाद। मैंने अर्न्स्ट गेलनॉर की किताब को तब नहीं पढ़ा था। तब शायद वह किताब आई भी नहीं थी। किन्तु अब पीछे मुड़कर देखने से लगता है कि निःसन्देह स्कूल के उस छोटे-से परिसर की दैनन्दिन गतिविधियों में एक राष्ट्र बन रहा था। उस खपरैल भवन की चूने से पुती हुई सफ़ेद दीवारों पर छवियों और चित्रों के माध्यम से समाज का सहज बोध एक राष्ट्रवादी इतिहास बोध में रोज़-ब-रोज़ ढल रहा था। चूँकि मेरा स्कूल बिहार के मधुबनी ज़िले के एक गाँव में था, अत: डॉ राजेन्द्र प्रसाद वहाँ की राष्ट्रीय स्वर लिपि में अधिक मुखरित थे। मैंने हेडमास्टर साहब के हाथ में कई महीनों तक डॉ राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा देखी थी। राजेन्द्र बाबू बिहार से थे। वह एक सम्भ्रान्त कायस्थ परिवार से आते थे व शालीनता और सादगी की प्रतिमूर्ति माने जाते थे। वह गाँधीजी के अनुयायी थे, मेधावी थे और एंट्रेन्स एग्ज़ामिनेशन में पूरे बंगाल में उन्हें प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था। अमूमन राजेन्द्र बाबू में वह सब कुछ था जो उस गाँव के स्कूल के बच्चों के लिए अनुकरणीय था। हमें उस वक़्त कहाँ पता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर भी कई विचारधाराएँ थीं, कि राजेन्द्र बाबू का श्रीकृष्ण सिंह और जयप्रकाश नारायण से कई मुद्दों पर वैचारिक मतभेद था, कि हिन्दू कोड बिल पर उनका आग्रह एक ख़ास सामाजिक सत्ता को प्रश्रय देता था, कि सोमनाथ मन्दिर के उनके उद्घाटन भाषण में उस समय प्रचलित राष्ट्र-निर्माण की विचारधारा की एक दूरगामी आलोचना थी, आदि।

संगीत की कक्षाओं में ज़्यादा देशभक्ति के गीत गाए जाते थे– 'इंसाफ़ की डगर पर बच्चो दिखाओ चलके', 'साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल'। मोटेतौर पर इन गीतों में गाँधी, सुभाष, नेहरू, भगत सिंह, आज़ाद एक ही धरातल पर बैठे दिखलाई पड़ते थे और देश की आज़ादी बिना किसी खड्ग-ढाल की

मिली अमूल्य धरोहर। प्रार्थना हर सुबह स्कूल में हुआ करती थी जिसमें ईश्वर वन्दना, परमेश्वर से आशीष प्राप्ति की गुहार थी ताकि विद्यार्थी सद्चरित्र गुणवान व्यक्ति बन सकें।

मैं शिक्षाशास्त्र का अध्येता नहीं हूँ। स्कूल जैसी संस्था के सुचारु संचालन में व्यक्ति विशेष की महती भूमिका होती है या नीतियाँ और प्रक्रियाएँ निर्णायक होती हैं या समुदाय की भागीदारी या उसकी निगरानी काफ़ी मायने रखती है और इन कारकों का आदर्श सन्तुलन क्या हो यह वाद-विवाद का विषय रहा है। लेकिन आज़ाद भारत में जनमानस की चेतना भित्ति में बहुधा एक अच्छे स्कूल को एक अच्छे हेडमास्टर से जोड़ कर देखा गया है। एक ख़ास सैद्धान्तिक नज़रिए से देखा जाए तो एक स्वस्थ और मज़बूत संस्था को व्यक्तिनिरपेक्ष होना चाहिए। उसे अपनी सुनिश्चित प्रक्रियाओं के बलबूते अपने कर्तव्य का निर्वहन करना चाहिए। इसे ही शायद सांस्थानिक टिकाऊपन कहते हैं। अगर ऐसा है तो हमें हेडमास्टर साहब के बारे में अलग से कुछ लिखने की ज़रूरत नहीं है। जो बातें स्कूल के बारे में कही जाएँ वही बातें उनके लिए भी उपयुक्त होंगी।

> हेडमास्टर साहब का निजी जीवन उनके समुदाय व वर्ग की वैचारिक सीमाओं से ही परिभाषित होता था। आज के सुधीजन उनके कई व्यवहारगत आचरणों को प्रश्रय देने, कृपा करने और सताए हुए समूहों की अधिकार चेतना को अवरुद्ध करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों के रूप में देखेंगे।

प्रश्न संस्थाओं की स्वायत्तता का भी है। कोई संस्था किस हद तक अपने सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भों का अतिक्रमण कर सकती है? कहाँ तक उन सन्दर्भों से ऊपर उठ सकती है? दूसरी बात कि स्कूल को समाज का एक मानक प्रतिबिम्ब मानना भी एक समाजशास्त्रीय अतिरेक होगा। यद्यपि स्कूल आधुनिक समाज में विषमताओं के प्रजनन की दृष्टि से एक विशिष्ट संस्था है, लेकिन वह प्रतिरोधी विचारों की संवाहक भी रही है। तो स्कूल के इस दोधारी संस्थागत ढाँचे को कैसे समझा जाए! उसे यथास्थिति का महज पोषक मान लिया जाए जैसा कि कई प्रजननवादी (रीप्रोडक्शनिस्ट) समाजशास्त्री और आधुनिक समाज को स्कूलिंग से छुटकारा दिलाने वाले कुछ विचारक मानते हैं या उसे वैकल्पिक विचारों और कल्पनाओं के लिए उर्वर एक संस्था के रूप में देखा जाए!

इन सवालों के बरअक्स हमारे हेडमास्टर साहब कैसे दिखते हैं? जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है वह परिवर्तनकामी शलाका पुरुष तो नहीं थे। उनका निजी जीवन उनके समुदाय व वर्ग की वैचारिक सीमाओं से ही परिभाषित होता था। आज के सुधीजन उनके कई व्यवहारगत आचरणों को प्रश्रय देने, कृपा करने और सताए हुए समूहों की अधिकार चेतना को अवरुद्ध करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों के रूप में देखेंगे। मसलन 'छोटी' जाति के बच्चों को अनौपचारिक और अवैतनिक ट्यूशन देना, राजेन्द्र बाबू का महिमामण्डन, वेशभूषा की औपचारिकता पर ज़ोर आदि-आदि। लेकिन उनके द्वारा स्कूल का सफल संचालन सीमित ही सही, कमज़ोर वर्ग के अनेक बच्चों के सशक्तिकरण में सहायक भी था। स्कूल की चार-छह घण्टे की सीमित अवधि में ही सही, उनका अवदान यह था कि कोई बच्चा प्रकट तौर पर जातिगत भेदभाव का शिकार नहीं हुआ। किसी भी बच्चे को किसी शिक्षक ने कम-से-कम प्रकट तौर पर तो इस बात के लिए प्रताड़ित नहीं किया कि वह छोटी जाति का है। उन्हें स्कूल से भगाया नहीं गया या उन्हें स्कूल आने के लिए हतोत्साहित नहीं किया गया। जिन लोगों ने ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन पढ़ी है उनको पता है कि कैसे 'ऊँची'

जाति के शिक्षक 'नीची' जाति के मेधावी छात्रों को हास-परिहास का पात्र बनाते हैं।

हेडमास्टर साहब पितृसत्तात्मक मूल्यों की जकड़बन्दी से मुक्त नहीं रहे होंगे। शायद इसी वजह से पुत्र जन्म के इन्तज़ार में उन्होंने चार बेटियाँ पैदा की होंगी। फिर जातीय परम्पराओं के मद्देनज़र उन सबका ब्याह भी करवाया। परन्तु हमारे को-एजुकेशनल स्कूल में मैंने उनको हमेशा स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करते हुए ही पाया। मेरी छोटी बहन उसी स्कूल में मुझसे दो कक्षा पीछे पढ़ती थी। हेडमास्टर साहब उसको लेकर भी उतने ही स्नेहिल थे जितने मेरे प्रति। अन्य छात्राओं के प्रति भी उनका व्यवहार मुझे समदर्शी व समावेशी ही लगा।

एक बात और याद आ रही है। हमारा स्कूल गाँव की सामान्य चौहद्दी से थोड़ा बाहर था। परम्परावश शादी-ब्याह, उपनयन के भोज के मौक़े पर हेडमास्टर साहब को निमन्त्रण जाता था। मुझे याद नहीं कि वह उन आयोजनों में शरीक होते भी थे या नहीं। दूसरी ध्यान देने वाली बात यह थी कि लोग अपने खेत में उपजने वाली सब्जी और फल की पहली खेप गाँव के मन्दिर के पुजारी को भेजते थे। गाय-भैंस का दूध भी मन्दिर में जाता था। इसी सिलसिले में मैंने यह भी देखा कि कुछ परिवार नियमित रूप से दूध, फल, सब्जी आदि हेडमास्टर साहब को भी भेजा करते थे- आदर और श्रद्धावश। मन्दिर सेक्रेड स्पेस (पवित्र स्थान) था और स्कूल सेक्युलर (धर्म निरपेक्ष), परन्तु श्रद्धा का प्रतिदान दोनों जगहों पर था। मैं यह नहीं कह रहा कि मन्दिर और स्कूल के लिए जनमानस में एक समान ही श्रद्धा थी, परन्तु आंशिक साम्य भी मुझे आकर्षित करता है|

कुल मिलाकर हमारे हेडमास्टर साहब काफ़ी कुछ वैसे ही थे जैसा उनका समय था, लेकिन समय के भीतर मौजूद तमाम सम्भावनाओं को अपने सीमित संस्थागत दायरे में साकार करने को लेकर वह प्रतिबद्ध थे। उनके विद्यालय में होने से कई प्रकार के प्रश्न खड़े होते हैं। क्या परम्पराओं के मध्य, उनकी सीमाओं के भीतर न्यायसंगत सामाजिक परिवर्तन बिल्कुल नामुमकिन है? क्या हमारे हेडमास्टर साहब अपने गाँधीवादी विचार-दृष्टि और व्यवहार में नए मूल्यों के संवाहक थे या आधुनिक जीवन की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुए पुराने मूल्यों के मध्यस्थ? क्या गाँधीवादी विचार और व्यवहार की बनावट और बुनावट देशकाल और राजनीति-सापेक्ष नहीं है? क्या राष्ट्र एक ऊर्ध्वगामी अवधारणा मात्र है? कहीं यह तो नहीं कि दिल्ली में बना-ढला राष्ट्र हमारे बुनियादी विद्यालय की देहरी तक आते-आते थोड़ा कम अजनबी, थोड़ा ज़्यादा परिचित हो चला था- अपने गाँव, समाज, देश के मुहावरों, संघर्षों, शक्ति प्रदर्शनों से लबरेज़!

मणीश ने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में एमए और गोवा विश्वविद्यालय से पीएचडी की है। इन दिनों मणीश इंडियन इंस्टिच्यूट ऑफ मैनेजमेंट, कोलकता में 'पब्लिक पालिसी और मैनेजमेंट' के प्रोफेसर हैं। समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए उन्हें एम.एन. श्रीनिवास मेमोरियल पुरस्कार, राधा कमल मुखर्जी मेमोरियल और वी. के आर. वी. पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। ग्रामीण विकास की नीतिगत और कार्यालयी चर्चाओं में 'गाँव' की बनने वाली छवियों पर इन्होंने शोध-प्रबन्ध लिखा है।

सम्पर्क : इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ मैनेजमेंट, कोलकता। डायमण्ड हार्बर रोड, जोका, कोलकता- 700104, mt@iimcal.ac.in

टीचर और टीचिंग प्रोफ़ेशन

समझ, तैयारी व समस्याएँ

वेनु तनेजा और अंकित मौर्य

पिछले कुछ समय से सरकारी नीतियों में बदलाव, समाज की प्राथमिकताओं में फेरबदल और शिक्षकीय कार्य की बढ़ती जटिलताओं के चलते शिक्षक की छवि को लेकर विमर्श शिखर पर आ गया है। एक पेशे के रूप में शिक्षकीय कार्य की मान्यताएँ समाज, सरकार और स्वयं शिक्षक की नजरों में भिन्न-भिन्न हैं। कहीं स्वायत्तता, कहीं योग्यता तो कहीं सामाजिक परम्पराओं को आधार बनाते हुए यह विमर्श हमेशा ही कुछ नए सवालों को जन्म देकर बिना किसी नतीजे के ख़त्म होता है। वेनु और अंकित ने दो सहेलियों, एक शिक्षिका व एक शिक्षाशास्त्र की विद्यार्थी के बीच हुई बातचीत को आधार बनाते हुए एवं विभिन्न शिक्षाविदों की मान्यताओं के हवाले से इस ज्वलंत विषय पर गहरा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। सं.

शिक्षा और शिक्षकों का महत्त्व पिछले कुछ समय में तमाम उतार-चढ़ावों से गुज़रा है। फिर चाहे वह राजनीति हो या पे-कमीशन (वेतन आयोग) से जुड़े बदलाव या बदलती अर्थव्यवस्था, सभी ने इन दोनों तत्त्वों को किसी न किसी रूप में नए आयाम दिए हैं। शिक्षक की अवधारणा इसके शुरुआती प्रारूप से आगे चलकर अब एक नया ही रूप ले चुकी है। जहाँ आज भी लोगों के मन में गुरु की ऐसी महिमा के क़िस्से बसे हैं जब गुरु के कहने पर शिष्य अँगूठा काटकर रख देते थे, वहीं कुछ लोगों को आज के कलियुग में शिक्षक, शिक्षातंत्र में सबसे नीचे के पायदानों में से एक पर आसीन एक आवाज़ विहीन प्राणी नज़र आता है। रोहित धनकर ने अपने एक आलेख में शिक्षक की तुलना बन्धुआ मज़दूर से की है। वे यह भी कहते हैं कि समय के साथ शिक्षकों से हर तरह के निर्णय लेने के अधिकार छीन लिए गए हैं जिसमें विद्यालय समयसारिणी, पाठ्यचर्या, किताबें, पढ़ाने का तरीका और मूल्यांकन सम्बन्धी अधिकार सम्मलित हैं। इन सबसे जुड़े फैसले ऊपरी स्तर पर लिए जाते हैं और शिक्षकों की भूमिका को इन निर्णयों को लागू करने व इनके आधार पर काम करने तक सीमित कर दिया गया है। हालाँकि जब बच्चों के सीखने-समझने में कमज़ोरी का मुद्दा उठता है तो सारी ज़िम्मेदारी शिक्षकों की बता दी जाती हैं। (धनकर, 2015) यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि तंत्र और समाज में शिक्षक की छवि और जगह पिछले कुछ समय से लगातार चोट खा रही है। 'क्या शिक्षक एक पेशेवर है?', यह विषय भी समय-समय पर चर्चा की जगहों पर ख़ुद को चर्चा में पाता है। शिक्षक और शिक्षाविद् इस मत की पैरोकारी करते हैं कि शिक्षक पेशेवर होते हैं और इस नाते उन्हें एक पेशेवर का दर्ज़ा और सम्मान मिलना चाहिए। ऐसे में यह सवाल लाज़िमी हो जाता है कि किन बातों को आधार मानकर एक शिक्षक के पेशेवर होने या ना होने की अवधारणा को समझा जा सकता है।

आगे प्रस्तुत है कंचन और वर्षा के बीच हुई एक बातचीत जिसमें सर्वसुलभ मतों से आगे बढ़कर, अनुभवों और शिक्षा जगत को आधार बनाते हुए, शिक्षकों के पेशेवर होने की अवधारणा पर समझ बनाने का प्रयास किया गया है।

कंचन : और तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है?

वर्षा : अभी तो सब ठीक है। काफ़ी नई बातें सीखने को मिल रही हैं और कुछ पुरानी बातें भी अब पहले से ज़्यादा गहराई से समझने को मिल रही हैं। कुल मिलाकर समय कहाँ चला जाता है, पता ही नहीं चलता।

कंचन : हा...हा...हा... अकसर ऐसा ही होता है। तुम फ़ोन पर किसी नए विषय के बारे में भी बता रही थीं न? वो क्या था?

वर्षा : ओह हाँ! अभी इस सेमेस्टर में मैंने एक नया विषय लिया है, टीचर प्रोफ़ेशनल डेवलपमेंट। पिछले कुछ सत्रों में हमने शिक्षकों से जुड़ी कई चर्चाएँ की। शिक्षकों की पहचान, उनकी ज़िम्मेदारियाँ, वे ख़ुद को सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का हिस्सा मानते हैं या फिर सर्वज्ञाता की भूमिका में कक्षा में उपस्थित होते हैं, बच्चों को सज़ा देना और उसका प्रभाव जैसे कई मुद्दों पर हमने बात की।

कंचन : अरे! सुनने में तो यह सब बहुत रोचक लग रहा है। मुझे मेरे बीएड के दिनों की याद आ गई। हमारे यहाँ भी शिक्षण प्रक्रियाओं और एक बच्चे के निर्माण में शिक्षक की भूमिका जैसे विषयों पर चर्चा होती थी। हालाँकि, एक-दो शिक्षक ही ऐसी चर्चाओं में रुचि लेते थे और इन्हें प्रोत्साहित करते थे।

वर्षा : हम्म्म्म... मेरे साथ पढ़ने वाले साथियों के अनुभव भी कुछ ऐसे ही रहे हैं। लेकिन एक बात बताओ, एक शिक्षक के तौर पर तुम ख़ुद को कैसे देखती हो?

कंचन : मतलब? मैं तुम्हारी बात नहीं समझी।

वर्षा : अच्छा... तो मेरी कक्षा में शिक्षक और उनके काम की प्रकृति का विषय हमेशा चर्चा में रहता है। हममें से कुछ लोग यह मानते हैं कि शिक्षण का कार्य एक पेशा है और शिक्षक इसमें कार्यरत पेशेवर। और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस मत से सहमत नहीं हैं।

कंचन : यह तो बड़ी दिलचस्प बात है और सही कहूँ तो इस मत के बारे में, मैं कुछ ख़ास स्पष्ट नहीं हूँ। जहाँ तक मेरी जानकारी है, बी.एड. एक प्रोफ़ेशनल कोर्स माना जाता है जो कि आपको शिक्षक के तौर पर काम करने के लिए तैयार करता है। क्या तुम बता सकती हो कि तुम्हारे यहाँ एक पेशेवर को कैसे परिभाषित किया जाता है?

वर्षा : हाँ, मेरे पास ये कुछ आर्टिकल हैं जिनमें एक पेशेवर और पेशे को परिभाषित किया गया है, पर उसमें जाने से पहले क्या मुझे एक कप चाय मिलेगी?

कंचन : देखो, तुम्हारी बातों में लगकर चाय लाना भी भूल गई मैं। अभी लाती हूँ।

(चाय के बाद)

वर्षा : हाँ तो देखो! 1971 में सिड्नी डोरोस का एक आलेख छपा था, जिसमें उन्होंने अपने केश-कलाकार के साथ हुई बातचीत के बारे में बताया है। उसमें केश-कलाकार को लगता है कि वह और उसका काम एक शिक्षक से ज़्यादा पेशेवर है। इसके साथ ही उन्होंने एक पेशे की पाँच विशेषताएँ भी गिनवाई हैं।

कंचन : अच्छा, क्या हैं ये?

वर्षा : उनकी सूची के अनुसार,

1. पेशे से जुड़े सदस्यों की व्यक्तिगत भलाई से ऊपर समाज की भलाई की परवाह करना।
2. व्यवस्थित एवं विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान और कौशल पर पकड़ एवं इसके इस्तेमाल की समझ।
3. पेशे से जुड़ने के लिए प्रवेश अधिकार, प्रशिक्षण के मानकों और सदस्यों के प्रदर्शन पर सदस्यों का नियंत्रण।
4. अपने काम से सम्बन्धित निर्णय लेने की उच्चस्तरीय स्वायत्तता।
5. एक मज़बूत पेशेवर संस्था जो अपने सदस्यों के उल्लिखित मानदण्डों की प्राप्ति, काम

करने की सन्तोषजनक परिस्थितियों की उपलब्धता और उनके कल्याण और समृद्धि की रक्षा एवं उसकी प्राप्ति की दिशा में काम करे।

1. Concern for the welfare of society above the personal interests of members of the profession.
2. Command and application of a body of specialized and systematized knowledge and skills.
3. Control by practitioners of admission to the profession, standards of preparation, and performance of its members.
4. A high degree of autonomy in making decisions about how to perform one's work.
5. A strong professional organization which enables the group to meet the above criteria, to achieve satisfactory conditions of work, and to advance and protect the welfare of its member.

(Taken as it is from, Dorros 1971)

कंचन : सिड्नी की इस सूची में जो बातें कही गई हैं उन्होंने मुझे सोच में डाल दिया है। अगर इन मापदण्डों के आधार पर मैं अपने काम को परखूँ तो निःसंदेह एक शिक्षक का काम समाज की भलाई से जुड़ा होता है और हमसे यही अपेक्षा रहती है कि हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर सेवा कर पाएँ। इसके अलावा, शिक्षक स्कूल में पढ़ाए जाने वाले विषयों में से किसी एक में विशेष दक्ष तो होते ही हैं साथ ही बाल मनोविज्ञान, कक्षा प्रबन्धन और सन्दर्भ आधारित शिक्षण देने की पढ़ाई भी हमने की होती है। शिक्षक, शिक्षक संघों और एसोसिएशन का हिस्सा भी होते हैं जिनसे यह अपेक्षित होता है कि वे शिक्षकों के फ़ायदे और विकास के लिए कार्य करेंगे। तो इन तीन आधारों पर तो हम यह कह सकते हैं कि शिक्षक का काम एक पेशेवर जैसा ही है। हालाँकि अगर अन्य दो बिन्दुओं को देखा जाए तो भारत में नए शिक्षकों की भर्ती और प्रशिक्षण में हम कार्यरत शिक्षकों की कोई निर्णायक भूमिका नहीं होती। स्वायत्तता एक ऐसी स्थिति बन चुकी है जिसके तो अब हमें बस सपने ही आते हैं। कुछ वैकल्पिक और प्रयोग आधारित शिक्षण संस्थाएँ और विद्यालय हैं जहाँ शिक्षकों को शायद हमसे ज़्यादा स्वायत्तता मिलती है लेकिन बड़े स्तर पर देखा जाए तो इस तंत्र की प्रक्रियाएँ नौकरशाही और मशीनी हैं। तो सब मिलाकर देखा जाए तो एक शिक्षक का काम कुछ हद तक तो एक पेशेवर-सा है, पर इसमें बहुत कुछ सुधार की सम्भावनाएँ भी हैं।

वर्षा : देखो, इतनी जल्दी निर्णय पर पहुँचने की ज़रूरत नहीं है। जिस तरह इसे मैं देख पा रही हूँ, मुझे लगता है कि एक शिक्षक पेशेवर होता है। जैसे हम फ़िनलैण्ड का उदाहरण लें, जहाँ शिक्षक स्वायत्तता का स्तर बहुत अधिक है और शिक्षकों के योग्यता मानक का स्तर भी बहुत ऊँचा है। भारत की स्थिति में शिक्षकों के काम को समाज सेवा के तौर पर भी देखा जाता है और यह माना जाता है कि उनका काम राष्ट्र निर्माण में योगदान है।

कई देशों में केवल उच्च शैक्षणिक योग्यता वाले लोगों को ही शिक्षण के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। और जैसा कि तुमने भी कहा, हमारे यहाँ शिक्षक संघ होते हैं जो शिक्षकों के कल्याण के लिए काम करते हैं और आवाज़ उठाते हैं। हालाँकि, मैं ऐसा उदाहरण याद नहीं कर पा रही हूँ जहाँ शिक्षकों के चयन और प्रशिक्षण में अन्य शिक्षकों की निर्णायक भूमिका होती हो। तो इस तरह शिक्षण एक पेशे के तौर पर 5 में से 4 मानदण्डों की पूर्ति तो कर ही रहा है।

कंचन : अब तो मैं और अधिक सोच में पड़ गई हूँ।

वर्षा : मैं भी। रुको, मेरे पास एक और आलेख है। शायद इससे हमारी समस्या और

हमारे सवालों का कुछ जवाब मिल पाए।

कंचन : ठीक। इसे भी देखते हैं। इसमें क्या कहा गया है?

वर्षा : तो इस लेख में एलन सी. ओर्नस्टीन ने किसी पेशे के 10 तत्त्वों को सूचीबद्ध किया है। इसमें से कुछ तो वही कहते हैं जो सिड्नी ने अपने लेख में कहा, लेकिन कुछ उससे अलग हैं। जैसे कि यह 'एक नियोजित ज्ञान जो कि पेशेवर विद्यालयों या विश्वविद्यालयों से अर्जित किया गया हो।' (A defined body of knowledge learned in universities or professional schools). तो उनका मत यहाँ स्पष्ट है कि विषय या पेशे का ज्ञान किसी औपचारिक संस्था से ही ग्रहण किया गया हो। इसका दूसरा पहलू देखा जाए तो यह अनुभव या अनौपचारिक स्रोतों से मिले ज्ञान को नज़रअन्दाज़ करता हुआ लग रहा है।

कंचन : सही, लेकिन अगर दूसरे और तीसरे बिन्दु 'शोध और सिद्धान्त को प्रोत्साहन और कार्य के साथ संयोजन' (Research and theory [are] encouraged and combined with practice) और 'लाइसेन्स के मानकों एवं प्रवेश सम्बन्धी आवश्यकताओं पर नियंत्रण' (Control over licensing standards and entry requirements), को देखा जाए तो अभी हम इस स्थिति से बहुत दूर हैं।

वर्षा : अन्य कुछ बिन्दु हैं, 'अपने ख़ुद के काम के निर्धारण में स्वायत्तता' (Autonomy in determining one's own work), 'कार्य के प्रति समर्पण का भाव' (High commitment to work) और 'अच्छी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति' (High status and economic standing).

कंचन : स्वायत्तता के मुद्दे पर तो हम चर्चा कर ही चुके हैं। जहाँ तक रही सामाजिक और आर्थिक स्थिति की बात, तो मैं उससे भी इत्तेफ़ाक़ रखती हूँ। मुझे भी यह महसूस होता है कि समुदाय में हम लोगों की एक अलग पहचान होती है। सामाजिक चर्चाओं के बीच लोगों की रुचि होती है यह जानने में कि एक शिक्षक विषय पर क्या राय रखता है और हमारी बात ध्यान से सुनी भी जाती है। हालाँकि, कुछ प्रभाव इस बात का भी पड़ता है कि आप कैसे स्कूल में और किस पद पर पढ़ा रहे हैं। और छठे और सातवें वेतन आयोग के बाद हमारी आर्थिक स्थिति भी पहले से बहुत बदली है।

वर्षा : सुनो, एक और बात जो एलन कहते हैं, 'प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा पेशेवरों की सुगमता दिशा में कार्य; (प्रशासन) के कार्य को कम वरीयता और और उनका पद अवांछनीय' (Administrators facilitating the work of professionals; their functions being secondary and their post undesirable) मुझे लगता है यह बात आयुर्विज्ञान (मेडिकल) के क्षेत्र पर ज़्यादा लागू होती है, जहाँ चिकित्सकों को ज़्यादा महत्त्व दिया जाता है और प्रशासनिक अधिकारी परदे के पीछे से काम करते हैं।

कंचन : तुम सही कह रही हो, और हमारी स्थिति में चीज़ें बिल्कुल उलट स्थिति में हैं। यहाँ प्रशासन इस तंत्र का सबसे शक्तिशाली धड़ा है जबकि हम शिक्षक इसमें सबसे निचले पायदान पर नज़र आते हैं। कुछ समय पहले तो यह चर्चा भी ज़ोरों पर थी कि शिक्षकों के बदले ऑडियो-वीडियो (AV) माध्यम से ही बच्चों को पढ़ाया जाए। मुझे तो यह नहीं समझ आता कि किस बात से लोग ऐसा मान लेते हैं कि शिक्षण एक आसान काम है और कोई भी या कैसे भी इसे कर सकता है।

वर्षा : अरे, तुम तो भावुक हो रही हो यार! मैं तुम्हारी बातों से सहमत हूँ। शिक्षक जो कि बच्चों के बीच मौजूद रहकर काम करते हैं उन्हें शिक्षातंत्र में वह जगह नहीं मिलती जिसके वे हक़दार हैं। मैं तो यह मानती हूँ कि समय की आवश्यकता यह है कि सारा तंत्र शिक्षकों के सशक्तिकरण के लिए काम करे।

कंचन : जब भी विद्यार्थियों के ख़राब शैक्षणिक प्रदर्शन की कोई रिपोर्ट सामने आती है, सारा दोष एक तरीक़े से शिक्षकों पर ही

डाल दिया जाता है। मुझे तो लगता है कि हमें एक आपातोपयोगी मानव समूह मान लिया गया है जिसे किसी भी काम के लिए लगाया जा सकता है, चाहे वह चुनाव करवाना हो या इंसानों या पशुओं की गणना करना। हमारे लिए 'आवश्यकता आधारित' ट्रेनिंग करवाई जाती हैं जिनमें हमारी काल्पनिक आवश्यकताओं का समाधान हमें बताया जाता है। कई बार तो यह ट्रेनिंग इसी आधार पर हो जाती हैं कि किस विषय के मास्टर-ट्रेनर उपलब्ध हैं उस समय। हमें बाहरी लोगों की ज़रूरत नहीं है यह बताने के लिए कि क्यों हमारे बच्चे पिछड़ रहे हैं या सीख नहीं पा रहे हैं। हमें पता है। समस्या यह है कि हमसे अपेक्षित है कि हम पिछड़ रहे या कमज़ोर बच्चों के साथ ज़्यादा समय बिताएँ ताकि उन्हें बाक़ी कक्षा के साथ लाया जा सके। उसी के साथ हमें बाक़ी की कक्षा को भी आगे का पढ़ाना है और पाठ्यक्रम पूरा करवाना है। और उसके साथ तमाम तरह के पत्रक भरकर भिजवाने हैं, पोर्टफ़ोलियो तैयार करने हैं, बच्चों को मध्याह्न भोजन (एमडीएम) व दूध भी देना है और इन सब गतिविधियों के बीच हमारे पास पढ़ाने के लिए कितना समय बचता है? कई बार हम एक समूह को पढ़ाते हैं और दूसरा समूह छूट जाता है।

वर्षा : तो तुम उनको ख़ुद से करने के लिए कोई गतिविधि नहीं देतीं?

कंचन : मुझे तो इसमें भी समस्या नज़र आती है। कई बार हम उन्हें कोई गतिविधि दे देते हैं ताकि वे व्यस्त रहें जबकि होना यह चाहिए कि हम उनके साथ उनके ज्ञान में वृद्धि करने की दिशा में काम करें। इस तरह गतिविधियाँ देकर हम ज़्यादा-से-ज़्यादा यह सुनिश्चित कर पाते हैं कि बच्चा अपने वर्तमान स्तर से नीचे ना जाए। अब हम पारलौकिक तो हैं नहीं, इंसान ही हैं। एक साथ कई कक्षाओं को सँभालना-पढ़ाना-सिखाना एक थका देने वाली प्रक्रिया है और हमें एक कालांश के साथ समय ही कितना मिलता है, 30-40 मिनट। कई बार तो मुझे लगता है कि आज मैंने किसी को कुछ पढ़ाया-सिखाया ही नहीं।

वर्षा: थोड़ी-सी समस्या तो तुम्हारे इस रवैए में भी है।

कंचन : मतलब?

वर्षा : मैं यह नहीं समझ पाती कि क्यों शिक्षक विद्यार्थियों को सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार नहीं मानते। क्या तुम्हें अपनी सोच भी उन प्रशासनिक अधिकारियों जैसी ही नहीं लगती जिनसे तुम्हें शिकायत है? उनकी तरह तुम्हें भी यही लगता है कि सीखना-सिखाना तभी हो पाएगा, जब तुम करवाओगी। बच्चों का ज्ञान प्राप्ति का मार्ग तुम्हीं से होकर गुज़रता है और वे केवल एक ख़ाली स्लेट के समान हैं जिस पर ज्ञान की इबारत तुम्हारे ही हाथों से लिखी जा सकती है। मेरी सोच में तो यह भी कोई पेशेवर रवैया नहीं है। एक शिक्षक के पेशेवर होने की अवधारणा अन्य पेशों या पेशेवरों से अलग होती है। मेरे मत में तो शिक्षक के पेशे में यह सबसे महत्त्वपूर्ण है कि वह अपने साथियों और विद्यार्थियों के लिए सीखने-सिखाने के अवसर उपलब्ध कराए और इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करे और यह बात पेशेवर होने की जितनी अवधारणाएँ हमने पढ़ीं, उनमें नहीं कही गई है।

कंचन : अब तो तुम आदर्शवादी और पक्षपाती हो रही हो। हम भी आख़िर एक सामाजिक प्राणी हैं। जिस माहौल में हम काम करते हैं, उसमें अकसर हर किसी के पास हमें कहने के लिए कुछ है लेकिन हमारी बात सुनकर कोई राज़ी नहीं है, जिस वजह से अति-आवश्यक से ज़्यादा कुछ करने का मन ही नहीं करता। ये तंत्र हमसे अपेक्षा करता है कि हम एक पूर्व नियोजित और पूर्णतया निर्देशित तरीक़े से काम करें। रचनात्मकता और सजगता की वजह से कई बार आप अपने ही साथियों और अधिकारियों के निशाने पर आ जाते हो। हममें से अधिकतर शिक्षक यहाँ यही सपना लेकर

आए थे कि वे विद्यालय के सबसे चहेते शिक्षक बनेंगे और अपने हर एक विद्यार्थी के जीवन को बेहतर बना पाएँगे, पर अन्त में सारी लड़ाई यहाँ तंत्र में बने रहने तक ही सीमित रह जाती है। विद्यार्थियों की बेहतरी के लिए नित नए प्रयास हो रहे हैं लेकिन कई बार नई-नई नीतियाँ हमारे हाथ पहले से भी ज़्यादा ज़ोर से जकड़ देती हैं।[1]

वर्षा : काश, मैं तुम्हारी स्थिति को पूरी तरह समझ पाती! लेकिन सच कहूँ तो इस विषय पर मेरी समझ अभी सीमित ही है। नीतियों के सम्बन्ध में कही तुम्हारी बात का मैं भी समर्थन करती हूँ। शायद हमारे नीति निर्माता भी, अपने तमाम तजुर्बों, ज्ञान, सोच और विशेषज्ञता के बावजूद इस विचार को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि हर शिक्षक, कक्षा और उसमें पढ़ने वाला हर विद्यार्थी अपने आप में अनूठा है। जो आज काम कर रहा है, शायद कल वह ना करे, या जो पद्धति एक विद्यार्थी के लिए उपयोगी है, वह दूसरे के लिए ना हो। नीतियाँ और कार्यक्रम इस सोच के साथ बनाए हुए लगते हैं कि हर शिक्षक इन कार्यक्रमों को समान रूप से लागू कर पाने में सक्षम है और छात्र की रुचि का स्तर भी समान है।

क्या तुम्हें मालूम है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा 2005 शिक्षकों को 'ज्ञान के सृजनकर्ता और चिन्तनशील पेशेवर' के रूप में परिभाषित करती है। मैं भी चिन्तनशील पेशेवर के बिन्दु से सहमत हूँ, पर ज्ञान के सृजनकर्ता वाली बात से थोड़ा मतभेद है। मुझे लगता है कि बच्चों की शिक्षा केवल एक शिक्षक पर ही निर्भर नहीं है और वे अपने परिवेश से भी हर समय सीख रहे होते हैं। शिक्षक की भूमिका उस सुगमकर्ता की है जो उन्हें अपने परिवेश के ज्ञान और शैक्षणिक ज्ञान को जोड़ने की कला सिखाते हैं। ज्ञान के सृजनकर्ता की अवधारणा तो शिक्षकों के सीखने की प्रक्रिया को भी प्रभावित करती है। हमें यह मानना पड़ेगा कि अगर सीखना एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है तो यह बच्चों और शिक्षकों, दोनों पर लागू होती है।

कंचन : चलो, कम-से-कम राष्ट्रीय पाठ्य-चर्चा की रूपरेखा 2005 की नज़र में तो हम पेशेवर हैं। इस पेशे की प्रकृति एलन और सिड्नी की कही बातों के मुताबिक़ भी है। लेकिन उससे अलग भी है। तो फिर अन्त में हम क्या हुए?

वर्षा : हा...हा...हा... लगता है यह पेशा वैसा ही है जिसे अमिताई एट्जीयोनि 'आंशिक-पेशेवर' कहते हैं (ओर्नस्टीन, 1977)।

(दोनों हँसती हैं)

कंचन : यह एक बहुत ही मज़ेदार और ज्ञानवर्धक चर्चा रही। काफ़ी अरसे बाद मैंने अपने काम और बच्चों को लेकर किसी से बात की है। मुझे बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार होने की बात से सहमत ना होने की कोई वजह नज़र नहीं आती। हम हमेशा इस प्रक्रिया में एक-दूसरे के सहयोगी होने की बात तो करते हैं, पर उस पर ज़्यादा अमल नहीं करते। पर शायद अब इस स्थिति को बदलने का वक़्त आ गया है।

वर्षा: इस बातचीत ने मुझे जवाबों से ज़्यादा सवाल दिए हैं। मैं उम्मीद करती हूँ कि प्रशासन और स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा भी इस दिशा में क़दम उठाए जाएँ और शिक्षकों की समस्याओं पर समानुभूति के साथ विचार और चर्चा हो। शिक्षा जगत में कोई भी बड़ा बदलाव शिक्षकों को साथ लेकर चले बिना सम्भव नहीं है। तो शिक्षकों को निशाने पर रखने की जगह अगर उन्हें सशक्त बनाए जाने पर ज़ोर दिया जाए, तो शायद बात थोड़ी जल्दी बन जाए। साथ ही उम्मीद है कि शिक्षक भी विद्यार्थियों के प्रति अपने रवैए में बदलाव लाने की दिशा में सोचेंगे।

कंचन : और मैं प्रार्थना करूँगी कि तुम्हारी सारी उम्मीदें पूरी हो जाएँ।

1. उपर्युक्त चर्चा राजस्थान में कुछ समय पहले हुई एक कार्यशाला में शिक्षकों के साथ हुई बातचीत पर आधारित है।

शिक्षकों के काम को किसी एक परिभाषा से बता पाना बड़ा मुश्किल है। अगर सभी प्रशिक्षणों को जोड़ा जाए तो शायद हमारे सैन्य बल के बाद शिक्षक जगत ही सबसे ज़्यादा प्रशिक्षित समूह है। लेकिन इस सबके बावजूद शिक्षा तंत्र में यह शिक्षक ख़ुद को हाशिए पर खड़ा पाता है।

कंचन और वर्षा के बीच हुई इस चर्चा में हमने देखा कि एक शिक्षक अपने दैनिक जीवन में किन–किन समस्याओं से जूझता है। शिक्षकों को केवल आलेखों में पेशेवर मान लेना और उन्हें एक पेशेवर–सी स्वायत्तता और सम्मान ना देना उनके साथ अन्याय करना है। जितनी ज़रूरत शिक्षकों को एक समर्पित प्रशासन तंत्र की है, उससे कहीं ज़्यादा ज़रूरत तंत्र को समर्पित और सक्षम शिक्षकों की है।

सन्दर्भ

Dorros, Sidney. *'Teachers as Labor; Teachers as Professionals.'* The High School Journal, 1971: 413-421.

Dhankar, Rohit. *Demotivating Teachers. 'Thinking Aloud'.* August 18, 2015. https://rohitdhankar.com/2015/08/18/demotivating-teachers/

Ornstein, Allan C. *'Teachers as professioanals.'* Social Science, 1977: 139-144.

Framework, National Curriculum. National Focus Group on Teacher Education for Curriculum Renewal. Delhi: NCERT, 2005.

वेनु तनेजा शिक्षाशास्त्र में परास्नातक हैं और वर्तमान में ग्वालियर में एक विद्यालय के साथ जुड़ी हैं।

सम्पर्क : venu.taneja14@apu.edu.in

अंकित मौर्य शिक्षाशास्त्र में परास्नातक हैं और वर्तमान में विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में शोधरत हैं।

सम्पर्क : ankit12maurya@gmail.com

'इसी रटन्त विद्या का नाम शिक्षा रख छोड़ा है' : प्रेमचंद

निशा नाग

1934 में प्रकाशित प्रेमचंद की कहानी 'बड़े भाई साहब' भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर तीखी साहित्यिक संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करती है, जो आज 85 वर्ष बाद भी प्रासंगिक प्रतीत होती है। रटन्त प्रणाली, उबाऊ शिक्षा, पढ़ाई का बोझ, परीक्षा प्रणाली और प्रतियोगिता के इर्दगिर्द बुनी गई यह कहानी छोटे और बड़े भाई के पढ़ने-लिखने के तरीकों की जद्दोजहद के बीच शिक्षा के कई गहरे सवाल उठाती है, जिसमें पारम्परिक और नए विचारों की शिक्षा का द्वंद्व मुखरता से दिखाई देता है।

शिक्षा विमर्श में इस तरह के लेखों का टोटा है जो साहित्य की खिड़की से शिक्षा के अहाते में झाँकने की कोशिश करते हों। निशा नाग का यह लेख इस कमी को पूरा करने की पहल दिखाई देती है।

निशा नाग ने 'बड़े भाई साहब' के उद्धरणों की व्याख्या के माध्यम से आज के सन्दर्भ में शिक्षा के मायने, मकसद और ज़रूरत को देखने की कोशिश की है। सं.

इस लेख की शुरुआत एकदम अनौपचारिक ढंग से और घर परिवार से शुरू करूँ तो घर के 95 वर्षीय बुज़ुर्ग अकसर कहते हैं- 'ये जो एक्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर होते हैं, ये केवल फ़ाइल के इंजीनियर होते हैं। सिर्फ़ फ़ाइलें चलाते हैं किसी भी योजना को अमली जामा तो कोई और ही पहनाता है। ये जो इलैक्ट्रॉनिक इंजीनियर होते हैं, ये आपके फ्रिज या टीवी को ठीक नहीं कर सकते। इसे ठीक करने वाला मैकेनिक, तकनीक में उच्च शिक्षित व्यक्ति नहीं होगा, वह वही होगा जो दसवीं या बारहवीं पास है और जिसने किसी मैकेनिक के साथ रहकर काम सीखा है।' उनकी इस बात की सच्चाई शिक्षा व्यवस्था की बुनियादी ख़ामी की ओर सोचने पर मज़बूर कर देती है। आज आम आदमी के मन में शिक्षा की आम अवधारणाओं में, चाहे वह शहरी समाज से हो या ग्रामीण, कमोबेश कोई अन्तर नहीं है। हाँ, यह फ़र्क़ पढ़े-लिखे या निर्धन मज़दूर वर्ग की सोच में हो सकता है। पहले छह या सात बरस से पहले बच्चे स्कूल न भेजे जाते थे, अब आँगनवाड़ियों ने इस चलन को बदला है, दूसरे अँग्रेज़ी शिक्षा के प्रति बढ़ते मोह ने गाँव के आसपास खुलने वाले तथाकथित कॉनवेण्ट में बच्चे को भरती कराने के लालच ने भी स्कूल भेजने की इस उम्र को घटाया है। कुल मिलाकर शहरों में अब तीन बरस तक और गाँवों में पाँच बरस की आयु तक शिशु को स्कूल भेज दिया जाता है। इसके बाद वह शिशु स्कूल में पढ़ते हुए ही किशोर और वयस्क होता है। शिक्षा के उद्देश्य और अवधारणा पर अकसर बहस की जाती रही है। शिक्षा के सन्दर्भ में एक साधारण और सर्वमान्य बात यह की जाती है कि शिक्षा व्यक्ति को सुसंस्कृत और सभ्य बनाने के साथ-साथ उसकी समझ और योग्यताओं का भी विकास करती है। शिक्षा द्वारा शिशु की क्षमताओं को विकसित किया जाता है तथा उसमें नई सक्षमता का निर्माण किया जाता है। शिक्षा के बारे में कुछ जाने-माने तथ्य यह हैं कि शिक्षा और शिक्षा का तरीक़ा किसी भी समाज का आईना होते हैं।

शिक्षा द्वारा विद्यार्थी को उसके परिवेश, समाज, राष्ट्र, विश्व, भौगोलिक, सामाजिक-आर्थिक जीवन आदि से सम्बन्धित कुछ तथ्य दिए जाते हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति की समझ या अन्तर्दृष्टि विकसित होती है। व्यक्ति के भीतर किसी भी स्थिति से सम्बन्धित विविध तथ्यों को जान लेने के बाद उनके सन्दर्भ में उचित निर्णय ले पाने की क्षमता का विकास भी शिक्षा ही करती है। शिक्षा द्वारा समाज अपने नागरिकों में रहने-खाने, ओढ़ने-पहनने, बातचीत-व्यवहार करने से सम्बन्धित विभिन्न आदतों का विकास किया जाता है। जीवन व्यवहार से सम्बन्धित तमाम नैतिक अभिवृत्तियों और आदतों का विकास शिक्षा के द्वारा किया जाता है जिसमें स्वच्छता से लेकर समाज के अन्य लोगों के साथ किया जाने वाला व्यवहार आदि शामिल हैं। शिक्षा की एक अन्य ज़िम्मेदारी सामान्य नागरिक जीवन जीने हेतु कौशल प्रदान करना भी है, ताकि वह भावी जीवन में रोज़गार प्राप्त कर सके।

वर्तमान शिक्षा पद्धति के सन्दर्भ में यदि इतिहास में जाया जाए तो भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्वाधीनता आन्दोलन के उभार के साथ ही 1920 में शिक्षा पर एक व्यापक बहस होते हुए भी देखते हैं। यह वह युग था जब अँग्रेज़ सरकार और उसकी नीतियों को शंका की नज़र से देखा जाने लगा था व उसके साथ ही शिक्षा व्यवस्था भी सवालों के घेरे में आ गई थी। 1937 में वर्धा में गाँधीजी ने बुनियादी तालीम की बात की, जिसमें मोटेतौर पर यह कहा गया था कि पाँचवी कक्षा तक छात्र सभी विषयों का सामान्य अध्ययन करे, उसके पश्चात उसकी अभिरुचि और क्षमता को देखते हुए विज्ञान, अर्थशास्त्र अथवा अन्य विषय छात्र को पढ़ने को दिया जाए। विद्यालय में साढ़े पाँच घण्टों की अवधि के दौरान लगभग तीन घण्टे कढ़ाई-बुनाई, कताई-रंगाई आदि किसी भी विषय का प्रशिक्षण दिया जाए, किन्तु आधुनिक शिक्षा व्यवस्था साक्षर बनाने पर अधिक बल देती है और शिक्षा पर कम।

शिक्षा पद्धति की इस ख़ामी को अँग्रेज़ी शासन काल से ही बड़ी शिद्दत से महसूस किया जाने लगा था, किन्तु अफ़सोस कि आज स्वतंत्र हुए भी 72 साल बीत गए पर कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। स्थानीय भाषाओं के प्रति उदासीनता बढ़ी है और अँग्रेज़ी भाषा के प्रति मोह ने शिक्षा को दुकानदारी में बदल दिया है। इससे भी आगे शिक्षा छात्रों की रुचि को अवरुद्ध करती है, इसे सभी महसूस करते हैं। आज से 85 वर्ष पूर्व लिखी गई मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'बड़े भाई साहब' में विद्यार्थी की नज़र से जिस शिक्षा पद्धति की बात की गई है, वह आज भी मौजूद है। इस कहानी में लेखक एक नई तरह की दुनिया रचने को उत्सुक दिखाई देता है। जिस दशक में भारत— ख़ासकर उत्तर भारत— नए माहौल से गुज़र रहा था और उस माहौल में जीने का क्या अर्थ था, इससे सम्बन्धित प्रेमचंद की विशद दृष्टि इस कहानी में दिखाई देती है। अप्रैल 1930 के हंस में प्रेमचंद लिखते हैं।

'इस नई शिक्षा का आशय क्या है? आज्ञापालन हमारे जीवन का एक अंग है और हमेशा रहेगा। अगर हर एक आदमी अपने मन की करने लगे, तो समाज का शिराजा बिखर जाएगा। अवश्य हर एक घर में जीवन के इस मौलिक तथ्य की रक्षा होनी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही माता-पिता की यह कोशिश होनी चाहिए कि उनके बालक उन्हें पत्थर की मूर्ति या पहेली न समझें। चतुर माता-पिता बालकों के प्रति अपने स्वभाव को जितना स्वाभाविक बना सकें उतना बनाना चाहिए। क्योंकि बालक के जीवन का उद्‌देश्य कार्यक्षेत्र में आना है केवल आज्ञा मानना नहीं है। वास्तव में जो बालक इस तरह की शिक्षा पाते हैं उनमें आत्मविश्वास का लोप हो जाता है। वे हमेशा किसी की आज्ञा का इन्तज़ार करते हैं। हम समझते हैं कि आज कोई भी बाप अपने बालक को ऐसी आदत डालने वाली शिक्षा न देगा।'

प्रेमचंद का यह लेख इस शिक्षा व्यवस्था पर ऐसा व्याख्यान है जिसमें पूरा एक अरमान

दिखाई देता है।

प्रेमचंद की कहानी 'बड़े भाई साहब' शिक्षा व्यवस्था के सन्दर्भ में आज भी प्रासंगिक है। 1934 में प्रकाशित 'बड़े भाई साहब' कहानी केवल रचना नहीं, एक प्रतीक है। कहानी की शुरुआत इसी तथ्य से होती है कि–

'मेरे बड़े भाई साहब मुझसे पाँच साल बड़े थे लेकिन केवल तीन दरजे आगे। उन्होंने भी उसी उम्र में पढ़ना शुरू किया था जब मैंने शुरू किया; लेकिन तालीम जैसे महत्त्व के मामले में वह जल्दबाज़ी से काम लेना पसन्द न करते थे।... मैं छोटा था वह बड़े थे। मेरी उम्र नौ साल की, वह चौदह साल के थे। उन्हें मेरी तम्बीह और निगरानी का पूरा जन्मसिद्ध अधिकार था। और मेरी शालीनता इसी में थी कि मैं उनके हुक्म को क़ानून समझूँ।'[1]

इस कहानी की शुरुआत ही भारतीय परिवार की उस व्यवस्था की ओर इशारा करती है जहाँ बड़ा भाई या बहन माता-पिता के बाद द्वितीय अभिभावक होता है। और उससे उसका बचपन छीनकर यह उम्मीद की जाती है कि वह प्रौढ़ की तरह व्यवहार करे। उससे तमाम तरह की नैतिकताओं और मर्यादाओं के पालन की उम्मीद रखी जाती है। भाषा अध्ययन की दृष्टि से भी यह पाया गया है कि घर के बड़े बच्चे की भाषा में गार्ज़ियन की भाषा के अनुकरण के तत्त्व अधिक मिलते हैं। यह कहानी भारतीय समाज में संयुक्त परिवार में बड़े बच्चे की स्थिति का संकेत मात्र ही नहीं है, किस परिस्थिति और मानसिक दबाव में घर का बड़ा बच्चा पढ़ रहा है कि उसके लिए पढ़ाई एक अतिरिक्त व्यायाम है या उसकी मज़बूरी है कि चाहे मन हो या न हो, वह किताब लेकर बैठा रहे। किताब के भीतर सर घुसाए रखने को अध्ययनशीलता का पर्याय माना गया है क्योंकि यह शिक्षा पद्धति प्रश्न उठाने को नहीं, आज्ञाकारिता को महत्त्व देती है। प्रेमचंद कहते हैं-

'बड़े भाई साहब स्वभाव से बड़े अध्ययनशील थे। हरदम किताब खोले बैठे रहते और शायद दिमाग़ को आराम देने के लिए कभी कॉपी पर, कभी किताब के हाशियों पर चिड़ियों, कुत्तों, बिल्लियों की तस्वीरें बनाया करते थे।'[2]

प्रेमचंद की यह ख़ासियत है कि सूक्ष्म संकेतों में वह बहुत कुछ कह जाते हैं। किसी भी बच्चे की मन:स्थिति को यदि जानना हो तो उसकी रफ़ कॉपी के अन्तिम पेज पर देखा जाए, उन टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियों में उसका पूरा मनोविज्ञान बोलता है। हम सब भी अकसर किसी व्याख्यान में मन न लगने पर 'जोई सोई कछु गावै' के अन्दाज़ में कुछ आकृतियाँ बनाते हैं। बड़े भाई साहब का जी पढ़ने में हरगिज़ नहीं लगता, किन्तु पढ़ने का ड्रामा करना उनके लिए ज़रूरी है। जबकि छोटा भाई स्वीकार करता है कि

'मेरा जी पढ़ने में बिल्कुल न लगता था। एक घण्टा भी किताब लेकर बैठना पहाड़ था। मौक़ा पाते ही होस्टल से निकल कर मैदान में आ जाता और कभी कंकरियाँ उछालता, कभी काग़ज़ की तितलियाँ उड़ाता और कहीं कोई साथी मिल गया तो फिर पूछना ही क्या?'3 और उधर कमरे में जाते ही भाई साहब का पहला सवाल यही होता– 'कहाँ थे'?

और इस प्रश्न के उत्तर में छोटा भाई अपराध बोध से ग्रस्त हो जाता। क्योंकि बड़े भाई साहब कमरे की चारदीवारी में बन्द होकर पुस्तकों में सर घुसाए थे और वह बाहर उन्मुक्त घूम रहा था। और फिर बड़े भाई साहब का उपदेश शुरू होता–

1. प्रेमचंद से दोस्ती : सम्पादक विकास नारायण राव : कहानी : बड़े भाई साहब, पृ. 108

2. वही पृ. 108.

3. वही पृ. 109.

इस तरह अँग्रेज़ी पढ़ोगे तो ज़िन्दगी भर पढ़ते रहोगे और हर्फ़ न आएगा। अँग्रेज़ी पढ़ना कोई हँसी-खेल नहीं है कि जो चाहे पढ़ ले, नहीं ऐरा गैरा नत्थू खैरा सभी अँग्रेज़ी के विद्वान हो जाते। यहाँ रात-दिन आँखें फोड़नी पड़ती हैं और ख़ून जलाना पड़ता है, तब कहीं यह विधा आती है। और आती क्या है! हाँ, कहने को आ जाती है। बड़े-बड़े विद्वान भी शुद्ध अँग्रेज़ी नहीं लिख सकते, बोलना तो दूर रहा। और मैं कहता हूँ तुम कितने घोंघा हो कि मुझे देखकर भी सबक नहीं लेते। मैं कितनी मेहनत करता हूँ, तुम अपनी आँखों से देखते हो!... रोज़ ही क्रिकेट और हॉकी मैच होते हैं। मैं पास नहीं फटकता। हमेशा पढ़ता रहता हूँ उसपर भी एक-एक दरजे में दो-दो, तीन-तीन साल पड़ा रहता हूँ, फिर तुम कैसे आशा करते हो कि तुम यों खेलकूद में वक़्त गँवाकर पास हो जाओगे?'[4]

डाँट खाकर छोटा भाई कमर कसता, टाइम टेबल बनाता जिसमें निरन्तर अध्ययन का ही प्रावधान होता, किन्तु खेल का मैदान छोटे भाई को खींच ले जाता। 'मैदान की वह सुखद हरियाली, हवा के वह हलके-हलके झोंके, फ़ुटबाल की उछल-कूद, कबड्डी के वह दाँव-घात, वॉलीबॉल की वह तेज़ी और फुरती, मुझे अज्ञात और अनिवार्य रूप से खींच ले जाती और वहाँ जाते ही मैं सब कुछ भूल जाता। वह जान लेवा टाइमटेबल, वह आँख-फोड़ पुस्तकें, किसी की याद न रहती, और फिर भाई साहब को नसीहत और फ़ज़ीहत का अवसर मिल जाता।' किन्तु होता यह है कि छोटा भाई खेलते-कूदते भी पास हो जाता है और केवल पास ही नहीं होता, बल्कि अपने दरजे में अव्वल भी आ जाता है। जबकि बड़ा भाई फ़ेल हो जाता है और उनके और छोटे भाई के बीच केवल दो साल का अन्तर रह जाता है। छोटा भाई चाहता है कि बड़े भाई को खरी खोटी सुनाए, पर उनका दुख और उदासी देखकर उसे उनसे दिली हमदर्दी होती है और उनके घाव पर नमक छिड़कने का ख़्याल ही बहुत लज्जास्पद जान पड़ता है। किन्तु अब वह साफ़तौर पर भाई साहब की अवहेलना करने लगा और अपना भरपूर समय खेलकूद में बिताने लगा। लेकिन एक दिन जब छोटा भाई सुबह का सारा समय गुल्ली डण्डे की भेंट करके दोपहर में ठीक भोजन के समय लौटता है तो बड़े भाई साहब तलवार खींच लेते हैं—

'देखता हूँ, इस साल पास हो गए और दरजे में अव्वल आ गए तो तुम्हें दिमाग़ हो गया है; मगर भाई जान घमण्ड तो बड़ों-बड़ों का नहीं रहा तुम्हारी क्या हस्ती है?... महज़ इम्तहान पास कर लेना कोई चीज़ नहीं, असल चीज़ है बुद्धि का विकास। जो कुछ पढ़ो उसका अभिप्राय समझो।'

और बड़े भाई साहब रावण से लेकर शैतान और शाहेरुम तक के उदाहरण छोटे भाई को देते हैं जो घमण्ड करने का अपराध कर सज़ा पा चुके हैं। इससे आगे का भाई साहब का उपदेश शिक्षा व्यवस्था पर अच्छा ख़ासा शोध है। भाई साहब कहते हैं—

'मेरे दरजे में आओगे, तो दाँतों पसीना आ जाएगा, जब अलज़बरा और जामेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे और इंगलिस्तान का इतिहास पढ़ना पड़ेगा। बादशाहों के नाम याद रखना आसान नहीं। आठ-आठ हेनरी ही गुज़रे हैं। कौन-सा काण्ड किस हेनरी के समय में हुआ, क्या यह याद कर लेना आसान समझते हो? हेनरी सातवें की जगह हेनरी आठवाँ लिखा और सब नम्बर ग़ायब! सफ़ाचट। सिफ़र भी न मिलेगा, सिफ़र भी! हो किस ख़्याल में! दर्जनों तो जेम्स हुए हैं, दर्जनों विलियम्स, कौड़ियों चार्ल्स! दिमाग़ चक्कर खाने लगता है। आँधिया रोग हो जाता है। इन अभागों को नाम भी न जुड़ते थे। एक ही नाम के पीछे

4. वही पृ. 110.

5. वही पृ. 111.

दोयम, तेयम, चहारम, पंजुम लगाते चले गए। मुझसे पूछते, तो दस लाख नाम बता देता और जामेट्री तो ख़ुदा की पनाह! अ ब ज की जगह अ ज ब लिख दिया और सारे नम्बर कट गए। कोई इन निर्दयी मुमतहिनों से नहीं पूछता कि आख़िर अ ब ज और अ ज ब में क्या फ़र्क़ है, और व्यर्थ की बात के लिए क्यों छात्रों का ख़ून करते हो? दाल भात रोटी खाई या भात दाल रोटी खाई, इसमें क्या रखा है; मगर इन परीक्षकों को क्या परवाह। वह तो वही देखते हैं, जो पुस्तकों में लिखा है। चाहते हैं कि लड़के अक्षर-अक्षर रट डालें। इसी रटन्त विद्या का नाम शिक्षा रख छोड़ा है।'[5]

प्रेमचंद ने अपने विषय में कहा है– 'गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी था जिसपर कभी न चढ़ सका'। प्रेमचंद के विषय में यह तथ्य सर्वविदित है कि वह मैट्रिक में तीन बार फ़ेल हुए और तभी मैट्रिक पास कर पाए जब गणित विषय की अनिवार्यता मैट्रिक के लिए समाप्त हो गई। यहाँ प्रेमचंद 'बड़े भाई साहब' के माध्यम से न जाने कितने ही विद्यार्थियों की व्यथा साझा करते हैं। *बड़े भाई साहब कहते हैं–*

'और आख़िर इन बे-सर-पैर की बातों को पढ़ने से फ़ायदा? इस रेखा पर वह लम्ब गिरा दो, तो आधार लम्ब से दोगुना होगा। पूछिए, इससे प्रयोजन? दोगुना नहीं, चौगुना हो जाए, या आधा ही रहे, मेरी बला से; लेकिन परीक्षा में पास होना है तो यह सब ख़ुराफ़ात याद करनी पड़ेगी। और विषयानुकूल लेखन का तो यह हाल है कि कह दिया– 'समय की पाबन्दी पर एक निबन्ध लिखो, जो चार पन्नों से कम न हो।'... 'जो बात एक वाक्य में कही जा सके उसे चार पन्नों में कहने की क्या ज़रूरत? मैं तो इसे हिमाकत समझता हूँ। यह तो समय की किफ़ायत नहीं बल्कि उसका दुरुपयोग है। व्यर्थ में किसी बात को ठूँस दिया जाए।'... 'अनर्थ तो यह है कि कहा जाता है, संक्षेप में लिखो। समय की पाबन्दी पर संक्षेप में एक निबन्ध लिखो, जो चार पन्नों से कम न हो। ठीक! संक्षेप में तो चार पन्ने हुए, नहीं शायद सौ-दो सौ पन्ने लिखवाते। तेज़ भी दौड़िये और धीरे-धीरे भी। उल्टी बात है या नहीं? बालक भी इतनी-सी बात समझ सकता है लेकिन इन अध्यापकों को इतनी तमीज़ भी नहीं। उसपर दावा है कि हम अध्यापक हैं।'

छोटे भाई की प्रतिक्रिया यह है–

'भाई साहब ने अपने दरजे की पढ़ाई का जो भयंकर चित्र खींचा था उसने मुझे भयभीत कर दिया। कैसे स्कूल छोड़कर घर नहीं भागा, यही ताज्जुब है'[6]।

दरअसल यह वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर व्यंग्य है। यह वही व्यवस्था है जो विद्यार्थियों को भयभीत करती है, किताबों से अरुचि पैदा करती है। कहानी की त्रासदी और आगे बढ़ती है। अगले साल भी वही होता है जो पिछले साल हुआ था। छोटा भाई लगभग न के बराबर पढ़कर भी न केवल पास होता है बल्कि दरजे में अव्वल भी आ जाता है। और बड़े भाई साहब दिन-रात आँखें फोड़कर भी फ़ेल हो जाते हैं। और दोनों भाइयों के बीच पाँच वर्ष का उम्र का फ़ासला होने पर भी दर्जों में केवल एक साल अन्तर रह जाता है जबकि

भाई साहब ने प्राणान्तक परिश्रम किया था। पुस्तक का एक-एक शब्द चाट गए थे, दस बजे रात तक इधर, चार बजे भोर से उधर, छह से साढ़े नौ बजे तक स्कूल जाने के पहले। मुद्रा कान्तिहीन हो गई थी, मगर बेचारे फ़ेल हो गए"।7

नतीजा सुनाया जाता है तो बड़े भाई रो पड़ते हैं और साथ ही छोटा भाई भी। उसके अपने अव्वल आने की ख़ुशी ख़त्म हो जाती

6. वही पृ. 112.

7. वही पृ. 113.

है। अब भाई साहब कुछ नर्म पड़ जाते हैं और छोटे भाई को कुछ ऐसी धारणा हो जाती है कि वह तो पास हो ही जाएगा चाहे पढ़े या न पढ़े। उसकी तक़दीर बलवान है। उसे पतंग उड़ाने का नया शौक़ पैदा होता है और वह सारा समय पतंगबाज़ी की ही भेंट कर देता है। हालाँकि वह कहता है–

'फिर भी मैं भाई साहब का अदब करता था। और उनकी नज़र बचाकर ही कनकौए उड़ाता था। माँझा देना, कन्ने बांधना, टूर्नामेण्ट की तैयारियाँ आदि समस्याएँ अब गुप्त रूप से हल की जाती थीं। मैं भाई साहब को यह सन्देह न करने देना चाहता था कि उनका सम्मान और लिहाज़ मेरी नज़रों में कम हो गया है'।

एक दिन छोटा भाई लग्गे लिए पतंग लूटने के लिए दौड़ा जा रहा था, तभी भाई साहब से उसकी मुठभेड़ हो जाती है। वह छोटे भाई का हाथ पकड़ लेते हैं और उग्र भाव से उसे कहते हैं–

इन बाज़ारी लौंडो के साथ धेले के कनकौए के लिए दौड़ते तुम्हें शर्म नहीं आती? तुम्हें इसका भी कुछ लिहाज़ नहीं है कि तुम अब नीची जमाअत में नहीं हो, बल्कि आठवीं जमाअत में आ गए हो और मुझसे एक दरजा नीचे हो। आख़िर आदमी को कुछ तो अपनी पोज़ीशन का ख़याल करना चाहिए। एक ज़माना था जब लोग आठवाँ दरजा पास करके नायब तहसीलदार हो जाते थे'।

और भाई साहब न जाने कितने ही मिडलचियों का उदाहरण देते हैं जो आठवाँ दरजा पास करके डिप्टी मजिस्ट्रेट, सुपरिंटेंडेंट या लीडर और समाचार-पत्रों के सम्पादक हैं। वह छोटे भाई को कहते हैं कि उसी दरजे में आकर वह बाज़ारी लौंडो के साथ कनकौवों के लिए दौड़ रहा है। अब भाई साहब इस तरह से तर्क देते हैं कि

'वह ज़ेहन किस काम का जो आत्मगौरव की हत्या कर डाले। तुम अपने दिल में समझते होगे, मैं भाई साहब से महज़ एक दरजा नीचे हूँ और अब उनको कुछ कहने का हक़ नहीं; लेकिन यह तुम्हारी गल्ती है। मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और चाहे तुम आज मेरी ही जमाअत में आ जाओ। और परीक्षकों का यह हाल है तो निस्सन्देह अगले साल तुम मेरे समकक्ष हो जाओगे। और शायद एक साल बाद मुझसे भी एक साल आगे निकल जाओ। लेकिन मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और हमेशा रहूँगा। मुझे दुनिया का और ज़िन्दगी का जितना तजुर्बा है, तुम उसकी बराबरी नहीं कर सकते। तुम चाहे एमए, डीलिट् या डीफिल ही क्यों न हो जाओ। समझ किताबें पढ़ने से नहीं आती, यह दुनिया देखने से आती है। हमारी अम्मा ने कोई दरजा पास नहीं किया और दादा भी शायद पाँचवी-छठी जमात से आगे नहीं गए; लेकिन हम दोनों चाहे सारी दुनिया की विद्या पढ़ लें, अम्मा और दादा को हमें समझाने और सुधारने का अधिकार हमेशा रहेगा'।

बड़े भाई साहब कम पढ़े लिखों के तजुर्बों, दुनियादारी और उम्र के बड़े होने पर छोटे से ज़्यादा समझदार और दुनियादार होने के इतने उदाहरण देते हैं कि छोटा भाई उनके आगे नतमस्तक हो जाता है। भाई साहब छोटे भाई को गले लगाकर कहते हैं कि

मेरा जी भी ललचाता है; लेकिन क्या करूँ, ख़ुद बेराह चलूँ तो तुम्हारी रक्षा कैसे करूँगा। यह कर्तव्य भी तो मेरे सिर पर है।

कहानी का अन्त किशोर मनोविज्ञान का पूरा चिट्ठा खोल देता है।

'संयोग से उसी वक़्त एक कटा हुआ कनकौआ हमारे ऊपर से गुज़रा। उसकी डोर लटक रही थी। लडकों का एक गोल पीछे-पीछे दौड़ा चला आता था। भाई साहब लम्बे हैं ही। उछलकर उसकी डोर पकड़ ली और बेतहाशा हॉस्टल की तरफ़ दौड़े। मैं पीछे-पीछे दौड़ रहा था'।

बड़े भाई के आगे-आगे दौड़ने और छोटे भाई के पीछे-पीछे दौड़ने में वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का पूरा-पूरा बिम्ब उभर आता है जहाँ 'येन पंथा गता' या गतानुगतिकता को ही आदर्श माना गया है। शायद भारतीय मानस और सनातनी सोच ही इसके लिए उत्तरदायी थी जहाँ नवीनता का निषेध है। एक अलग सन्दर्भ में यह कहानी शिक्षा और उस पूरे परिवेश पर व्यंग्य है जहाँ शिक्षा इस तरह की परीक्षा पर आधारित है जो रटने पर बल देती है। यदि कोई बिना समझे भी रट कर प्रश्न का उत्तर दे दे तो वह अव्वल, नहीं तो फ़ेल। इस किताबी शिक्षा का ही परिणाम है कि आज बेरोज़गारों की एक लम्बी-चौड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई है और शिक्षा अपने मूल लक्ष्य यानी व्यक्ति के नागरिक और निजी जीवन को समृद्ध बनाने से भटक गई है।

वर्तमान समय में नई शिक्षा नीति पर बहस चल रही है। प्रमुख चिन्ता यह है कि शिक्षा किस प्रकार सर्वांगीण विकास का साधन बने। इसके अन्तर्गत यह कोशिश की जा रही है कि शिक्षा वैश्विक दृष्टि के साथ इतिहास बोध और सांस्कृतिक अस्मिता से जुड़ी हो। समस्या यह है कि शिक्षा का कौन-सा स्वरूप हो जो इक्कीसवीं सदी की ज़रूरतों के साथ परम्पराओं, इतिहास, संस्कृतियों और मूल्यों– सभी को साथ लेकर इन दोनों आयामों को सन्तुलित करे।

आख़िरी शिक्षा नीति साल 1986 में आई थी और तब से लेकर अब तक भारत ही नहीं, पूरा विश्व बदल चुका है। पर्यावरण का संकट, क्षेत्रीय विषमताएँ और बेरोज़गारी दिन-ब-दिन बढ़ रहे हैं। शिक्षा का व्यावसायीकरण और निजी क्षेत्र का प्रसार तेज़ी से हुआ है, जबकि शिक्षा की व्यवस्था, गुण और उपलब्धता का दायित्व राज्य पर रहा है। डिजिटल क्रान्ति हुई ज़रूर है, पर आज भी दूरदराज़ के कस्बों की तो बात ही छोड़िए, दिल्ली के आसपास के इलाक़ों से आने वाली कितनी ही छात्राएँ बताती हैं कि ऑनलाइन फ़ॉर्म के कारण वे कितनी परेशान हुईं और उनके कस्बे में साइबर कैफ़े न होने के कारण उन्हें कट-ऑफ़ देखने में कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ा। इन सब स्थितियों के चलते शिक्षा के स्थायी संकट यानी परीक्षा केन्द्रित रटन्त विद्या के अलावा भी अन्य कई बुनियादी प्रश्न हैं जो हमारे सामने मुँह बाए खड़े हैं जैसे– बाज़ारवाद के दौर में दक्षता का सांस्कृतिक मूल्य क्या होगा? भारतीयता को अपनाकर ग्रहण की जाने वाली शिक्षा भूमण्डलीकरण के दौर में वैश्विक बाज़ार एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों के सामने टिक पाएगी। शिक्षा नीति तभी कारगर होगी जब भावी पीढ़ी अपने समाज के विकास के लिए कोई नया रास्ता निकाल पाए।

डॉ निशा नाग हिन्दी में एमफिल, पीएचडी हैं। आपकी विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में समीक्षाएँ, लेख व कहानियाँ प्रकाशित होती रहती है। मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय में वरिष्ठ प्रवक्ता हैं जहाँ वे पिछले 23 वर्षों से अध्यापन कर रही हैं।
सम्पर्क : nishanagpurohit@gmail.com

आदिवासी अंचल में किशोर जीवन के मोड़ और स्कूल

रश्मि पालीवाल और आकाँक्षा त्यागी

समतामूलक और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए ज़रूरी है कि देश की शिक्षा नीतियाँ गहन विचार-विमर्श और व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर बनाई जाएँ, यही वजह है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 को अन्तिम रूप देने के लिए इसका प्रारूप व्यापक विचार-विमर्श और सुझावों के लिए विभिन्न मंचों पर उपलब्ध कराया गया है।

रश्मि पालीवाल और आकाँक्षा त्यागी इस लेख में नई शिक्षा नीति के प्रारूप में दिए गए प्रावधान ''वर्ष 2030 तक 3 से 18 वर्ष आयुवर्ग के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य गुणवत्तापूर्ण स्कूल की पहुँच एवं भागीदारी सुनिश्चित करना'' को अमली जामा पहनाने की सम्भावनाओं की पड़ताल करता है, खासकर आदिवासी बच्चों की शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के मद्देनज़र। उनका सवाल यह भी हैं कि जब 'निःशुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा के अधिकार अधिनियम' 2009 के कई अहम प्रावधानों को अमल में लाने के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों को पिछड़ना पड़ा है तो अब यह भरोसा कैसे बने कि 3 से 18 साल की उम्र के बच्चों को अधिकार दे पाने में सरकारों की तैयारी वाक़ई में बन सकेगी?

लेख यह भी इंगित करता है कि नीतियाँ बनाने में एक स्थिर, सक्षम व मध्यमवर्गीय परिवार की मान्यता काम करती नज़र आती हैं लेकिन यह आदिवासी अंचल की वास्तविकताओं से बहुत दूर होती हैं। सं.

मई 31, 2019 को नई शिक्षा नीति का प्रारूप (Draft National Education Policy, 2019) शिक्षा मंत्रालय को प्रस्तुत किया गया है। इसमें यह प्रस्ताव दिया गया है कि शिक्षा का अधिकार अब 3 से 18 साल की उम्र तक माना जाना चाहिए,जो वर्तमान में 6 से 14 साल की उम्र तक है। यह माँग बहुत सालों से की जा रही थी। इसके पीछे कई कारण हैं— एक यह कि अन्तर्राष्ट्रीय नीति में 18 साल की उम्र तक बचपन की अवस्था है, ऐसी बात स्वीकार की गई है और 18 साल तक के बच्चों को बाल अधिकार और संरक्षण के प्रावधान सुनिश्चित करना सभी देशों की सरकारों का फ़र्ज़ है (United Nations Convention on the Rights of the Child, 1989)। दूसरी बात यह कि सामाजिक-आर्थिक रूप से मज़बूत होने के मौक़ों का लाभ उठाने के लिए (जैसे— बेहतर नौकरी मिल पाना, कॉलेज तक पढ़ पाना) 12वीं कक्षा तक की शिक्षा एक ज़रूरी आधार बनती है। देश के प्रत्येक बच्चे के लिए ऐसा आधार उपलब्ध होना चाहिए, अन्यथा अधिकांश ग़रीब, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति समूहों के बच्चे छोटी-मोटी कमाई से ही अपना जीवन निर्वाह करने के लिए मज़बूर होते हैं। तो अब यह सम्भावना सामने है कि सभी बच्चों को 12वीं कक्षा तक स्कूल पूरा करने का मौक़ा एक अधिकार के रूप में मिलने वाला है।

आँकड़े (Educational Statistics at A Glance, MHRD, 2018) हमारा ध्यान इस वास्तविकता की ओर खींचते हैं कि आदिवासी छात्रों में हर स्तर पर स्कूल छोड़ने की सालाना औसत दर का प्रतिशत अन्य सभी समूह के छात्रों से अधिक पाया जा रहा है। 2014-15 में कक्षा 9वीं और

10वीं के स्तर पर 25 प्रतिशत आदिवासी छात्र स्कूल छोड़ रहे हैं, जबकि कुल छात्रों की संख्या में इसका प्रतिशत 17 है। 2016 में कक्षा 10वीं की परीक्षा में बैठने और पास होने वाले आदिवासी छात्रों का प्रतिशत 65 है, जबकि कुल छात्रों में यह प्रतिशत 79 है। 12वीं कक्षा की परीक्षा के लिए यह आँकड़ा क्रमश: 68 और 78 है।

क्या ये आँकड़े नई शिक्षा नीति के अनुसार क़ानून व योजनाएँ बन जाने पर बदल सकेंगे? इस नई सम्भावना के सन्दर्भ में कई विचार उठते हैं जिनपर ग़ौर करना ज़रूरी है। पहला तो यही कि 2009 के शिक्षा के अधिकार क़ानून को अमल में लाने में केन्द्र और राज्य की सरकारों को कई मायनों में पिछड़ना पड़ा...(जैसे– पर्याप्त संख्या में शिक्षकों की भर्ती न कर पाना, सतत आकलन का सुचारु व सार्थक क्रियान्वयन न कर पाना, मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना से बच्चों की रक्षा न कर पाना, स्कूल के निर्धारित मानकों का सभी सरकारी और निजी स्कूलों के लिए उपयोग न कर पाना) जबकि उसके दायरे में केवल 6 से 14 साल की उम्र के बच्चे ही थे। अब यह भरोसा कैसे बने कि 3 से 18 साल की उम्र तक के बच्चों को अधिकार दे पाने में सरकारों की तैयारी वाक़ई में बन सकेगी?

दूसरी ओर, जिस अहम सवाल पर बहुत सोचने की ज़रूरत है वह है कि बहुत से बच्चे 14-15 साल में स्कूल की पढ़ाई क्यों छोड़ देते थे? सरसरी तौर पर यह बात मानी जाती रही है कि लोग पैसे कमाने व परिवार पालने की मज़बूरी में आगे नहीं पढ़ते हैं। जब हम वास्तविक उदाहरणों को बारीक़ी से देखते हैं, तो पाते हैं कि यह अकेला या सबसे बड़ा कारण भी शायद नहीं होता। क्या अब उनके स्कूल की पढ़ाई छोड़ने के कारणों पर कुछ संवेदनशील कदम उठाए जाएँगे ताकि बच्चे स्कूल की राह से अलग होकर, किसी और राह पर चल निकलने के रुझान को काबू में कर सकें? क्या गम्भीर पारिवारिक या मानसिक विकटता की स्थितियों से जूझते हुए लोगों के लिए 18 साल की उम्र तक शिक्षा का लाभ ले पाना एक आकर्षक और गरिमामय अवसर बन सकेगा?

स्कूल छोड़ने के हालातों की समीक्षा करने के लिए हम यहाँ कुछ युवाओं के साथ किए गए साक्षात्कारों को उद्धृत करना चाहती हैं। इनको पढ़ते हुए हम उन लकीरों को पहचानने की कोशिश करेंगे जो 12वीं तक के स्कूल के जीवन की तरफ़ न जाकर कहीं और ही जा रही होती हैं। ये साक्षात्कार 2016 में मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा ज़िले के तामिया विकासखण्ड के कुछ गाँवों में किए गए थे। इनमें जिन लोगों से बातचीत हुई, वे गोण्ड और भारिया जनजाति के वे युवक/युवतियाँ थे जो पढ़ाई छोड़ चुके थे।

तामिया के आदिवासी अंचल में लोगों को जानते-समझते हुए हम इस बात को महसूस कर पाए कि बच्चे किस तरह के पारिवारिक परिवेश में बड़े होते हैं। कई बच्चे अकेले घरों में रहते थे, कई किसी एक वृद्धा के साथ– अकसर नानी के साथ। माता-पिता पलायन पर चले जाते हैं या एक-दूसरे का ही साथ छोड़ देते हैं, और बच्चे किसी सगे-सम्बन्धी के सहयोग से जीवनयापन करते हैं या अकेले अपने दम पर भी। उन बच्चों में डॉक्टर, शिक्षक और पुलिसकर्मी जैसे पेशों में जाने का चाव था, वहीं मौक़ा मिलने पर उनकी किसी भी तरह के उत्पादक काम में लग जाने की तैयारी थी। उनकी अपने ऊपर किसी ज़ोर-ज़बरदस्ती और दबाव को ज़्यादा सहन न करने की प्रवृत्ति भी मज़बूत थी। उनकी अपनी मज़बूरी कहीं ऐसी नहीं थी कि वे पढ़ ही नहीं पाते। कुछ समाज का माहौल था, कुछ शिक्षा व्यवस्था के तक़ाज़े थे– कि कई लोग स्कूल से अलग हो गए– न चाहते हुए भी।[1]

समाज के मूल्यों, अपनी भावनाओं और ग़रीबी की लकीरें

दिनेश

दिनेश करीब 16 साल की उम्र का होगा। वह दो साल पहले सातवीं तक पढ़ा और फिर पढ़ाई छूट गई। दिनेश के पिता ने उसकी माँ को छोड़ दिया है। वह जिस

महिला के साथ रहने लगे, उससे दो बच्चे हुए। दिनेश की माँ भी दूसरे पुरुष के साथ रहने चली गई। इसलिए दिनेश अपनी नानी के पास रहने आ गया। उसके दो मामा हैं और कोई भाई या बहन नहीं हैं।

दिनेश के अब स्कूल न जाने की वजह जाति प्रमाण पत्र का न होना है। स्कूल वाले प्रमाण पत्र माँगते हैं और उसके पिता उसपर दस्तख़त नहीं कर रहे। स्कूल के टीचर ने दो-तीन बार उसके पिता से जाकर बात की और कोशिश की कि वह दस्तख़त कर दें लेकिन वह नहीं माने।

दिनेश के पिता उससे कोई नाता नहीं रखना चाहते और इसलिए वह किसी काग़ज़ात पर उसके साथ के रिश्ते को भी क़बूलना नहीं चाहते। उन्हें डर है कि आगे चलकर वह उनकी ज़मीन में हिस्सा माँगेगा। और वह ज़मीन उसके पिता अपनी नई पत्नी से हुए बच्चों के लिए रखना चाहते हैं। उनके पास डेढ़ एकड़ ज़मीन है। दिनेश की नानी के पास भी डेढ़ एकड़ ज़मीन है। लेकिन उसके मामा भी तो हैं!

दिनेश आगे पढ़ना चाहता है और वह बहुत दुखी है कि वह पढ़ नहीं पा रहा।

दिनेश के बारे में जानकर हमारे मन में सबसे पहले यह बात आई कि क्या हम नागरिक के रूप में बच्चों को देखते हैं या किसी के बेटे-बेटी के रूप में ही? अगर किसी व्यक्ति को माता-पिता का सहयोग न मिले तो क्या एक नागरिक के नाते उसे अपनी शिक्षा का अधिकार पाना इतना कठिन हो जाना चाहिए? दिनेश के परिवार में बहुत थोड़ी-सी ही सम्पत्ति है उसका हक़ न मिले तो एक बात, पर सम्पत्ति के फेर में शिक्षा के हक़ से भी वंचित होना पड़े, तो जीवन के लिए आधार ही क्या बचा? सवाल तो यह भी उठ सकता है कि क्या बाल अधिकारों के तहत दिनेश के माता-पिता किसी हद तक दोषी समझे जा सकते हैं, और फिर यह भी कि जनजातीय समाजों में वैवाहिक सम्बन्धों के जो मापदण्ड हैं, वे अगर राष्ट्रीय क़ानूनों और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के मापदण्डों से अलग हैं, तो इनके बीच संवाद कैसे किया जाए? दिनेश के सन्दर्भ में क्या हम यह नहीं सोचें कि उसे पिता के दस्तख़त से छूट मिल जाती व किन्हीं और सम्बन्धियों या गवाहों के आधार पर प्रमाण पत्र मिल जाता तो उसका स्कूल का सफ़र बीच में रुकता नहीं? यहाँ ज़रूरी है कि हम समय गँवाए बग़ैर एक किशोर मन को प्रेरणा और सुरक्षा देने की चिन्ता करते हुए तकनीकी समाधानों के बारे में सोचें।

संगीता

संगीता ने स्कूल जाना 5 साल की उम्र से शुरू किया था। वह रोज़ स्कूल जाती थी। शुरुआत में उसे स्कूल में शिक्षकों के 'चेंगने' (डाँटने) से डर लगता था, लेकिन बाद में उसे स्कूल जाना, पढ़ाई करना और दोस्तों से बातें करना अच्छा लगने लगा। वह आगे और पढ़ाई करके डॉक्टर बनना चाहती थी, लेकिन आठवीं के बाद ही उसे पढ़ाई छोड़नी पड़ी।

संगीता ने बताया कि स्कूल छोड़ने के बाद उसे बहुत बुरा लगता था। गाँव के अन्य बच्चों को स्कूल जाते देख उसका भी स्कूल जाने का मन करता था। अभी वह 16 साल की है, पढ़ाई छोड़े उसे 2 साल हो चुके हैं। पहले घर का काम उसकी दीदी और मम्मी सँभालते थे, लेकिन दीदी की शादी के बाद अब उसे ही घर का काम करना पड़ता है। इसके अलावा एक वजह आर्थिक समस्या भी थी। संगीता के पिता नहीं हैं। उसकी मम्मी घर के काम करती हैं और फिर रोज़गार गारण्टी योजना में मज़दूर का काम भी करती हैं। उसके दो बड़े भाई भी हैं, एक भाई की उम्र 21 साल और दूसरे की 18 साल है। बड़ा भाई खेत का काम करता

है और छोटा भाई ड्राइवर का काम करता है। संगीता ने बताया कि वह पढ़ाई करना चाहती है। पर अब वह घर का काम ख़त्म करके दोस्तों के साथ चौपाल पर उनसे बात करने या फिर मोहल्ले में किसी के घर पर टीवी देखने चली जाती है।

संगीता के घर के काम में क्या उसके भाई ज़्यादा मदद कर सकते थे? जेण्डर समानता के मूल्य को सामने रखकर सोचने पर परिवार के लोग संगीता की पढ़ाई जारी रखने का कोई और रास्ता निकाल सकते थे। अगर 18 साल की उम्र तक अनिवार्य शिक्षा के अधिकार का क़ानून बनता है तो संगीता जैसी कई लड़कियों को स्कूल भेजने के रास्ते उनके परिवारों में निकाले जाएँगे, ऐसी उम्मीद की जा सकती है। पर इससे परिवारों पर जो कठिनाई बढ़ेगी, उसको अनदेखा करना भी ठीक न होगा। छोटे किसानों (जैसे– उसका भाई) और मज़दूरों (जैसे– उसकी माँ) की आमदनी में बढ़ोतरी के क़दम भी ज़रूरी होंगे ताकि वे संगीता जैसी लड़कियों को स्कूल जाने का समय व सुविधा दे सकें। आख़िर समाज में सारी बातें एक-दूसरे के साथ गुँथी हुई होती हैं और उनपर समग्रता से क़दम न उठाए जाएँ तो बदलाव के सिलसिले अधबीच ही ख़त्म हो जाते हैं।

अब हम कुछ और उदाहरणों पर ग़ौर करते हैं और देखते हैं कि किस तरह की स्थितियों में शिक्षा के अधिकार का होना 12वीं तक पढ़ाई पूरी करने के लिए मददगार बन सकेगा।

अज्जू

अज्जू 23 साल का है। वह दस साल पहले पाँचवी कक्षा पास करके घर छोड़ गया था। वह पढ़ाई से नहीं भागा था पढ़ाई तो उसे पसन्द थी। बस गुणा-भाग में उसे थोड़ी दिक़्क़त होती थी। समझ न आने पर मास्टर से पूछना पिटाई को न्यौता देना होता था, तो वह बेहतर यही समझता था कि क्लास से उठकर ही चला जाए। पूछने से तो अधिकतर डर ही लगता था। अज्जू सपने में ख़ुद को पुलिस इंस्पेक्टर के रूप में देखता था। उसको लगता था कि मैं पुलिस बनकर सबको डराऊँगा।

पर अज्जू की माँ 2001 में हैज़े की शिकार हो गई। उसके पिता को शराब पीने की लत थी। अज्जू और उसके चार भाई जैसे भी चाहते थे रहते थे। कोई ध्यान रखने वाला नहीं था। माँ के देहान्त के तुरन्त बाद उनके रिश्तेदार घर आए और सबने बच्चों को अलग-अलग ले जाना निश्चित किया। अज्जू किसी रिश्तेदार के साथ नहीं गया। पाँच साल तक ऐसे ही जीवन काटने के बाद वह एक मास्टरजी के यहाँ चला गया। उसने अपने दोस्त से सुना था कि मास्टरजी कुछ काम करने के लिए एक लड़का रखना चाहते हैं।

अज्जू ने वहाँ रहकर काफ़ी काम किए। बैल-बकरी की ज़िम्मेदारी से शुरू होते हुए मास्टरजी के पचास एकड़ के खेत के काम भी वह करने लगा। फिर उनकी जीप, गाड़ी, ऑटो के रखरखाव की भी ज़िम्मेदारी आ गई। अपने-आप ड्राइविंग सीखकर वह उनकी गाड़ी भी चलाने लगा। उसने बस पढ़ाई ही नहीं की, बाक़ी उसने वहाँ काफ़ी काम किए। मास्टरजी ने भी उसे पढ़ाने की कोई कोशिश नहीं की।

फिर पिछले साल मास्टरजी ने अपने एक रिश्तेदार की बेटी से अज्जू की शादी करवा दी। शादी के बाद अज्जू अपनी पत्नी के साथ अपने पिता के घर लौट आया।

इस बीच अज्जू के पिता भी बदल गए थे और उन्होंने शराब पीना छोड़ दिया था। वे अपने पाँच एकड़ के खेत में काम करते हैं। अज्जू की पत्नी 11वीं कक्षा पास है और सिलाई का काम करती है। अज्जू

अब मज़दूरी करता है और साथ-साथ अपने खेत में काम भी। उसे अब दोबारा पढ़ने का ख़्याल आया है। पढ़ने के लिए जो मानसिक सहारा उसे मिलना चाहिए था, वह उसको न तो अपने पिता से न ही मास्टरजी से मिला था। उसकी प्रायमरी की शिक्षिका ज़रूर उसको पढ़ने में मदद करना चाहती थीं, पर वे उसे तम्बाखू खाने के लिए टोकती थीं इसलिए शायद अज्जू उनके पास नहीं जाता था। अब वह अपनी पत्नी के सपोर्ट से आगे पढ़ना चाहता है।

राजू

राजू 23 वर्ष का है। उसने 10वीं के बाद स्कूल छोड़ दिया। उसने बताया कि उसके बड़े भैया 12वीं तक पढ़े। उन्होंने कुछ साल तामिया के हॉस्टल में रहकर भी पढ़ाई की। राजू को भी 10वीं के बाद बाहर रहकर पढ़ना था, लेकिन उसे नहीं भेजा गया। उसे लगता था कि बाहर रहकर पढ़ने से ज़्यादा समय पढ़ सकते हैं। और बाहर के लोगों से सम्पर्क में आने से समझने और बात करने के तरीक़े में भी बदलाव आ जाता है। उसके सभी दोस्त बाहर रहकर ही पढ़ रहे थे। जब उसे बाहर रहकर पढ़ने से मना कर दिया गया तो उसने भी गुस्से में आकर आगे नहीं पढ़ने का मन बना लिया। फिर उसने घर में खेत का काम, जुताई-बुआई, घर बनाने की मज़दूरी, रोज़गार गारण्टी योजना में सड़क बिछाने का काम, पहाड़ों में पेड़ों के नीचे पानी रोकने के लिए गड्ढे खोदने का काम और नालों का पुराव करने का काम किया। इसके अलावा गर्मी के मौसम में उसने ट्रैक्टर चलाने का काम भी किया। फिर 2014 में वह स्कूल में चपरासी के काम पर लग गया। स्कूल खोलना, पानी भरना, झाड़ू लगाना, चाय बनाना और घण्टी बजाना जैसे काम हैं उसके हिस्से में। इन सब कामों के बदले उसे महीने के चौदह सौ रुपए मिलते हैं। कुछ समय में जब वह परमानेण्ट हो जाएगा तो साढ़े चार हज़ार रुपए मिलने लगेंगे।

इन मामलों में हम देखते हैं नशे की मज़बूरी– पिता की, बेटे की भी, स्कूल के उस मास्टरजी की बदनीयत जो स्कूल जाने की उम्र के लड़के से काम करवाते थे और उसे स्कूल भेजने में मदद नहीं करते थे– ऐसी हर एक स्थिति अपने-आप में विकट और विशिष्ट बन जाती लगती है। कम-से-कम इस तरह के मामलों में 18 साल की उम्र तक शिक्षा का अधिकार बनाया जाना असर डालेगा और अज्जू जैसा कोई बच्चा पाँच साल तक भटकेगा नहीं, मास्टरजी बच्चे को घर के काम में लगाने की बजाय स्कूल में भेजकर उसे पढ़ने देंगे, कोई राजू गुस्से में आकर पढ़ाई छोड़ेगा, तो उसको अनदेखा नहीं किया जाएगा। ये सम्भावनाएँ एक स्तर पर सकारात्मक लगती तो हैं, पर उनके साथ किशोर लोगों की इच्छा, स्वतंत्रता और ख़ुद्दारी पर एक साया-सा भी आ जाता है जो सकारात्मक नहीं हो सकता। लोगों के अधिकारों के साथ भावनात्मक समर्थन, सुरक्षा और उत्साह का सच्चा परिवेश कैसे बने, यह फ़िक्र करना भी ज़रूरी है जिससे कि अधिकार की वास्तविकता मज़बूरी और परतंत्रता के अहसास में तब्दील न हो जाए।

शिक्षा योजना की लकीरें

समाज, परिवार और अपनी भावनाओं की लकीरों के अलावा शिक्षा योजना की ही कई ऐसी लकीरें हैं जो बच्चों को स्कूल से बाहर कर देती हैं। जैसे– 10वीं तक के पाठ्यक्रम की योजना और बोर्ड परीक्षा का स्वरूप। नई नीति का ड्राफ़्ट इन बातों में सुधार और लचीलेपन की वकालत करता तो है, पर उसके ठोस सुझाव नहीं रखता। जैसे– यह कहा गया है कि कक्षा 9वीं-10वीं और सेकेण्डरी स्तर पर पाठ्यक्रम का बोझ कम करते हुए कोशिश की जाएगी कि प्रमुख अवधारणाओं और विचारों पर ध्यान दिया

जाए और छात्रों को लचीलेपन के साथ अपने अध्ययन के विषय चुनने और बदलने के मौक़े मिलें, गहराई के साथ और अनुभव पर आधारित अध्ययन करने के मौक़े मिलें। यह भी कहा गया है कि पाठ्यक्रम के अलग-अलग हिस्सों के बीच कड़े विभाजन ख़त्म किए जाएँ और आपसी जुड़ाव बनाए जाएँ जैसे– अकादमिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, कला, खेलकूद आदि के बीच में। आकलन के मामले में यह कल्पना रखी गई है कि मिडिल, हाई और हायर सेकेण्डरी स्कूल की परीक्षाएँ व आकलन कम्प्यूटराइज़्ड हो जाएँ जिनमें केवल प्रमुख अवधारणाओं, कुशलताओं और उच्चस्तरीय विचार करने की क्षमताओं का आकलन किया जाए।[2]

जब 6 से 14 साल के बच्चों के लिए हम ऐसे समग्र आकलन का सफल प्रयास नहीं कर पाए जो उनके विकास में सहायक हो और अब हम बच्चों को फ़ेल करने की नीति की ओर लौट रहे हैं, तब कक्षा 9वीं से 12वीं के लिए इस तरह की आदर्श कल्पनाओं को अमलीज़ामा पहनाने की प्रतिबद्धता हमारे नेताओं की बन पाएगी, यह भरोसा करना मुश्किल है। फिर भी, इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि आकलन और पाठ्यक्रम के मुद्दे का हल निकाले बग़ैर शिक्षा का अधिकार 18 साल तक बढ़ाना अर्थहीन होगा। आइए, कुछ किशोरों के साक्षात्कार पढ़ते हुए इस मसले की गम्भीरता पर विचार करें।

कमला

कमला 20 वर्ष की है। उसने दसवीं कक्षा में स्कूल छोड़ा। उसे पाँचवी कक्षा तक स्कूल जाना अच्छा लगता था। उसके पसन्दीदा विषय सामाजिक अध्ययन और हिन्दी थे। गणित, विज्ञान और अँग्रेज़ी उसको नापसन्द थे। कमला दसवीं से पहले कभी फ़ेल नहीं हुई थी। दसवीं में उसको गणित, विज्ञान और अँग्रेज़ी विषयों में पूरक (सप्लीमेण्टरी) आई। उसने दोबारा परीक्षा दी। इस बार गणित में पूरक आ गई। फिर माँ-बाप ने आगे नहीं पढ़ाया। माँ आशा कार्यकर्ता हैं, और पाँचवी पास हैं। पिता 5-6 एकड़ ज़मीन पर खेती करते हैं और चौथी पास हैं। एक भाई तामिया में और छोटा भाई परासिया में बारहवीं में पढ़ते हैं। भाई भी एक बार 10वीं में फ़ेल हुआ था। दोबारा परीक्षा देने पर पास हुआ। कमला को लगता है कि वह प्राइवेट फ़ॉर्म भर कर परीक्षा दे सकती थी, फ़ीस भी छह-सात सौ रुपए ही लगती जो ज़्यादा नहीं होती! पर ऐसा नहीं हो पाया।

विजय

विजय ने कक्षा सातवीं के बाद पढ़ाई छोड़ दी। वह पढ़ाई करके डॉक्टर बनना चाहता था। स्कूल में उसे हिन्दी पढ़ना अच्छा लगता था लेकिन अँग्रेज़ी विषय में उसकी रुचि नहीं थी। उसे अँग्रेज़ी पढ़ने में कठिन लगती थी। उसने सातवीं कक्षा में अँग्रेज़ी विषय में फ़ेल होने की वजह से पढ़ाई ही छोड़ दी। इसके पहले वह एक बार कक्षा चौथी में भी फ़ेल हो चुका था इसलिए अब वह स्कूल नहीं जाना चाहता है। उसके माता-पिता ने स्कूल जाने के विषय में उसे बहुत समझाया, पर उसने ख़ुद की मरज़ी से स्कूल जाना बन्द कर दिया।

पढ़ाई छोड़ने के बाद विजय अब घर के कामों में मदद करता है। अभी उसका घर बन रहा है, तो वह उसे बनवाने में भी मदद करता है। इसके अलावा वह खाली समय में दोस्तों के साथ घूमता और खेलता है। गाँव में कुछ लोगों के घर पर टीवी भी लगा है जिसमें विजय का घर भी शामिल है, इस कारण विजय को टीवी देखना भी बहुत पसन्द है।

सियाराम

सियाराम 18 वर्ष का है। वह अपने माता-पिता के साथ खेतीबाड़ी का काम

करता है। हाल ही में उसने खेत के काम में पत्थर उठाने से शुरुआत की है। उसके परिवार के पास 15 एकड़ ज़मीन है और उसके अलावा घर में दुकान भी है। सियाराम ने 2013 में 10वीं तक निरन्तर बिना फ़ेल हुए पढ़ाई की। सियाराम 12वीं तक पढ़ने के बाद इलेक्ट्रॉनिक्स से जुड़े हुए काम करना चाहता था। उसके घर में कोई भी इससे जुड़ा हुआ नहीं था। सियाराम की इस काम में रुचि उसके मोबाइल के गिरने के बाद शुरू हुई। जब उसने अपना मोबाइल ठीक करवाने के लिए दुकान में पता किया तो सभी ने उसे 200 रुपए में ठीक करने को कहा। लेकिन सियाराम ने छिंदवाड़ा जाकर एक मोबाइल की दुकान से 50 रुपए में अपने मोबाइल का डिस्प्ले खरीदकर उस फ़ोन को ख़ुद ही सुधारने का सोचा और प्रयास भी किया।उस प्रयास में वह सफल भी हुआ, इसके बाद उसकी रुचि इस काम से जुड़े विषय में और ज़्यादा बढ़ गई। यह काम उसने 10वीं कक्षा में किया था, लेकिन 10वीं में अँग्रेज़ी में पूरक (सप्लीमेण्टरी) आने की वजह से उसे पढ़ाई छोड़नी पड़ी। उसने बताया कि उसके फ़ेल होने की वजह शिक्षक के पढ़ाने के तरीक़े में नहीं थी और न ही उनके बर्ताव में थी। उसकी मूल वजह उसका अँग्रेज़ी में रुचि न होना था। सियाराम अँग्रेज़ी को पहली कक्षा से ही पढ़ रहा था, पर पूरक आने के बाद वह पढ़ाई नहीं करना चाहता था। उसने पूरक परीक्षा का फ़ॉर्म भी नहीं भरा क्योंकि उसे अपने से छोटे बच्चों के साथ फिर से उसी कक्षा में पढ़ाई करने में झिझक थी, इसलिए वह वापस पढ़ाई करने स्कूल भी नहीं जाना चाहता था।

पढ़ाई छोड़ने के बाद वह अपने एक दोस्त के साथ बैंगलुरू के यशवंतपुर में एक तम्बाकू फ़ैक्टरी में काम करने चला गया। वहाँ पर वह तम्बाकू की पैकिंग का काम करता था। उसका दोस्त वहाँ पहले से ही काम करता था। जब वह काम करने घर से दूर गया, तब उसकी उम्र 16 साल थी। फ़ैक्टरी में रात के समय चौकीदार के अलावा और कोई नहीं होता था इसलिए रात में काम के वक़्त सो भी सकते थे क्योंकि रात में कोई देखने नहीं भी आता था। बैंगलुरू में उसके रहने का किराया और खाने के पैसे भी नहीं लगते थे, वह सारा ख़र्च ठेकेदार वहन करता था। उसे वहाँ काम करने के 7000 रुपए प्रति माह के मान से मिलते थे। उसके साथ उसके कमरे में 20-25 लोग और रहते थे। उसने बताया कि उस फ़ैक्टरी में और भी लोग काम करते थे जो कि मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार और उत्तरप्रदेश के रहने वाले थे। वह अपने घर में बिना बताए ही बैंगलुरू काम करने चला गया, बाद में जब घर पर बताया तो उसे डाँट पड़ी। घर से दूर रहकर काम करना अच्छा नहीं लग रहा था, इसलिए वह तीन महीने बाद ही घर वापस आ गया। घर पर उसने खेतीबाड़ी का काम, मज़दूरी (ईंटा-गारा) इत्यादि का काम किया।

सियाराम को पढ़ाई छोड़े तीन साल हो चुके हैं। उसने बताया कि वह अब फिर से पढ़ाई करना चाहता है और इस बार वह कृषि विज्ञान विषय लेकर कॉलेज तक पढ़ाई करना चाहता है जिससे वह अपने खेत में उन्नत तरीक़ों से खेती कर सके।

कमल

कमल 19 वर्ष का है। वह अपने माता-पिता, बहन, दो बैल, दो गाय, दस बकरी और एक घोड़ी के साथ रहता है। पिता दूसरी कक्षा तक पढ़े हैं, माँ पढ़ी-लिखी नहीं हैं। बहन (16 वर्ष) आठवीं पास करके 2013 में पढ़ाई छोड़ चुकी है। कमल से बड़ी तीन बहनें हैं, जिनकी शादी हो चुकी है। जैसे-जैसे बड़ी बहनों की शादियाँ

होती गईं, वैसे-वैसे छोटी बहनों की पढ़ाई छूटती गई। घर की ज़मीन काफ़ी कम है, इसलिए दूसरों के खेतों में बुआई के लिए जाना होता है। पिता एक पैर से ही चल सकते हैं। वह घोड़ी पर इधर- उधर जा सकते हैं तो जानवरों के साथ चले जाते हैं। उसके एक जीजाजी उसके पापा की मदद के लिए यहीं रह रहे थे। खेती का काम, हल बक्खर का काम वे ही कर लेते थे।

कमल को कक्षा 10वीं के रिज़ल्ट में विज्ञान विषय में पूरक आई, पर यह बात उसे देर से समझ में आई और तब तक फ़ॉर्म जमा करने की तारीख़ निकल चुकी थी। फिर अगले साल फ़ॉर्म भरा। तब तक उसके जीजाजी अपने घर वापस जा चुके थे। अब सब कुछ कमल को ही करना था, तो पढ़ाई नहीं हुई। फिर परीक्षा दी तो तीन विषयों में फिर पूरक आ गई। उसके बाद उसने पढ़ाई छोड़ दी।

जीजाजी के पहले, जब कमल छोटा था तब मोहल्ले वाले उसके पापा की हल-बक्खर में मदद कर दिया करते थे। लेकिन फिर जब कमल बड़ा हो गया तो उन्होंने भी कहा कि अब यह ही अपने पिता की मदद करेगा।

अँग्रेज़ी में फ़ेल होना बहुत लोगों को आहत करता है। क्या नई स्कूली शिक्षा उनके लिए किसी तरह का सम्मानजनक विकल्प देगी? 10वीं की परीक्षा में सभी विषयों को पास करना आसान नहीं है— ऐसे में किशोर उम्र के लोगों का फ़ेल होना, उनका दोबारा परीक्षा देना, फिर किसी विषय में पूरक आना— यह सिलसिला बहुत से बच्चों को पछाड़ देता है। ये वह उम्र भी है जब कामकाज की ज़िम्मेदारी कन्धों पर उठाई जा सकती है— ख़ुद का मन भी करता है और दूसरों की अपेक्षा भी होती है। फिर किसी परिवार में कोई सदस्य विकलांगता का सामना कर रहा हो, तब तो युवा सदस्यों के लिए ज़िम्मेदारी भी बढ़ती है। क्या पूरक आने के गतिरोध को दूर करने के लिए कोई कदम उठाया जाएगा?

10वीं तक सामान्य शिक्षा की नीति है जिसमें सभी विषयों का अध्ययन करना आवश्यक है। इसमें किस तरह का लचीलापन आ सकता है, सोचना होगा। यह एक हक़ीक़त है कि सभी विषयों के योग्य शिक्षक बड़ी संख्या में उपलब्ध नहीं होते। बहरहाल, जैसे भी शिक्षक किसी बच्चे को मिलें, उनकी मदद से वह सभी विषयों को सन्तोषजनक स्तर तक तो सीख-समझ ही लेगा, यह अपेक्षा बहुत अवास्तविक और ऊँची है। राज्य को स्वयं से यह अपेक्षा ज़रूर करनी चाहिए और जिस हद तक वह इसमें सफल होता है उस हद तक बच्चों की उपलब्धि में सुधार आने भी लगेगा, ऐसी उम्मीद भी रखी जानी चाहिए। पर यह मान लेना कि सभी बच्चों को सभी विषयों को पास कर लेना है— पहली बार में नहीं तो 2-3 बार में— एक न्यायसंगत माँग नहीं है। शैक्षिक योजना की इस माँग पर खुले मन से विचार न किया गया तो 18 साल तक की अनिवार्य शिक्षा के अधिकार की कारगरता पहले ही कटघरे में सिमट जाएगी। आगे सोचते हुए इस बात पर ग़ौर करें कि जब 12वीं कक्षा तक सबको स्कूल लाना राज्य के लिए अनिवार्य होगा और यह बच्चों का अधिकार होगा, तो उनको फ़ेल करके बाहर धकेलना सम्भव नहीं होना चाहिए। इसके तहत परीक्षा सम्बन्धी सुधार अनिवार्य हो ही जाएँगे। यही बात 14 साल की उम्र तक के लिए 8वीं कक्षा तक फ़ेल न करने व पिछली कक्षा में न रोकने की पाबन्दी लगाकर निरूपित की गई थी। लेकिन, दुख की बात है कि शिक्षा के अधिकार के इस निहितार्थ को लोग हज़म नहीं कर पाए और उसे पलटने के लिए एड़ी-चोटी की कोशिशें की गईं जो 2019 जनवरी में संसद में पारित संशोधन में सफल भी हुईं।

इस तरह उल्टी दिशा में मुँह करने के क्या परिणाम होंगे, यह आने वाले सालों में सामने

आएँगे। और जब पास-फ़ेल के बारे में यही रुख़ रहने के आसार हैं, तो 18 साल की उम्र तक के शिक्षा के अधिकार से क्या फ़र्क़ पड़ेगा?

हमने जो साक्षात्कार यहाँ पढ़े हैं, उनमें एक आदिवासी अंचल के किशोर उम्र के लोगों के नाज़ुक अहसासों और हालातों की कुछ झलकें भर हैं। नीतियाँ बनाने में एक स्थिर, सक्षम, मध्यमवर्गीय परिवार की मान्यता काम करती नज़र आती है। पर यह आदिवासी अंचलों की वास्तविकताओं से बहुत दूर है। कम-से-कम ये ग़रीब आदिवासी किशोर स्कूल से मुँह मोड़कर भी अपने जीवन में काफ़ी कुछ करने के लिए पा जाते हैं, और अपनी जान लेने पर नहीं उतर आते। उनके सामने हैसियत और इज़्ज़त गँवाने के नि:शक्त करने वाले अहसास शायद अभी नहीं हैं। उनके पास अपने ऊपर हो रही ज़बरदस्ती से बचने और दूसरी राहें बनाने के अहसास मौजूद हैं, जिनसे वे आगे की इच्छाओं और सपनों को फिर से बुनने लग सकते हैं– जैसे-जैसे ज़िन्दगी का साथ आगे मिलता जाए। देखना यह है कि शिक्षा नीति और राज्य इन मोड़ों पर लोगों के साथ खड़े होते हैं या नहीं।

---

1. यह काम जमशेदजी टाटा ट्रस्ट के सहयोग से 4 साल के एक प्रोजेक्ट का हिस्सा था। स्कूल छोड़ने वाले लोगों के साक्षात्कार लेने और उन्हें लिखने का काम मुख्य रूप से भोपाल की आकाँक्षा त्यागी ने किया। साक्षात्कारों के दौरान श्वेता नांबियार, मेघा चौधरी, जयराम कासदे, श्याम कोयल बुद्धि, श्रवण कासदे, निलेश मालवीय और कुलदीप साहू ने सहयोग प्रदान किया।
लेख को बेहतर बनाने में अरविन्द सरदाना और सी एन सुब्रह्मण्यम ने सुझाव दिए।

2. 16 से 18 साल की उम्र में लोग काम पर लगने की तैयारी में होते हैं। इस समय स्कूल में उन्हें बनाए रखने के लिए उपयुक्त स्थितियाँ बनानी ज़रूरी हैं। नई योजना ने यह प्रस्ताव दिया है कि हाई स्कूल और हायर सेकण्डरी स्कूल स्तर पर पाठ्यक्रम लचीला हो और व्यावसायिक विषयों को भी इसमें शामिल किया जाए। इस स्तर पर छात्रों के लिए मध्याह्न भोजन और समुचित छात्रवृत्तियों की सुविधा भी बहुत मददगार हो सकती है। छत्तीसगढ़ में हुए एक अध्ययन में यह पाया गया कि कक्षा 9वीं व 10वीं के किशोर-किशोरियों में भी कुपोषण की दर काफ़ी ज़्यादा थी।

रश्मि पालीवाल एकलव्य संस्था में 1982 से जुड़ी हुई हैं। सामाजिक अध्ययन शिक्षण के क्षेत्र में प्रमुख रूप से काम किया है। एकलव्य के प्रकाशनों के सम्पादन में सहयोग करती हैं। ज़मीनी स्तर पर प्राथमिक शिक्षा में सुधार की परियोजनाओं को लागू करने व उनका अध्ययन करने के प्रयासों से जुड़ी हुई हैं। 'बाल विकास विशेष ज़रूरतें और सीखना' नाम के सर्टिफ़िकेट कोर्स के संचालन से भी जुड़ी हैं।

सम्पर्क : paliwal_rashmi@yahoo.com

आकाँक्षा त्यागी कंसलटेण्ट के तौर पर दिल्ली में लैंग्वेज एंड लर्निंग फॉउण्डेशन के साथ प्रारम्भिक भाषा शिक्षण के शिक्षक प्रशिक्षण, बहुभाषी शिक्षण सामग्री के निर्माण, डॉक्यूमेंटेशन एवं लेखन जैसे कामों से जुड़ी हैं। एकलव्य के साथ भोपाल में बहुभाषिता कार्यक्रम में काम किया है।
सम्पर्क : post.akanksha@gmail.com

हिंसा के शिकार : छात्र, शिक्षक और स्कूल

संजीव राय

हिंसा हर समय के लिए एक बड़ी चुनौती रही है। वर्तमान में सांस्कृतिक-सामाजिक और राजनीतिक कारणों से होने वाली हिंसा पूरी दुनिया के लिए एक बड़ी समस्या बनकर उभरी है। प्रस्तुत आलेख में इस चुनौती के एक बिलकुल नए आयाम की पड़ताल की गई है जिसमें हिंसा के दायरे में शैक्षिक संस्थान और विद्यार्थी हैं। हिंसा का रास्ता अपनाने वालों का यह एक नया ट्रेंड है जो दुनिया भर में दिखाई देता है। कहीं समाज की प्रगतिशीलता और आधुनिकता के ख़िलाफ़ तो कहीं राज्य के ख़िलाफ़ आक्रोश के रूप में यह हिंसा स्कूलों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को अपना आसान निशाना बना रही है। संजीव राय का यह शोधपरक आलेख दुनिया के विभिन्न कोनों में हुई हिंसक घटनाओं के मार्फ़त एक नए मसले की ओर हमारा ध्यान खींचता है। सं.

दुनिया भर में स्कूलों और विश्वविद्यालयों के प्रसार के साथ ही शिक्षण संस्थाओं पर हमले की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। अभी अप्रैल, 2019 के आख़िरी हफ़्ते में ही अफ़ग़ानिस्तान की राजधानी काबुल के जहान विश्वविद्यालय में हुए बम विस्फोट करने वाला संदिग्ध आतंकी मारा गया।[1]

इसके पहले अगस्त, 2018 में काबुल में यूनिवर्सिटी की प्रवेश परीक्षा की तैयारी कर रहे छात्रों पर हुए हमले में 48 छात्र मारे गए और 67 घायल हो गए।[2] इसके पहले 2016 में काबुल में ही अमेरिकन यूनिवर्सिटी पर हमला हुआ था, जिसमें 13 छात्र मारे गए थे।[3]

हाल के वर्षों में बांग्लादेश में कुछ विश्वविद्यालयों पर बम फेंके गए और अध्यापकों की हत्या भी की गई है। दुनिया भर में स्कूलों पर हमले की घटनाएँ हो रही हैं और विश्वविद्यालयों को भी निशाना बनाया जा रहा है। दक्षिण एशिया में भूटान को छोड़कर कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ स्कूलों पर हमले होने की घटनाएँ न हुई हों।

पहले जहाँ सरकारों के विरोध में स्कूल की बिल्डिंग पर हमला होता था, वहीं अब चलते हुए स्कूलों पर हमले होने लगे हैं। वर्ष 2014 में पाकिस्तान के पेशावर में आर्मी स्कूल पर उस समय हमला हुआ था जब स्कूल में कक्षाएँ चल रही थीं। इस हमले में 141 छात्र मारे गए थे और 113 घायल हो गए थे।[4] यह हमला किसी दूसरे देश के लोगों द्वारा नहीं किया गया था और न ही मारे गए बच्चों ने कोई ऐसा गुनाह किया था जिसके कारण उनकी उनके ही स्कूल में हत्या कर दी जाए। लेकिन यह घटना सशस्त्र हिंसा

1. https://www.washingtonpost.com/world/asia_pacific/afghan-official-says-taliban-ambush-police-convoy-kills-9/2019/04/25/328f9482

2. https://www.cbsnews.com/news/afghanistan-kabul-suicide-attack-university-students-shite-neighborhood -isis/

3. https://www.nytimes.com/2016/08/26/world/asia/afghanistan-kabul-american-university.html

4. https://www.bbc.com/news/world-asia-30491435

और शिक्षा के साथ उसके सम्बन्ध की वैचारिक बहस में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ बनी क्योंकि यह हमला स्कूल / कॉलेज / विश्वविद्यालय की इमारत भर पर नहीं था, बल्कि बच्चों को उनके ही स्कूल में गोलियों से मारा जा रहा था। यह स्कूल सेना के अधिकारियों के बच्चों के लिए था। जिन के सेना अधिकारियों की ज़िम्मेदारी दुश्मनों से अपने देश की रक्षा करने की थी उनके अपने ही बच्चे उनके ही देश में सुरक्षित नहीं रहे। यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि इसके पीछे कारण क्या थे?

वर्ष 2014 में ऐसी ही एक दूसरी घटना नाइजीरिया में घटी। 'बोको हराम' नाम के गिरोह ने नाइजीरिया के चिबोक में स्कूल पर हमला करने के बाद 276 लड़कियों का अपहरण कर लिया।[5] कुछ लड़कियाँ मार दी गईं, कुछ जान बचाकर भाग निकलीं, कुछ लड़कियों से ज़बरदस्ती शादी करने की भी ख़बरें आईं और कुछ लड़कियाँ अभी भी ग़ायब हैं। किन्तु यहाँ कारण ज़्यादा स्पष्ट है क्योंकि 'बोको हराम' एक अतिवादी संगठन है जो आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का विरोध करता है और लड़कियों के लिए शिक्षा की मुख़ालफ़त करता है।

नेपाल में वर्ष 1996–2006 तक राजशाही को हटाने के लिए नेपाल की माओवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने एक 'जनयुद्ध' चलाया। इस 'जनयुद्ध' में 13,000 से अधिक लोग मारे गए। जान गँवाने वालों में शिक्षक भी थे और छात्र भी। एक अनुमान के मुताबिक़ इस दौरान 140 से अधिक शिक्षक मारे गए (राय संजीव, 2018: कनफ्लिक्ट, एजुकेशन एण्ड द पीपल्स वॉर इन नेपाल)। शिक्षकों पर गोली चलाने वालों में रॉयल नेपाल आर्मी / पुलिस भी थी और माओवादी भी। लगभग 500 छात्रों को भी इस जनयुद्ध में अपनी जान गँवानी पड़ी। इन दोनों लड़ने वाले दलों के बीच स्कूल, शिक्षा, शिक्षक और बच्चे सभी आ गए।

भारत में स्कूलों पर हमले

पिछले दो दशकों में देखें तो हमारे देश के छत्तीसगढ़, ओडिशा, बिहार और झारखण्ड जैसे राज्यों में कई स्कूल भी उन इलाकों में चल रहे संघर्ष से प्रभावित होते रहे हैं। यहाँ वर्ष 2018 में कुछ स्कूलों को जलाने की घटनाएँ हुईं। जम्मू-कश्मीर में कुछ स्कूलों को रात के अँधेरे में आग के हवाले कर दिया गया। क्या कारण है कि स्कूल की बन्द खाली इमारत, निहत्थे शिक्षक और छात्र-छात्राएँ कुछ लोगों के लिए डर का सबब बने है। कौन से हित है जो इन सब से डर रहे हैं, स्कूल जाने वाली लड़कियों से डर रहे हैं! एक अनुमानित आँकड़ा बताता है कि वर्ष 2009–2013 के बीच दुनिया के 70 देशों में 9,600 हमले स्कूलों और अन्य शिक्षण संस्थानों में हुए हैं।[6]

पिछले कुछ सालों में शिक्षकों की हत्या और शिक्षण संस्थानों पर हमले की घटनाएँ बढ़ी हैं। वर्ष 2013 से 2017 के बीच 12,700 हमले शिक्षण संस्थानों / छात्रों-शिक्षकों पर हुए हैं जिनसे 21,000 छात्र-शिक्षक प्रभावित हुए हैं। अधिकांश हमले कांगो, दक्षिण सूडान, सीरिया, यमन, इज़राइल, फिलीपींस और नाइजीरिया में हुए हैं (Global Coalition to Protect Education from Attack (GCPEA), 2018)।

स्कूलों पर बमबारी और लड़कियों का डर

हाल के वर्षों में सीरिया में स्कूलों पर हवाई बमबारी की घटनाएँ हुई हैं, यह भी एक नया बदलाव है। सीरिया में वर्ष 2011 में 'गृहयुद्ध' शुरू हुआ। तब से अब तक वहाँ लाखों लोग मारे जा चुके हैं, हज़ारों की संख्या में बच्चे, शिक्षक और उनके परिवार अपनी जान बचाकर शरणार्थी शिविरों में रहने को मज़बूर हैं। लाखों बच्चे स्कूल छोड़ चुके हैं। सीरिया के अध्यापक बता रहे हैं कि हमारे विद्यार्थी अपने पाठ में

5. www.washingtonpost.com/news/worldviews/wp/2016/04/14/boko-haram-kidnapped-276-girls-two-years-ago-what-happened-to-them

6. https://www.bbc.com/news/education-30512451

दी गई जानकारी से ज़्यादा हथियारों के नाम जानते हैं।

दुनिया भर में कई धार्मिक समूह शिक्षा का विरोध कर रहे हैं, लड़कियों को स्कूल जाने से रोकना चाह रहे हैं और इसके लिए लड़कियों को डराने-धमकाने से लेकर स्कूलों को बन्द करने और बम से हमला करने तक के तरीक़े अख़्तियार कर रहे हैं। मलाला युसुफ़ज़ई आज दुनिया में एक जाना-पहचाना नाम है। 12 साल की उम्र में मलाला को पाकिस्तान में गोली मारी गई, क्योंकि कुछ चरमपंथी समूह चाहते थे कि लड़कियाँ स्कूल नहीं जाएँ। लेकिन मलाला लड़कियों के पढ़ने के अधिकार की वकालत कर रही थीं, इसलिए वे चरमपंथियों की गोलियों का शिकार हुईं। कई देशों में स्कूल जाने वाली लड़कियों पर तेज़ाब से हमले हुए, अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान में छात्राओं पर परम्परागत पोशाक न पहनने के कारण हमले हुए हैं और जुर्माना लगाने की घटनाएँ भी हुई हैं। इराक़ जो कि वर्ष 1980-1990 के दौरान खाड़ी देशों में सबसे अच्छी शिक्षा व्यवस्था वाला देश रहा, वहाँ वर्ष 2003 से 2008 के बीच 31,000 से ज़्यादा हमले शिक्षण संस्थानों पर हुए (Human Security Report, 2012)।

शिक्षा में हिंसा के तत्त्व

ग्लोबल कॉल फ़ॉर प्रोटेक्टिंग एजुकेशन फ़्रॉम अटैक के अनुसार वर्ष 2018 में 74 देश सशस्त्र हिंसा से प्रभावित थे। शिक्षा के अलग-अलग तत्त्व हिंसा के कारण बने हैं। कहीं भाषा तो कहीं पहचान (जैसे– सीरिया, इराक़, म्याँमार आदि में धर्म और जाति), तो कहीं उग्र और नरम विचारधारा के बीच टकराव के कारण हिंसा की ख़बरें मिलती रही हैं। लेकिन हिंसा की जड़ों में आर्थिक और शैक्षिक असमानता एक प्रमुख कारण है। एक लम्बे समय तक चल रहा अन्याय भी उसे भुगत रहे लोगों में हिंसा की भावना भी हिंसा को जन्म देता है।

अब अगर दुनिया भर में शिक्षा धीरे-धीरे मुख्य निशाने पर आ रही है तो इसके कारणों की पड़ताल भी करनी पड़ेगी। जब हमले बिल्डिंग पर ही नहीं, बल्कि छात्रों और शिक्षकों पर भी हो रहे हैं तो हमको यह भी देखना होगा कि शिक्षा के भीतर आख़िर क्या चल रहा है? पाठ्यक्रम की पड़ताल भी करनी होगी। किताबों का मूल्यांकन करना होगा और भाषा नीति की भी समीक्षा करनी होगी।

आर्थिक और शैक्षिक विषमता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। बहिष्कृत लोगों के लिए अगर स्कूल का विकल्प है तो वे स्कूल ही बहिष्कृत प्रतीत होते हैं! आप ख़ुद ही देख लीजिए कि स्कूलों की बिरादरी में गाँव की सरकारी पाठशाला कहाँ खड़ी है? गाँधीजी अपने समय से आगे थे। असमानता, शिक्षा की भाषा, सामाजिक सरोकार और जड़ों से जोड़ने वाली शिक्षा की ज़रूरत, चरित्र निर्माण, सत्य और अहिंसा जैसे पक्षों पर उनका ज़ोर था। आप उनके व्यवहार के किसी भी पक्ष को ले लीजिए आपको वहाँ से अन्तर्दृष्टि मिल जाएगी। हमारा जो दोहरा चरित्र है, वह हिंसा का एक प्रमुख कारण है!

हिंसा के बीच शिक्षक और छात्र

शिक्षकों की स्थिति चिन्ताजनक है। नेपाल, थाईलैंड, इराक़, अफ़ग़ानिस्तान, पाकिस्तान, सीरिया, बांग्लादेश सहित दुनिया के अनेक देशों में शिक्षक हिंसा के शिकार हुए हैं। शिक्षकों का निरपेक्ष रहना मुश्किल होता जा रहा है। नेपाल में जब 'जनयुद्ध' चल रहा था तो बड़ी संख्या में शिक्षकों को अपना गाँव छोड़कर दूसरे स्थानों पर जाना पड़ा था। वहाँ शिक्षकों पर चन्दा देने का दबाव था तो उन्होंने अपनी तनख़्वाह का एक निश्चित हिस्सा 2-3 सालों तक 'चन्दे' के रूप में दिया। उनके पास मना करने का विकल्प नहीं था– 'मरता क्या न करता'! नेपाल में 'जनयुद्ध' के दौरान चन्दा देने से मना करने वाले शिक्षकों का अपहरण से लेकर हत्या तक की गई (राय संजीव, 2018: कनफ्लिक्ट, एजुकेशन एण्ड द पीपल्स वॉर इन नेपाल)। भारत में भी कुछ वर्षों पूर्व तक छत्तीसगढ़, बिहार, उत्तरप्रदेश, झारखण्ड, ओडिशा, मणिपुर आदि राज्यों के

भीतरी इलाक़ों में शिक्षकों के अपहरण और उनसे चन्दा लेने की घटनाएँ सुनाई देती थीं।

रवाण्डा में जब हुतु और तुत्सी समूहों के बीच 'गृहयुद्ध' चला तो वहाँ आठ लाख लोग मारे गए। रवाण्डा के लगभग 45% स्कूल इन हमलों का शिकार हुए थे (Moshman, 2014; Roberts, 2005)। सोमालिया में 'अल सबाब' नाम का एक गिरोह है। इस गिरोह ने वर्ष 2010 में सोमालिया में हज़ारों छात्रों का अपहरण किया और उनमें से एक हज़ार छात्रों को अपने लड़ाका दस्ते में शामिल किया।[7]

उधर अमेरिका जैसे आधुनिक देश में भी स्कूलों के भीतर छात्रों द्वारा गोलीबारी की घटनाएँ आम हो रही हैं। एक अनुमान के मुताबिक़ अमेरिका में वर्ष 2002 से 2012 के बीच बन्दूक और हिंसक घटनाओं में 28,000 किशोर अपनी जान गँवा बैठे। इनमें अधिकांश बच्चे 15 से 19 वर्ष की उम्र के थे।[8]

तकनीकी विकास और हिंसा

तकनीकी विकास ने भी युद्ध में बच्चों की भूमिका बदली है। विकास का असर हथियारों के उत्पादन पर भी पड़ा है। बाज़ार में सस्ते और हल्के हथियार उपलब्ध हैं। सुगम और कम वज़न के हथियारों ने सशस्त्र संघर्षों में बच्चों को हथियारबन्द दस्ते में शामिल कर दिया है। बच्चों को डराकर, लालच देकर या सपने दिखाकर सशस्त्र दलों में शामिल किया जाता है।[9]

सरकारों के ख़िलाफ़ लड़ने वाले हथियारबन्द गुट पहले बच्चों का इस्तेमाल माल ढोने, खाना बनाने और गुप्तचरी के लिए करते थे लेकिन एके 47, एके 56 और एके 76 जैसे हथियारों के विकास के बाद बच्चे अब अग्रिम पंक्ति के लड़ाके हो गए हैं। 12–14 साल के बच्चे अब एके 47, एके 56 और एके 76 जैसे हथियार आसानी से चला सकते हैं और आत्मघाती दस्ते में शामिल हो जाते हैं। उनको सशस्त्र दलों में रखना आर्थिक रूप से भी किफ़ायती रहता है और उनके विद्रोह करने की सम्भावना भी सीमित ही रहती है। वर्ष 2006 के एक अनुमान के मुताबिक़ उस दौरान लगभग 25,000 बच्चे लड़ाका समूहों और सशस्त्र दलों के साथ सम्बन्धित थे।[10]

ऐसा नहीं है कि सशस्त्र संघर्षों में शामिल सभी लड़के-लड़कियाँ स्कूली शिक्षा से वंचित हों। अकसर उनके कमाण्डर या नेता उच्च शिक्षित होते हैं। हाँ, जब हिंसा और हड़ताल के दौरान स्कूल बहुत दिनों तक बन्द रहते हैं तो छात्रों के स्कूल छोड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है। अभिभावक ऐसी असुरक्षा की स्थितियों को भाँपते हुए लड़कियों को सबसे पहले स्कूलों से निकाल लेते हैं। लड़कियों को भी सशस्त्र दलों में शामिल किया जाता है लेकिन उनके बारे में शोध कार्य बहुत कम हुआ है।

वर्ष 2015 में ब्रिटेन में लन्दन के बेथनाल ग्रीन इलाक़े से स्कूली लड़कियों का एक समूह सीरिया चला गया था। ये लड़कियाँ इस्लामिक स्टेट के लड़ाकों से शादी करने के इरादे से सीरिया गई थीं। ये लड़कियाँ इस्लामिक स्टेट के ऑनलाइन रिक्रूटमेण्ट में दिए गए प्रलोभन से आकर्षित होकर वहाँ पहुँचीं। फरवरी 2019 में उन लड़कियों में से एक, शमीमा बेगम की ख़बर मिली कि वह उत्तरी सीरिया के एक शरणार्थी कैम्प में रह रही है और उसने एक बच्चे को जन्म दिया है। अब वह अपने परिवार के पास वापस लौटना चाहती है। लेकिन अभी उसकी वापसी का मामला क़ानूनी पेंच का शिकार है

7. https://www.pri.org/stories/2018-06-19/al-shabab-kidnaps-somali-children-fill-its-ranks-parents-pull-kids-school-or-flee
8. https://gunwars.news21.com/2014/at-least-28000-children-and-teens-were-killed-by-guns-over-an-11-year-period
9. https://yourstory.com/2017/10/girls-women-caught-conflict-zones
10. https://www.un.org/womenwatch/daw/egm/elim-disc-viol-girlchild/ExpertPapers/EP.12%20Mazurana.pdf

(द इण्डियन एक्सप्रेस, फरवरी 18, 2019, नई दिल्ली)।

ऐसे ही इण्डोनेशिया में एक धार्मिक चरमपंथी समूह लगभग 40 प्रतिशत विश्वविद्यालयीन / स्कूली छात्रों के बीच अपनी उग्र विचारधारा पहुँचाने के लिए प्रयास कर रहा है। इस बात की जानकारी होने के बाद वहाँ की इण्टेलिजेंस एजेंसी कुछ स्कूलों और विश्वविद्यालयों पर निगरानी रख रही है।[11]

लेकिन सवाल है कि क्या हथियारों के बल पर उग्र विचारधारा के फैलाव को रोका जा सकता है? आज दुनिया भर में अलग-अलग जातीय और धार्मिक समूहों के अपने-अपने भाषा और धार्मिक मूल्य आधारित स्कूल चल रहे हैं। उनके पाठ्यक्रम में क्या सिखाया जा रहा है? क्या उनके छात्र एक सह-अस्तित्व की भावना से ओतप्रोत होकर निकल रहे हैं या वे अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान की सर्वोच्चता स्थापित करना चाहते हैं? शिक्षा में इन सवालों पर विमर्श की ज़रूरत है।

हिंसा का मूल कारण

अब जब दुनिया में हिंसा का बोलबाला है तो कुछ लोग गाँधीजी के अहिंसा के सिद्धान्त की ओर देख रहे हैं। गाँधीजी ने जीवन भर अलग-अलग स्तरों पर विरोधाभासों को पहचाना और उनको ख़त्म करने की कोशिश भी की। इसीलिए गाँधीजी राजनीतिक संघर्षों के साथ ही सामाजिक बुराइयों के ख़िलाफ़ भी लड़ते रहे और अपने व्यक्तिगत जीवन में सत्य के प्रयोग करते रहे। आज दुनिया भर में कथनी और करनी का भेद बढ़ता जा रहा है एवं एक-दूसरे पर विश्वसनीयता का संकट भी बढ़ा है। सामाजिक मूल्य बदल रहे हैं और बेहतर मनुष्य होने की बजाय कैसे भी सफल हो जाने को महत्त्व दिया जा रहा है।

बढ़ती हिंसा का मूल कारण तलाशना होगा और इसकी जड़ें शिक्षा से कहाँ जुड़ती हैं, यह देखना होगा। यह विमर्श हमारे विश्वविद्यालयों और शिक्षा के केन्द्रों में होना चाहिए कि शिक्षा और शिक्षक आज किन मूल्यों को प्रदर्शित कर रहे हैं। धर्म, भाषा, लिंग की पहचान के बीच एक विश्व नागरिक का निर्माण कैसे होगा? दुनिया भर में स्कूलों की संख्या तो बढ़ी है लेकिन शान्ति की बजाय हिंसा एक सामान्य घटना की तरह जगह बना रही है। स्कूलों का पाठ्यक्रम कैसा है, किताबें कैसी हैं, पड़ोसी देश एक-दूसरे के बारे में अपने छात्रों को क्या पढ़ा रहे हैं, किन मूल्यों को प्रोत्साहित कर रहे हैं, शिक्षक किन गुणों की प्रशंसा कर रहे हैं, इसको भी शिक्षा के विमर्श में लाना होगा।

समाज और दुनिया में शान्ति का पाठ पढ़ाते-पढ़ाते 21वीं सदी में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षा संस्थान ख़ुद हिंसा के निशाने पर हैं। आख़िर इसके लिए दोषी कौन है? गाँधीजी के अहिंसा के दर्शन में इन सवालों के कुछ जवाब निहित हैं। गाँधीजी ने असहमतियों को भी अपने दर्शन में समावेशित किया। उनके साथ संवाद के रास्ते हमेशा खुले रखे। आज असहमतियों के बीच संवाद की जगह कम होती जा रही है। हज़ूर और मजूर के बीच का फ़र्क़ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से बढ़ता जा रहा है। इन फ़ासलों को कम करने से ही विश्व शान्ति का प्रयास सफल हो सकता है लेकिन इसकी शुरुआत शिक्षा में व्याप्त असमानता को ख़त्म करने से ही हो सकती है।

---

11. https://www.abc.net.au/news/2018-05-08/university-students-in-indonesia-exposed-to-radical-groups/9734874

संजीव राय ने दिल्ली विश्वविद्यालय से पीएचडी की है। आपको शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने का 20 वर्षों का अनुभव है। वर्तमान में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज में एडजंक्ट प्राध्यापक व डेल्टा राइट एडवाइज़र्स में निदेशक हैं। शिक्षा एवं नीतियों के विविध विषयों पर नियमित लिखते है।

सम्पर्क : sanj.2402@gmail.com

तालीम की लड़ाई

उच्च शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण के विविध रूप

शिवानी नाग

शिक्षा हर हाल में राज्य की ज़िम्मेदारी का विषय है। सामाजिक स्तरीकरण और आर्थिक विषमताओं के चलते यह मसला आज़ादी के बाद से और भी जटिल होता चला गया है। प्रस्तुत आलेख में शिवानी नाग ने शिक्षा सम्बन्धी सरकारी नीतियों, बजट प्रावधानों और आरक्षण सम्बन्धी कायदों के हवाले से सरकार की नीयत पर सवाल उठाया है। शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल करता यह आलेख शिक्षा और ज्ञान के निर्माण में सामाजिक हैसियत के वर्चस्व पर चिंता प्रकट करता है । सं.

एकलव्य से लेकर ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, फ़ातिमा शेख़ और बाबासाहेब आम्बेडकर तक, शिक्षा को मुक्ति और बराबरी हासिल करने का हथियार तब भी समझा जाता था और आज भी समझा जाता है। बाबासाहेब आम्बेडकर के अनुसार, शिक्षा मानसिक और संज्ञानात्मक विकास का एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा सामाजिक ग़ुलामी को मिटाया जा सकता है और आर्थिक एवं राजनीतिक मुक्ति को और बढ़ाया जा सकता है। उनका मानना था कि 'डिप्रेस्ड क्लासेज़' और ग़रीबों में अशिक्षा उनकी अपनी ग़लती नहीं थी (जैसा कि अकसर हमें यकीन दिलाने की कोशिश की जाती है), बल्कि सरकारें जानबूझकर शिक्षा के लाभों को कुछ ख़ास वर्गों के लिए सीमित कर, आम जनता को उसके लाभ से वंचित रख रही थीं (आम्बेडकर, 1928-29 में बॉम्बे विधायी समिति को सम्बोधित करते हुए और बॉम्बे प्रेसीडेंसी के शिक्षा बोर्ड की रिपोर्ट-1850 से उद्धरण करते हुए)।[1] *ग़ुलामगिरी* में ज्योतिराव फुले ने भी कई उदाहरण देकर समझाया है कि शूद्रों की अशिक्षा, समाज में सवर्णों के आर्थिक और सामाजिक विशेषाधिकार बनाए रखने के लिए उस वर्ग द्वारा इच्छापूर्ण और सुनियोजित तरीक़े से सुनिश्चित की गई थी। और उनका मानना था कि इस ग़ुलामी से मुक्त होने में और एक समतामूलक एवं न्याय आधारित समाज की संरचना में शिक्षा की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

पर एक ओर जहाँ उत्पीड़ितों और हाशिए पर मज़बूर किए गए तबक़ों ने शिक्षा की उस भूमिका को समझा है जिससे एक बेहतर और बराबर समाज और सम्मान की ज़िन्दगी की ओर बढ़ा जा सके। वहीं दूसरी ओर हर समय में उस समय के द्रोणाचार्य भी हुए हैं जिनका लक्ष्य शिक्षा को पहले से विशेषाधिकृत अर्थात *'प्रिविलेज्ड'* तबके तक ही सीमित रखने का रहा है। भले ही इसके लिए उन्हें एकलव्यों के अंगूठे ही क्यों न काटते रहना पड़ें। आज भी उत्पीड़ितों को शिक्षा से दूर रखने की साज़िशें बरकरार हैं।

जून 2018 में प्रधानमंत्री के पूर्व सलाहकार सुरजीत भल्ला ने इण्डियन एक्सप्रेस में एक लेख लिखा, *लेट द एलीट पे* (समाज का अभिजात वर्ग शिक्षा के लिए भुगतान करे)। सुनने में शायद यह ख़ूब अच्छा लग सकता है पर इस तर्क़ में कई दिक़्क़तें हैं। इस लेख के दो मुख्य तर्क़

1. Ambedkar on 'Franchise' in Rodrigues (2002)– *The Essential Writings of B.R. Ambedkar.*

थे– पहला यह कि जिनके पास पैसा है वे पैसे देकर शिक्षा प्राप्त करें और दूसरा यह कि आरक्षण की नीति, ग़ैर-योग्यता को बढ़ावा देती है। हालाँकि उन्होंने भारत के सरकारी स्कूलों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के अभाव पर भी खेद जताया जो ग़रीब वर्ग के बच्चों को प्राप्त होती है, परन्तु वह न तो इस बात से चिन्तित लगे कि क्यों स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता को लेकर इतनी असमानता हो, और न ही उन्होंने इस तथ्य का प्रयोग समान शिक्षा प्रणाली की वकालत करने के लिए किया। इसके ठीक विपरीत उन्होंने इस तर्क़ का प्रयोग किया एक ऐसी ही ग़ैर बराबर और श्रेणीबद्ध उच्च शिक्षा के पक्ष को रखने के लिए। इस लेख में सलाहकार भल्ला सरकारी उच्च शिक्षा के दायरे और उसमे निवेश को सीमित करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे।

आज जब हम आए दिन सरकारी स्कूलों के बन्द किए जाने की ख़बरें सुनते हैं, उच्च शिक्षा में फण्ड में कटौती होते देखते हैं, शोध के प्रोग्राम में सीटों और बजट की कटौती होते देखते हैं, आरक्षण की नीति का उल्लंघन होते पाते हैं तो उत्पीड़ितों और ग़रीबों को शिक्षा से बहिष्कृत रखने का एजेण्डा एकदम सामने क्रियान्वित होते दिखता है। शिक्षा से उत्पीड़ित वर्ग का बहिष्करण सिर्फ़ शैक्षिक प्रक्रिया से बहिष्करण नहीं है, परन्तु यह बहिष्करण इस बात को भी सुनिश्चित करता है कि जिसे हम ज्ञान समझते हैं, उसकी रचना कौन करेगा, हमारे अकादमिक सिद्धान्तों में किसके प्रश्न और किसके अनुभव निहित होंगे, इतिहास कौन लिखेगा और सामाजिक एवं राजनीतिक शास्त्र के दृष्टिकोण किसकी अवस्थिति से निर्धारित होंगे! शिक्षा की प्रक्रिया से बाहर होना, ज्ञान के सृजन की प्रकिया से भी बाहर होना है!

> आज जब हम आए दिन सरकारी स्कूलों के बन्द किए जाने की ख़बरें सुनते हैं, उच्च शिक्षा में फण्ड में कटौती होते देखते हैं, शोध के प्रोग्राम में सीटों और बजट की कटौती होते देखते हैं, आरक्षण की नीति का उल्लंघन होते पाते हैं तो उत्पीड़ितों और ग़रीबों को शिक्षा से बहिष्कृत रखने का एजेण्डा एकदम सामने क्रियान्वित होते दिखता है।

इस लेख में, शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण अर्थात 'एक्सक्लूज़न' के एजेण्डे पर कुछ रोशनी डालने का प्रयास रहेगा

बहिष्करण के पुनरुत्थान को समझने के लिए सुरजीत भल्ला के लेख का एक अंश मददगार हो सकता है। वे लिखते हैं, "हाल के वर्षों में, आईआईटी जैसे प्रमुख संस्थानों में अगर सामान्य (जनरल) श्रेणी के छात्र के लिए औसत प्रवेश स्कोर 'x' है, तो आरक्षित श्रेणी के छात्रों का औसत प्रवेश स्कोर 'x' का आधा होगा। ऐसे बाज़ार की कठोरता देखते हुए औसत से कम स्कोर वाले छात्र बाहर निकलकर क्या करेंगे।" यहाँ पर ग़ौर करने योग्य है कि सुरजीत भल्ला प्रवेश परीक्षा में सामान्य वर्ग से आए छात्रों के मार्क्स में महँगे कोचिंग संस्थानों की भूमिका पर ज़रा भी बात नहीं करते, और ना ही ऐसी प्रवेश प्रक्रियाओं की जहाँ विभिन्न जातीय वर्गों के मार्क्स में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं। उदाहरण के लिए, 2018 में दिल्ली विश्वविद्यालय के सेंट स्टीफंस कॉलेज की प्रवेश सूची में सामान्य वर्ग के छात्रों के 'कट-ऑफ़' मार्क्स एवं अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के छात्रों के 'कट-ऑफ' मार्क्स में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। ख़ैर, सुरजीत भल्ला के इस तर्क़ की सत्यता पर आते हैं। जब सुरजीत भल्ला प्रवेश परीक्षा के स्कोर से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि औसत से कम स्कोर लाने वाले छात्र तीव्र प्रतिस्पर्धा से निर्देशित बाज़ार में कुछ नहीं कर पाएँगे, तब वह यह भूल जाते हैं कि उच्च शिक्षा संस्थान में प्रवेश पाने और पढ़ाई पूरी कर नौकरी के लिए तैयार हो जाने के बीच में संस्थान भी छात्रों के विकास में अपना योगदान देता है। छात्र किसी भी वर्ग से आए हों, प्रवेश पाने के बाद संस्थान से डिग्री पाने के इम्तिहानों में मापदण्ड सबके

लिए एक बराबर हैं। आरक्षण से प्रवेश पाने वाले छात्रों को इंजीनियर या डॉक्टर की डिग्री तब ही मिलती है, जब वह उस पेशेवर डिग्री के लिए बनाए गए मापदण्डों पर ख़रा उतरते हैं।

ऐसे तर्क़ सुनने पर यह भी पूछना ज़रूरी है कि आख़िर शिक्षा संस्थानों के लक्ष्यों के बारे में हमारी समझ क्या है! अगर हमें लगता है कि 4-5 साल एक उच्च शिक्षा संस्थान में गुज़ारने के बाद एक व्यक्ति बिना सीखे, बिना बदले, जैसा का तैसा निकलता है तो फिर किस बात की शिक्षा! फिर शिक्षकों, शैक्षणिक बुनियादी ढाँचों और संस्थानों की ज़रूरत ही क्या है! मैं स्वयं एक विश्वविद्यालय में पढ़ाती हूँ और मेरे लिए इससे ज़्यादा नकारात्मक कल्पना कुछ हो ही नहीं सकती कि शिक्षा किसी को कुछ नहीं सिखाती। अगर शिक्षा इंसान और समाज को बदलने एवं विकसित करने की काबि़लियत ही नहीं रखती, तो फिर शिक्षा की ज़रूरत ही नहीं। हाँ, पर अगर हम शिक्षा में व्यक्तिगत और सामाजिक बदलाव एवं विकास की उम्मीद देखते हैं, तो सुरजीत भल्ला का तर्क़ अस्वीकार्य है।

मैं स्वयं एक विश्वविद्यालय में पढ़ाती हूँ और मेरे लिए इससे ज़्यादा नकारात्मक कल्पना कुछ हो ही नहीं सकती कि शिक्षा किसी को कुछ नहीं सिखाती। अगर शिक्षा इंसान और समाज को बदलने एवं विकसित करने की काबि़लियत ही नहीं रखती, तो फिर शिक्षा की ज़रूरत ही नहीं। हाँ, पर अगर हम शिक्षा में व्यक्तिगत और सामाजिक बदलाव एवं विकास की उम्मीद देखते हैं, तो सुरजीत भल्ला का तर्क़ अस्वीकार्य है।

शिक्षा में सामाजिक बहिष्करण के एक और पहलू को समझना भी ज़रूरी है।

कहीं उच्च शिक्षा संस्थान शोषित और पिछड़े तबक़ों से आए विद्यार्थियों की ज़रूरतों को नज़रअन्दाज़ कर उन्हें और प्रताड़ित तो नहीं कर रहे हैं! कहीं शिक्षा संस्थान विद्यार्थियों को शैक्षणिक समर्थन देने के बजाय उनसे शिक्षा से जुड़े कौशल जैसे— अकादमिक भाषा, अकादमिक लेखन, जटिल सैद्धान्तिक लेखों को समझने का तरीक़ा, प्रस्तुति कौशल अर्थात 'प्रेजेंटेशन स्किल्स' आदि के पहले से होने की उम्मीद तो नहीं रखते! कई विश्वविद्यालयों में हम पाते हैं कि प्राध्यापक केवल ऐसे शोधार्थियों का शोध सुपरवाइज़ करना चाहते हैं जो पहले से अच्छी अंग्रेज़ी लिख सकें, जिनके पास एक ख़ास सामाजिक-सांस्कृतिक पूँजी हो और जिन पर उन्हें ज़्यादा समय न लगाना पड़े। ऐसे शोधार्थी जिनके पास रचनात्मक और समृद्ध विचार हैं पर भाषा की पूँजी नहीं, उनके साथ कम ही प्राध्यापक काम करना चाहते हैं। इसका असर, जैसा कि पहले भी कहा गया, ज्ञान की संरचना पर भी है। अगर हाशिए पर धकेले गए वर्गों और समाज से आए शोधार्थियों के लिए शोध कर पाने को सुगम बनाने की जगह कठिन बना दिया जाएगा तो ज़ाहिर-सी बात है, उनके प्रश्न और जीवन के अनुभव शोध का विषय नहीं बन पाएँगे और निर्मित हो रहे ज्ञान से उनका अलगाव बना रहेगा। यह शिक्षा के लोकतांत्रिकरण की प्रक्रिया पर गहरा प्रहार है।

पिछड़े और शोषित तबक़ों से आने वाले विद्यार्थियों के साथ संस्थागत तरह से किए जाने वाले बहिष्करण कई प्रकार के हैं। पहली कोशिश तो यह होती है कि वे उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश ही न कर पाएँ। इसके भी कई तरीक़े हैं— आरक्षण की नीति की ग़लत व्याख्या करके, आरक्षित वर्गों के छात्रों को प्रवेश प्रक्रिया के दौरान लिए जाने वाले साक्षात्कार में कम अंक देकर, या सीटों को इतना कम करके कि उनमें आरक्षण दे पाना ही असम्भव हो जाए। और अगर इन सबसे लड़ते हुए शोषित वर्ग से आए विद्यार्थी फिर भी प्रवेश पा लें, तो कई संस्थान यह स्वीकार करने से मना कर देते हैं कि एक ग़ैर-बराबर और श्रेणीबद्ध स्कूली शिक्षा प्रणाली ने और उनकी अपनी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि की जटिलताओं ने उन्हें शायद उस तैयारी के साथ नहीं भेजा जितना कि 'प्रिविलेज्ड' वर्ग

से आए छात्रों को। शैक्षणिक संस्थान ऐसे में कई बार एक सक्रिय संस्थागत समर्थन, जैसे– अधिक ट्यूटोरियल, कम शिक्षक-छात्र अनुपात वाली कक्षाएँ, अनुवाद इकाई, भाषा समर्थन केन्द्र, इत्यादि मुहैया कराने की अपनी ज़िम्मेदारी से भी मुँह मोड़ लेते हैं।

भाषा के मुद्दे पर थोड़े विस्तार से चर्चा करने की ज़रूरत है। इस देश में हमने भाषा में विविधताओं को बस स्कूल के निबन्धों में गुणगान की जाने वाली घटना तक सीमित कर दिया है। शिक्षा में सैद्धान्तिक मूल्यों की नींव रखने में और किसी भी व्यक्ति के संज्ञानात्मक विकास में भाषा की भूमिका को अकसर नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। भाषा के क्षेत्र में हुए तमाम शोध इस बात का प्रमाण देते हैं कि भाषा और सोचने की प्रक्रिया में एक गहरा सम्बन्ध है। सामाजिक-सांस्कृतिक शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार, भाषा केवल एक पारस्परिक संचार का माध्यम नहीं है। भाषा एक सांस्कृतिक साधन भी है जो हमारे उच्च या जटिल मानसिक कार्यों में बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है (कोल और एंगेस्त्रोम, 1993)। व्यक्ति भाषा का उपयोग न केवल दूसरे से बात करने के लिए करता है, बल्कि वह अधिकतर सोचता भी किसी भाषा में ही है। दुनिया के ज़्यादातर ऐसे देशों में जहाँ अच्छे अनुसंधान हो रहे हैं, लोग अपनी मातृभाषा में ही शोध करते हैं। यह जानते हुए कि अधिकतर सरकारी स्कूलों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है और प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है, जब तक उच्च शिक्षा संस्थानों में हिन्दुस्तान में बोली जाने वाली अलग-अलग भाषाओं को शामिल नहीं किया जाएगा, तब तक ज़ाहिर है कि बहिष्करण की प्रक्रिया का शिकार इस तबक़े के विद्यार्थी होते रहेंगे।

यह भी ध्यान देने वाली बात है कि शोध प्रोग्राम में हो रही सीटों और बजट की कटौती का सीधा-सीधा असर आरक्षण पर पड़ता है। हाल ही के वर्षों में इन सीटों और बजट की कटौती की वजह से कुछ विभागों में इनटेक अर्थात प्रवेश संख्या एकल अंकों में है, जिस कारण अगर उनमें आरक्षण लागू भी करें, तो गणना के अनुसार आरक्षित सीटों की संख्या शून्य दशमलव कुछ पॉइण्ट होगी- अर्थात सिफ़र! शिक्षा के अधिकार और ज्ञान के निर्माण की प्रक्रिया, इन दोनों से पिछड़े तबक़ों को वंचित रखने की कोशिशों का विरोध ज़रूरी है।

आज जब एक ज़बरदस्त कोशिश है शिक्षा को मुक्ति और बराबरी का हथियार नहीं बनने देने की और जातीय एवं वर्ग विशेषाधिकार बनाए रखने की, तो इस बहिष्करण की रणनीति के खिलाफ़ संघर्ष तो ज़रूरी हो ही जाता है। और इस संघर्ष में जीत और भी ज़्यादा ज़रूरी हो जाती है!

सन्दर्भ

फुले, ज्योतिराव गोविन्दराव (2017), *गुलामगिरी* (हिंदी अनुवाद; अनुवादक – विमलकीर्ति), नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन.

Cole, M & Engeström, Y (1993), *'A cultural–historical approach to distributed cognition',* in G Salomon, Distributed cognitions: Psychological and educational consideration (pp. 1–46), Cambridge: Cambridge University Press.

Bhalla, Surjeet (23 June 2018), *'Let the Elite Pay',* The Indian Express, Retrieved from https://indianexpress.com/article/opinion/columns/higher–education–in–india–admission–hrd–let–the–elite–pay–5229469/

Rodrigues, V (Ed) (2002), Franchise, *The Essential Writings of B.R. Ambedkar,* New Delhi: Oxford University Press, pp. 65–74.

शिवानी नाग पिछले एक दशक से शिक्षा और सामाजिक मसलों पर लेखन एवं अध्यापन कर्म से जुड़ी हुई हैं। वर्तमान में अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली के स्कूल ऑफ एजुकेशन स्टडीज़ में सहायक प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं।।
सम्पर्क : shivani@aud.ac.in

बच्चों पर शारीरिक दण्ड

ऐतिहासिक व दार्शनिक पड़ताल

कंचन शर्मा

यह लेख दो भागों में है। पहला भाग विद्यालयों एवं घरों में बच्चों के साथ की जाने वाली शारीरिक हिंसा के उन आयामों की चर्चा करता है जिसकी जड़ें हमारी ऐतिहासिक या दार्शनिक मान्यताओं में निहित हैं। इन मान्यताओं पर इस अंक में चर्चा की गई है। लेख का दूसरा भाग अगले अंक में प्रकाशित होगा जिसमें शारीरिक दण्ड के सामाजिक व सांस्कृतिक आयामों की पड़ताल की गई है। सं.

शिक्षा के अधिकार में निहित बच्चों को शारीरिक दण्ड देने पर प्रतिबन्ध के बावजूद आज भी शिक्षा संस्थाओं और घरों में बच्चों के साथ इस प्रकार की हिंसा अकसर की जाती है। यह एक ऐसा सामाजिक कुटेव है जिसकी नीतिगत आलोचना भी होती है और जिसके ऊपर मीडिया भी प्रकाश डालता रहता है, लेकिन इसका असर न तो अभिभावकों पर पड़ता है और न ही स्कूल प्रशासन इससे प्रभावित होता है। ये दोनों ही दायरे इस आलोचना की अनसुनी करने और किसी तरह ख़बरों को दबाने के लिए तत्पर रहते हैं। प्रश्न यह है कि हमारे अभिभावकों, शिक्षकों और शिक्षा संस्थाओं के संचालकों के मानस पर वे कौन-सी मान्यताएँ हावी हैं जो प्रतिबन्ध के बाद भी बच्चों पर हिंसा करते रहने की बाध्यता पैदा करती हैं? इसी के साथ यह ग़ौर करना भी ज़रूरी है कि इन मान्यताओं के स्रोत कहाँ स्थित हैं?

बच्चों पर हिंसा की परम्परा व संस्कृति को मान्यता देने वाली इस समस्या की जड़ तक पहुँचने के लिए शास्त्रोक्त मान्यताओं से लेकर औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था तक अध्ययन आवश्यक है। बिना इसके, समस्या के पीछे की ऐतिहासिक मान्यताओं को चिह्नित नहीं किया जा सकता। गढ़वाल विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के पूर्व अध्यक्ष कृष्णकुमार (1999) के अनुसार, शास्त्रों के कई उद्धरण पुष्टि करते हैं कि अतीत में शिक्षा के एक अंग के रूप में शारीरिक दण्ड को मान्यता मिली हुई थी। इसका प्रमाण अनेक शास्त्रकारों के इस कथन में देखा जा सकता है कि "अधिक लाड़-प्यार करने से बच्चे बिगड़ जाते हैं। अतः उन्हें कठोर अनुशासन में रखने की आवश्यकता है। ग़लत आचरण करने पर उनको दण्डित करना चाहिए। आचार्य जब दण्डित भी करते हैं तो उनके हाथ अमृत से भरे होते हैं, विष से नहीं। लाड़ करने से छात्र में अवगुण बढ़ते हैं तथा दण्ड का भय उनमें गुणों का सृजन करता है और वे इससे ग़लत मार्ग पर जाने से डरते हैं।"[1] शास्त्रों में गुरु द्वारा शिष्य को दी जा सकने वाली प्रताड़ना की पूरी संहिता ही दर्ज है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र की मान्यता है कि आचार्य को विद्या का अवदान देते समय शिष्य के प्रति स्नेह का व्यवहार तो करना चाहिए, परन्तु स्नेहमय व्यवहार का अर्थ यह नहीं है कि शिष्य उद्दण्ड हो जाए। शिष्य को सुधारने के लिए आचार्य उसको यथोचित तथा कठोर दण्ड दे सकता है। शारीरिक दण्ड के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का कहना है कि

1. कृष्णकुमार (1999), *प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति*, नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, पृ. 68-70.

शिष्य को ताड़ना एक अन्तिम उपाय के रूप में अपनाया जाना चाहिए। गुरु पहले शिष्य को समझाए, भय दिखाए, भोजन बन्द कर दे, ठण्डे जल में गोते लगवाए या अपने सामने ही संस्था से निष्कासित कर दे। शिष्य द्वारा गम्भीर अपराध करने पर उसपर रस्सी या बाँस की खपच्ची से प्रहार किया जाए। यह प्रहार शरीर के पृष्ठ भाग पर करना चाहिए, सिर या कोमल अंगों पर नहीं।

एक अन्य स्थान पर कृष्णकुमार बताते हैं कि गौतम के कथन के अनुसार, आचार्यों को सामान्यतः शिष्यों को शारीरिक दण्ड दिए बिना ही अनुशासन में रखना चाहिए। यदि समझाने या डराने-धमकाने का शिष्य पर प्रभाव न हो तो रस्सी या बाँस की खपच्ची से प्रहार करना चाहिए। ध्यान रहे कि उच्च शिक्षा के लिए छात्रों का आचार्य कुल में प्रवेश होता था। उस समय वे यौवन की अवस्था में पदार्पण कर रहे होते थे। अनेक बार किसी मोहवश, अज्ञानवश या काम के वशीभूत होकर वे गुरु-पत्नियों के प्रति आकृष्ट हो जाते होंगे। गौतम ने इस व्यभिचारजन्य अपराध के लिए अति कठोर दण्ड की व्यवस्था की थी। यदि कोई छात्र अपने गुरु की शैया का अतिक्रमण करता है, उसकी पत्नी के साथ रमण करता है, तो उसको तप्त लोहे की शैया पर लिटाना चाहिए अथवा गर्म लोहे की स्त्री-मूर्ति का आलिंगन कराना चाहिए। इस अपराध के दण्ड की भीषणता उस समय बहुत बढ़ जाती थी जब ऐसे अपराधी शिष्य को अपने शिश्न और वृषण को काटकर व हाथों में पकड़कर दक्षिण दिशा की ओर तब तक जाना पड़ता था जब तक वह गिरकर प्राण न त्याग दे।[2]

इसी प्रकार रश्मि श्रीवास्तव (2008) भी बताती हैं कि प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में दण्ड से सम्बन्धित बहुत कड़े नियम देखने को मिलते हैं। अपराध की पुनरावृत्ति न हो, इस उद्देश्य से गुरु द्वारा छात्र को शारीरिक दण्ड देने के अधिकार प्रदान किए गए हैं। यहाँ यह रेखांकित करना भी आवश्यक है कि शास्त्रों में शिष्य के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार पर भी बल दिया गया है। जैसे- मनु का कथन है कि बिना यातना दिए लोगों को उनके कल्याण की बातें समझाई जानी चाहिए और ऐसा करते हुए मधुर वचनों का प्रयोग करना उचित होगा। लेकिन शिक्षा के सन्दर्भ में मनु कहते हैं कि शिष्य द्वारा अपराध किए जाने पर गुरु उसे दण्ड दे सकता है।[3] बी पी भट्टाचार्य (1938) कहते हैं कि चाणक्य ने बच्चों को दण्ड देने की आयु भी निर्धारित कर दी है। कौटिल्य की मान्यता थी कि पाँच वर्ष तक बच्चों को आनन्द प्राप्त करने दो, दस वर्ष तक की आयु तक उसे दण्ड के ज़रिए अनुशासित करो और पन्द्रह वर्ष का हो जाने पर उसके साथ मित्रवत व्यवहार करो। इसी के साथ 'चाणक्य नीतिशास्त्र' के पाठ दो में कहा गया है कि "बहुत-सी बुरी आदतें अति लाड़-प्यार से उत्पन्न होती हैं, जबकि बहुत-सी अच्छी आदतें दण्ड से पैदा की जा सकती हैं, इसीलिए अपने शिष्य को भी अपने पुत्र की भाँति पीटना चाहिए। उसे अधिक लाड़-प्यार मत दो, उसे प्रत्यक्ष रूप से एक शिक्षक-छात्र व्यवस्था में नियमबद्ध रखो।"[4]

मनु का कथन है कि बिना यातना दिए लोगों को उनके कल्याण की बातें समझाई जानी चाहिए और ऐसा करते हुए मधुर वचनों का प्रयोग करना उचित होगा। लेकिन शिक्षा के सन्दर्भ में मनु कहते हैं कि शिष्य द्वारा अपराध किए जाने पर गुरु उसे दण्ड दे सकता है। बी पी भट्टाचार्य (1938) कहते हैं कि चाणक्य ने बच्चों को दण्ड देने की आयु भी निर्धारित कर दी है।

2. कृष्णकुमार (1999), *प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति*, नई दिल्ली: श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, पृ. 68-70.

3. रश्मि श्रीवास्तव (2008), *'भारत में प्राचीन शिक्षा प्रणाली में अनुशासन का मनोवैज्ञानिक पक्ष तथा उसकी प्रासंगिकता'*, परिप्रेक्ष्य, न्यूपा, दिसम्बर, अंक 3, पृ. 15-26.

मुस्लिम काल में प्रचलित मान्यताओं पर नज़र डालते हुए एस पी चौबे (2006) बताते हैं कि इस काल में भी छात्रों को अनुशासित करने हेतु कई उपाय अपनाए जाते थे, जिनमें शारीरिक दण्ड देना शामिल था। विद्यार्थी अधिकतर अनुशासित थे, किन्तु सभी की मनोवृत्ति समान नहीं थी। बच्चों की मनोवृत्ति के वास्तविक ज्ञान के लिए उस समय मनोविज्ञान विकसित नहीं था। अतः शारीरिक दण्ड द्वारा बच्चों की मनोवृत्तियों को दबाने का प्रयास किया जाता था। शिक्षक स्वेच्छया से बच्चों को दण्ड देते थे और उसका मापदण्ड शिक्षक की मानसिक अवस्था हुआ करती थी। अत्यन्त क्रोधित होने पर कभी-कभी शिक्षक बच्चों को कपड़े में बाँधकर टँगवा देते थे। साधारणतः छोटे-छोटे अपराधों पर बेंत अथवा कोड़े से मारा जाता था। इसके अतिरिक्त मुर्गा बनाना, दिन भर खड़े रखना आदि भी प्रचलित दण्ड थे।[5]

> मुस्लिम काल में प्रचलित मान्यताओं पर नज़र डालते हुए एस.पी.चौबे (2006) बताते हैं कि इस काल में भी छात्रों को अनुशासित करने हेतु कई उपाय अपनाए जाते थे, जिनमें शारीरिक दण्ड देना शामिल था। विद्यार्थी अधिकतर अनुशासित थे, किन्तु सभी की मनोवृत्ति समान नहीं थी। बच्चों की मनोवृत्ति के वास्तविक ज्ञान के लिए उस समय मनोविज्ञान विकसित नहीं था।

इनके अतिरिक्त कई ऐसे उद्धरण भी मिलते हैं जिनसे शिक्षक व छात्रों के मध्य पदसोपानीय अन्तर स्पष्ट होता है। जब कभी कर्तव्य निर्वाह में चयन का प्रश्न आता है तब माता-पिता, गुरु, देवता के प्रति कर्तव्य निर्वहन के लिए प्रेरित किया जाता है। ऐसी मान्यता थी कि एक बच्चे को सबसे पहले अपनी माता के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति करनी चाहिए, फिर पिता, उसके पश्चात गुरु व अन्त में देवता के प्रति। इस प्रकार की पदसोपानीयता गुरु को एक विशेष दर्जे से सम्पन्न कर देती है। जे एस राजपूत और के वालिया (2001) के अनुसार, गुरु के इस उच्च स्थान की स्वीकृति व समाज में शक्ति के विभाजन में गुरु को मिला उच्च स्थान ही गुरु द्वारा शारीरिक दण्ड के प्रयोग को मान्य बना देता है।[6]

ईसाई ग्रंथ में ऐसे उद्धरण मिलते हैं जो बालक को अनुशासित करने की दिशा में दण्ड को शामिल करने का सुझाव देते हैं। मसलन, एक स्थान पर ये शास्त्र कहता है कि छड़ी और फटकार की मदद से बालक को ज्ञानी बनाया जा सकता है पर बच्चे को उसके भरोसे छोड़ना उसकी माता के लिए शर्म की बात है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है बच्चे को अनुशासित किए बिना न छोड़ें, इसके लिए छड़ी का प्रयोग भी किया जा सकता है। इसके प्रयोग से उसकी जान नहीं जाएगी पर छड़ी का प्रयोग उसकी आत्मा को बुराइयों से बचा लेगा। इसी तरह एक अन्य स्थान पर कहा गया है, "एक बच्चे के हृदय में मूर्खता बसी होती है लेकिन छड़ी की सहायता से उसे सुधार की दिशा में ले जाया जा सकता है।" (एच.ए. फॉल 1841)

चूँकि मैं इस समस्या की जड़ में उपनिवेशवादी सोच व उस काल में स्थापित मूल्यों की भूमिका भी देखती हूँ, इसलिए इस दौरान हुए बदलावों व उनसे स्थापित प्रतिमानों पर विचार किया जाना ज़रूरी है। मसलन, क़ाज़ी शहीदुल्ला (1996) अपने लेख में बताते हैं कि 1854 के पश्चात शिक्षा के क्षेत्र

4. Bhattacharya, B P (1938), *'Children and Punishment in Indian'*, Journal of Pediatrics, Vol. 5, No.1, pp. 13-15.

5. एस पी चौबे (1990), *'शिक्षा के दार्शनिक, ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय आधार'*, नई दिल्ली : इण्टरनेशनल पब्लिशिंग

6. Rajput, J S, & Walia, K (2001), *'Reforms in teacher education'*, Journal of Educational Change, Vol. 2, No. 3, pp. 239-256.

7. Falk, HA (1841), *Corporal punishment*, New York: Bureau of publications, Teacher College, Columbia University.

में अनेक बदलाव लाए गए। निश्चित पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, विद्यालय का समय, निश्चित मूल्यांकन विधि व मासिक वेतन पर अध्यापकों की नियुक्ति जैसे बदलाव लाकर प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर नई शिक्षा व्यवस्था लागू की गई। इस नई शिक्षा व्यवस्था के मुताबिक़ अंग्रेज़ों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे भारतीय छात्र-छात्राओं में उन मूल्यों, विश्वासों, तौर-तरीक़ों का समावेश करें जो बरतानवी परम्परा के हिसाब से ठीक हों। ऐसी स्थिति में विद्यालय एक नए रूप में उभरकर सामने आए। अब छात्रों को एक निश्चित समय पर आना और एक विशेष तरीक़े से व्यवहार करना सीखना था।[8] चूँकि भारतीय बच्चों को बरतानवी मूल्यों के अनुसार बनाया जाना ज़रूरी था, इसलिए बच्चों से नई ग़ल्तियाँ होने के अन्देशे भी बढ़ते चले गए। परिणाम स्वरूप उन्हें दण्ड देने के अवसरों में भी बढ़ोतरी हुई। ज़ाहिर है कि भारतीय विद्यालयों में अनुशासन व शारीरिक दण्ड की परम्परा के विकास में इन शिक्षा सम्बन्धी उपनिवेशवादी आग्रहों की भी उल्लेखनीय भूमिका रही है।

औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था ने भारतीय बच्चों के संसार को बदलकर रख दिया। इस सन्दर्भ में जूडिथ वाल्श (2003) कहती हैं, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बरतानवी भारत में अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा ने उदीयमान भारतीय सम्भ्रान्त वर्ग को संरचना और बचपन के सन्दर्भ में बड़े स्तर पर बदल डाला... (दरअसल) भारत की धार्मिक, जातीय और क्षेत्रीय विविधता के परिणाम स्वरूप यहाँ 'बचपन' के अनेक प्रकार रहे हैं।

औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था ने भारतीय बच्चों के संसार को बदलकर रख दिया। इस सन्दर्भ में जूडिथ वाल्श (2003) कहती हैं, "उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बरतानवी भारत में अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा ने उदीयमान भारतीय सम्भ्रान्त वर्ग को संरचना और बचपन के सन्दर्भ में बड़े स्तर पर बदल डाला... (दरअसल) भारत की धार्मिक, जातीय और क्षेत्रीय विविधता के परिणाम स्वरूप यहाँ 'बचपन' के अनेक प्रकार रहे हैं। इनके तहत भारतीय बच्चों को भावी वयस्क के रूप में विकसित होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इसमें बच्चों को परिवार और समुदाय की माँगों व दायित्वों के प्रति अधिक उत्तरदायी बनाने पर बल देना निहित था। नतीजतन, भारतीय बच्चा 'पारिवारिक स्व' के रूप में स्वयं को विकसित करता था। लेकिन, अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा की संरचना ने बच्चों के जीने के तरीक़ों पर प्रभाव डाला और साथ ही बचपन की प्रक्रिया को पुनः आकार प्रदान किया। जहाँ भारतीय बचपन एक निश्चित समाज या गाँव के भीतर अपनी पहचान पाता था, अब अंग्रेज़ी शिक्षा की चाह ने एक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक कर दिया कि वह अपने परिवार और गाँव से दूर यात्रा करे व वहीं बस जाए। इस प्रकार बदलती परिस्थितियों ने बच्चों के जीवन में सामाजिक प्राधिकार की अपेक्षा स्कूली प्राधिकार और सम्बन्धित मूल्यों को महत्त्वपूर्ण बना दिया।"[9]

उपनिवेशवादी शिक्षा के यह रूप मात्र भारत तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि अन्य उपनिवेशों को भी उनसे गुज़रना पड़ रहा था। मसलन एम कैमरॉन (2006) केन्या के विद्यालयों में छात्र / छात्राओं को दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड का उपनिवेशवाद से सम्बन्ध स्थापित करते हुए

8. Shahidullah, K (1996),*'The Purpose and Impact of Government Policy on PathshalaGurumohashoys in Nineteenth-Century Bengal'*, The Transmission of Knowledge in South Asia: Essays on Education, Religion, History, and Politics, pp. 119-134.

9. Walsh,JE(2003), *'English Education and Indian Childhood during the Raj, 1850-1947',* Education Dialogue, Vol. 1 (1), Monsoon, pp. 35-75.

10. Cameron, M (2006), *'Managing School Discipline andImplications for School Social Workers: A Review of theLiterature'*, National Association of Social Workers, Vol. 28(4), pp. 219-228.

कहते हैं, "केन्या के विद्यालयों में ज़ारी शारीरिक दण्ड की जड़ें बरतानवी उपनिवेशवाद में छिपी हैं,जहाँ निश्चित नियम-क़ानूनों का उल्लंघन या उनका अच्छा निष्पादन न करने पर बच्चों को अनुशासन में लाने के लिए छड़ी का बड़े स्तर पर प्रयोग किया जाता था। विद्यालयों में अनुशासन बनाए रखने के लिए शारीरिक दण्ड को क़ानूनन और सांस्कृतिक तौर पर स्वीकृति का यही स्रोत था।"[10]

इसी प्रकार रॉबर्ट टर्नर (1989) ने अमेरिकी विद्यालयों में शारीरिक दण्ड के प्रयोग की जड़ों की तलाश इतिहास में की है। उनके अनुसार, "1930 में जब अमेरिका के विद्यालयों में शारीरिक दण्ड के मुद्दे को उठाया गया तब वहाँ यह कोई नया मुद्दा नहीं था। अमेरिका में यह विश्वास किया जाता था कि इण्डियंस को यूरोपियन मानदण्डों के अनुसार व्यवहार का अनुकूलन करने की आवश्यकता है। आधारभूत अवधारणा यह थी कि स्थानीय बच्चे (इण्डियंस) तत्परता से अपने व्यवहार को बदल पाने में असमर्थ हैं, अतः शारीरिक दण्ड के द्वारा अनुशासन की स्थापना न्यायपूर्ण है। ऐतिहासिक रूप से शारीरिक दण्ड को यह कहते हुए समर्थन दिया जाता था कि यह शैक्षिक प्रशिक्षण, आज्ञाकारिता तथा समाज में नैतिक ताना-बाना बनाए रखने में सहायक है।

> रॉबर्ट टर्नर (1989) ने अमेरिकी विद्यालयों में शारीरिक दण्ड के प्रयोग की जड़ों की तलाश इतिहास में की है। उनके अनुसार, 1930 में जब अमेरिका के विद्यालयों में शारीरिक दण्ड के मुद्दे को उठाया गया तब वहाँ यह कोई नया मुद्दा नहीं था। अमेरिका में यह विश्वास किया जाता था कि इण्डियंस को यूरोपियन मानदण्डों के अनुसार व्यवहार का अनुकूलन करने की आवश्यकता है।

लेखक बताता है कि शारीरिक दण्ड को इण्डियंस के लिए खोले गए विद्यालयों में यूरोपीय परम्परा से लिया गया, जिसे यूरोप ने अमेरिका से ग्रहण किया गया था। अमेरिका में एक पुराने व प्रभावी तरीक़े के तौर पर शारीरिक दण्ड घरों में व विद्यालयों में अनुशासन बनाए रखने के लिए दिया जाता था। अमेरिकी इण्डियन बच्चों को अनुशासित करने के लिए फोनिक्स इण्डियन स्कूल में एक जेल भी थी। इस विषय में 1894 में विद्यालय अधीक्षक ने अपनी रिपोर्ट में भी लिखा था। अधीक्षक बर्न्स ने जानकारी दी है कि दण्ड के रूप में बच्चों को जेल में केवल रोटी व पानी के भरोसे हफ़्तों तक बन्द रखा जाता था। जब ये बच्चे रिहा होते तो कंकाल की भाँति दिखते। इस कारण कई बच्चे बीमार हो जाते और कई की तो मृत्यु तक हो जाती थी। बर्न्स ने सिफ़ारिश की थी कि इन स्कूलों के प्रभारी अमेरिकी इण्डियन बच्चों को सँभालने के लिए अनुपयुक्त थे। उन्होंने इसके खिलाफ़ छानबीन करने की बात भी कही। इसके उत्तर में प्रभारी की तरफ़ से दलील दी गई कि विद्यालय पहले ही अनुशासनहीनता झेल रहे हैं। ऐसे में जेल के बिना उन्हें यह चुनाव करना होगा कि या तो वे विद्यार्थियों को अनुशासनहीन बनने दें या उन्हें राज्य के सुधारगृहों में भेजने को तैयार रहें, जहाँ उनके अपराधीकरण का काफ़ी अन्देशा होगा।"[11]

इस पर अनेक अध्ययन हुए हैं कि यह मान्यताएँ किस प्रकार असल जीवन में शिक्षकों की सोच का हिस्सा बन जाती हैं। मसलन, साथ चेरिटेबल ट्रस्ट (2006) ने अपने शोध अध्ययन में बताया है कि भारतीय विद्यालयों और घरों में शारीरिक दण्ड को जीवनशैली के रूप में

---

11. Trennert, R A (1989), *'Corporal Punishment and the Politics of Indian Reform',* History of Education Quarterly, 29(4), 595-619.

12. Saath Charitable Trust/Plan International, India (2006), *'Impact of corporal punishment on school children: A research study - Final Report'*

स्वीकृति प्राप्त है। इसमें सामान्य रूप से माना जाता है कि शारीरिक दण्ड बच्चों के पालन-पोषण का महत्त्वपूर्ण भाग है। दूसरा,बच्चे मारपीट के माध्यम से ही अध्यापकों व अभिभावकों का आदर करना, नियमों का पालन करना और मेहनत करना सीखते हैं। बिना शारीरिक दण्ड के बच्चे बर्बाद व अनुशासनहीन हो जाएँगे।"[12] दुबनोस्की वग़ैरह (1983) ने शिक्षकों के मानस में अनुशासन और दण्ड के आपसी रिश्ते का अध्ययन किया है। इसके अनुसार शारीरिक दण्ड को प्रस्तावित करने वाले यह मानते हैं कि शारीरिक दण्ड अमान्य व्यवहार में कमी लाता है,सीखने में सहायक होता है, चरित्र निर्माण करता है, प्राधिकारी शक्ति, प्रशासन, नियमों के प्रति सम्मान का भाव आदि सिखाता है। वे मानते हैं कि शारीरिक दण्ड से तुरन्त एवं मापनीय परिणाम मिल सकते हैं।[13]

दक्षिण अफ़्रीका के प्राथमिक विद्यालयों में किए गए अनुसंधान में पाया गया कि अध्यापक शारीरिक दण्ड के बिना अनुशासन बनाए रखने में ख़ुद को असमर्थ महसूस करते थे। इसके साथ ही अध्यापकों ने यह भी कहा कि बिना दण्ड के बच्चे शिक्षकों के प्रति अनादर का भाव रखेंगे और अध्यापक बच्चों में कड़ी मेहनत करने के अनुशासन का विकास करने में भी असफल हो जाएँगे। शिक्षकों का विश्वास था कि अन्य तरीक़ों की तुलना में (जिनके लिए समय, धैर्य और कौशल की आवश्यकता होती है) शारीरिक दण्ड आसान व तुरन्त प्रभावित कर अनुशासन बनाए रखने का एक बढ़िया तरीक़ा है।[14] 2011 में किए गए एक अन्य अध्ययन के अनुसार अभिभावकों का अटूट विश्वास परम्परागत मान्यताओं पर है। जिनके अनुसार शारीरिक दण्ड छात्रों के सीखने के स्तर में सुधार, व्यवहार में सुधार के लिए और कक्षा में शिक्षकों की आदरणीय स्थिति को बनाए रखने में मददगार व प्रभावी है।

इन अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि बिना इन मान्यताओं की जड़ों को कमज़ोर किए पाठशाला के भीतर और बाहर व्याप्त इस समस्या को जड़ से समाप्त कर पाना मुश्किल है। शिक्षा जगत में हम जिस ख़ुशनुमा माहौल की कल्पना करते हैं, वयस्क और बच्चों के जिस सम्बन्ध की कल्पना करते हैं और सीखने के जिन रूपों की कामना करते हैं, उनमें कहीं भी शोषण, हिंसा और दुर्व्यवहार के लिए स्थान नहीं है। उत्पीड़नकारी संस्कृति को जन्म देने वाला कोई भी सोच, विचार, मान्यता या व्यवहार हमारे भविष्य की नींव नहीं बन सकता। इसलिए आज हमारे लिए आवश्यक है कि हम इन मान्यताओं को स्पष्ट तौर पर चिह्नित करते हुए उनके निषेध की ओर बढ़ें। पहले चरण में हमें समझना होगा कि हमारे दुर्व्यवहार की जड़ में हमारी कौन-सी मान्यताएँ हैं। अगले चरण में उन्हें सचेत रूप से चुनौती देनी होगी। तीसरा चरण होगा एक सकारात्मक और सृजनशील माहौल की निर्मिति। यह बदलाव या यह प्रयास किसी क़ानूनी डर या दबाव का नहीं होगा। यह प्रयास हमारा ख़ुद का और भीतरी होगा।

सन्दर्भ

Cameron,M(2006), *'Managing School Discipline and Implications for School Social Worker: A Review of the Literature'* ,NationalAssociation of Social Workers, Vol. 28(4), pp. 219-228.Chanakya.(n.d).“NitiShastra”.

Retrieved from http://nitaaiveda.com/All_Scriptures_By_Acharyas/Chanakya_Pandita/NITI_SHASTRA.htm on June 29, 2010.

---

13. Dubanoski, R A, Inaba, M, &Gerkewicz, K (1983), *'Corporal punishment in schools: Myths, problems and alternatives'*, Child Abuse &Neglect, Vol. 7(3), pp. 271-278.

14. Gerald, N K, Augustine, M K, &Ogetange, T B (2012), *'Teachers and Pupils Views on Persistent Use of Corporal Punishment in Managing Discipline in Primary Schools in Starehe Division, Kenya'*,International Journal of Humanities and Social Science, Vol. 2 No. 19.

Kubeka, W M (2004), '*Disciplinary measures at the Moduopo primary school in Tembisa',* M.Tech dissertation, Gauteng Province, South Africa after 1994.

Rajput, J S, &Walia, K (2001), *'Reforms in teacher education',*Journal of Educational Change, Vol. 2, No. 3, pp. 239-256.

Trennert, R A (1989), *'Corporal Punishment and the Politics of Indian Reform',* History of Education Quarterly, 29(4), 595-619.

कंचन शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग की शोधार्थी हैं व लेखन कार्य से जुड़ी हैं ।
सम्पर्क : kanchansharmacei@gmail.com

दिल्ली में शिक्षक समर्थन कोशिशों की पड़ताल

निमरत खंदपुर

दिल्ली के सरकारी विद्यालयों में बदलाव की चर्चा पूरे देश में है। यह बदलाव कई स्तर पर किए गए हैं– आधारभूत सुविधाओं का नवीनीकरण, मुख्य प्रधान अध्यापक का क्षमतावर्धन, विद्यालय प्रबन्धन समिति के सशक्तिकरण और नवीनीकरण के माध्यम से विद्यालय और समुदाय के बीच जुड़ाव को मजबूत करना, शिक्षक समर्थन के व्यापक ढाँचे, और योग्यता के आधार पर समूहीकरण के माध्यम से सीखने के परिणाम में सुधार लाना आदि प्रमुख हैं। इस लेख में बदलाव की इस व्यापक प्रक्रिया को मेंटॅर टीचर की संकल्पना, दिल्ली में मेंटॅर टीचर का चुनाव, उनके कार्य व प्रशासनिक व्यवस्था के सन्दर्भ में देखने की कोशिश की गई हैं। लेख मेंटॅर टीचर कार्यक्रम की प्रभावशीलता का ब्यौरा भी प्रस्तुत करता है।

दिल्ली के सरकारी विद्यालयों में हुए ये बदलाव दो कारणों से और भी दिलचस्प हो जाते हैं– पहला, दिल्ली के बजट में शिक्षा के लिए लगातार पिछले तीन सालों में 24 से 26% का हिस्सा रहा है। (Jain, 2017; Sharma, 2018; The Economic Times, 2015) दिल्ली की सरकार, जो आम आदमी पार्टी 2015 से चला रही है, ने इस प्रकार के निवेश से शिक्षा के प्रति एक खास प्रतिबद्धता दिखाई है। साथ ही, शिक्षामंत्री और अन्य अधिकारियों का विद्यालयों में आना-जाना, और शिक्षकों, अभिभावकों व अन्य हितधारकों के साथ लगातार मिलना अपने आप में ही उनकी बदलाव लाने में रुचि को रेखांकित करता है। राजनीतिक इच्छाशक्ति यानी पॉलिटिकल विल एक बहुत बड़ा कारण होता है किसी भी शैक्षिक बदलाव की सफलता में - आधी लड़ाई तो इसी से जीती जा सकती है। (Haddad, 1975; Halpin & Troyna, 1995; McConnell, 2010)

दूसरा, बाकी राज्यों की तुलना में दिल्ली छोटा है। दिल्ली में कुल 2789 सरकारी विद्यालय हैं, जिनमें केवल 1017 दिल्ली सरकार की देखरेख में हैं। शिक्षकों की संख्या 1,38,849 है, जिनमें से केवल 76,010 सरकारी विद्यालय में नियुक्त हैं। 30% शिक्षकों की संविदा नियुक्ति की गई है। (DISE 2016-17; Praja Foundation, 2017) कहा जा सकता है कि दिल्ली में किसी भी कार्यक्रम का क्रियान्वयन एक बड़े राज्य में एक पायलट (Pilot) करने के समान है। बदलती प्रक्रियाओं पर निगरानी रखना, हितधारकों के साथ सम्पर्क में रहना और जहाँ ज़रूरत हो, वहाँ सुधार करना तुलनात्मक दृष्टि से आसान है।

इन दोनों तर्कों की पुष्टि होती है दिल्ली में लागू किए गए शिक्षक समर्थन के व्यापक ढाँचे से, जिसकी चर्चा इस लेख में आगे की गई है। हालाँकि दिल्ली में बहुत कुछ हुआ है, और हो रहा है, इस लेख का केंद्र यही ढाँचा होगा, जो मेंटॅर टीचर और टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर के माध्यम से एक विद्यालय-आधारित शिक्षक समर्थन प्रक्रिया का नमूना है।

मेंटॅर टीचर की संकल्पना

मेंटॅर टीचर्स की बात ज़्यादातर नए शिक्षकों के सन्दर्भ में की जाती है, जो शिक्षक हाल ही में नियुक्त हुए हैं। परन्तु दिल्ली में इस रणनीति को शैक्षिक सुधार और बदलाव के लिए भी

अपनाया गया है। इस ढाँचे की चर्चा से पहले मेंटॅर टीचर और मेंटॅरिंग की कुछ व्याख्याओं को देख लेते हैं, जैसे– मेंटॅरिंग क्या है? मेंटॅर टीचर कौन बन सकता है? मेंटॅर टीचर की भूमिका, उनका नज़रिया, मेंटॅर टीचर कार्यक्रम के प्रकार आदि। करले के अनुसार "मेंटॅरिंग एक सहयोग की प्रक्रिया है, जिसमें मेंटॅर एक प्रेरणास्रोत के रूप में प्रस्तुत होता है, एक सलाहकार बनता है, उपयोगी जानकारी देता है, और अपने अनुभवों के आधार पर दूसरों का समर्थन कर सकता है।" (Curley, 1988)

मेंटॅर टीचर को शैक्षिक नवीनीकरण के उत्प्रेरक के रूप में देखा गया। (Eckmier & Bunyan, 1995) किसी भी शैक्षिक बदलाव को लाने के लिए मेंटॅर टीचर पहले खुद, अपने अभ्यास के सन्दर्भ में, समझते हुए अन्य शिक्षकों के साथ नए नज़रिए और नई प्रक्रियाएँ साझा करते हैं। आगे, शिक्षक इस बदलाव को अपने विद्यालय और अपनी कक्षा के सन्दर्भ में समझते हुए अपनाते हैं। इस प्रकार मेंटॅर टीचर बदलाव के लिए एक मॉडल का प्रदर्शन करते हैं। यह प्रक्रिया विद्यालय आधारित, नीचे से ऊपर बदलाव की प्रक्रिया है, न कि कोई 'ऊपर' से थोपा गया आदेश है, जिसे औपचारिक रूप से पूरा करना है। इस कारण यह प्रक्रिया उत्सुकता और विश्वास से परिपूर्ण है।

> मेंटॅर टीचर का कोई आदर्श नहीं है। यह ज़रूरी नहीं कि 'अच्छे' शिक्षक अच्छे मेंटॅर होंगे। (Sanchez, Roegman & Goodwin, 2016) न ही यह ज़रूरी है कि 'मास्टर ट्रेनर्स' को ही मेंटॅर टीचर बनाया जाए। (Ganser, 1995) संक्षिप्त में उनके गुणों को एक सहज संवेदनशीलता, और विषय एवं शिक्षणशास्त्र में निपुणता का मिश्रण कहा जा सकता है।

मेंटॅर टीचर का कोई आदर्श नहीं है। यह ज़रूरी नहीं कि 'अच्छे' शिक्षक अच्छे मेंटॅर होंगे। (Sanchez, Roegman & Goodwin, 2016) न ही यह ज़रूरी है कि 'मास्टर ट्रेनर्स' को ही मेंटॅर टीचर बनाया जाए। (Ganser, 1995) संक्षिप्त में उनके गुणों को एक सहज संवेदनशीलता, और विषय एवं शिक्षणशास्त्र में निपुणता का मिश्रण कहा जा सकता है। कार्य के लिए इच्छा, प्रतिबद्धता एवं उत्साह, वयस्कों के साथ कार्य करने की समझ, और शिक्षा को एक पेशे (profession) के रूप में दिखने की क्षमता भी निःसंदेह आवश्यक है। (Blank & Sindelar, 1992) साथ ही उनमें अपने अनुभवों को सहकर्मियों के सहयोग के लिए इस्तेमाल में लाने की क्षमता होनी चाहिए। उनमें परस्पर विश्वास और सम्मान के भाव होने चाहिए। मेंटॅर टीचर के कई कार्य हैं, लेकिन मुख्य रूप से अपने सहकर्मियों के व्यावसायिक एवं व्यक्तिगत विकास को बढ़ावा देना है, क्योंकि सीखने सिखाने की प्रक्रिया में उनका सहयोग महत्त्वपूर्ण है। मेंटॅर टीचर को शिक्षा के क्षेत्र में शोध का ज्ञान, और नवाचार एवं वैकल्पिक प्रक्रियाओं में दिलचस्पी होनी चाहिए। अवलोकन कर उपयोगी प्रतिक्रिया देने की क्षमता के साथ एक मित्र के रूप में समर्थन, प्रोत्साहन और प्रशंसा करने की समझ होनी चाहिए। (Blank & Sindelar, 1992; Ganser, 1995)

मेंटॅर टीचर में पाठ्यचर्या, सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं की समझ, शिक्षा विमर्श सहकर्मियों के साथ मिलकर काम करने की क्षमता, और अपनी सोच एवं अपने अनुभवों को साझा करने की क्षमता होनी चाहिए। सुनने की क्षमता, कक्षा में प्रदर्शन की क्षमता, छोटी से बड़ी चीज़ों- चाहे वह व्यावसायिक हों या व्यक्तिगत-में मदद करने की और ज़रूरत पड़ने पर अपना समय दे पाने की इच्छा आदि भी आवश्यक है। हर कार्य का महत्त्व जानना भी ज़रूरी है पूरे साल के लिए बैठकों का व्यवस्थित कैलेंडर तैयार करने से लेकर लगातार अनुभव लेने और मिलकर मुश्किलों का हल निकालने तक। (Kyle, Moore & Sanders, 1999; West, 2002)

प्रश्न यह भी उठता है कि मेंटॅर टीचर बनने के लिए कितने सालों का अनुभव ज़रूरी

है? हालाँकि यह ज़रूरी नहीं कि कई सालों के अनुभव से ही मेंटॅर टीचर के पास उपर्युक्त उदाहरणों में ज़िक्र की गई विशेषताएँ विकसित होंगी। परन्तु बहुत कम सालों के अनुभव के कारण शायद मेंटॅर के तौर पर उनकी स्वीकृति कम हो सकती है। साथ ही बहुत सालों से सेवारत शिक्षकों के साथ यह ख़तरा है कि कम उम्र के शिक्षकों को लगेगा कि शायद उनमें, उनके लिए सहानुभूति कम होगी। इसलिए, ज़्यादातर दुनिया भर में आठ और पन्द्रह वर्ष का अनुभव रखने वाले शिक्षकों को मेंटॅर टीचर नियुक्त किया जाता है। (Ganser, 1995)

मेंटॅर टीचर कार्यक्रम दो प्रकार के हो सकते हैं- पहला, विद्यालय के भीतर ही कुछ शिक्षक इस भूमिका को निभाएँ। दूसरा, इस कार्य के लिए चुने गए शिक्षक कुछ सालों के लिए पूरे समय तक अपने मूल विद्यालय (जहाँ वह कार्यरत है) से बाहर रहें, और अपना पूरा समय नए विद्यालय में लगाएँ। विद्यालय से पूरी छुट्टी लेने के लाभ ज़्यादा आकर्षक हैं। एक तो इसलिए कि मेंटॅर टीचर की भूमिका पूरे समय के लिए निभाने से उन्हें बाकी चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है, और वह अपना पूरा ध्यान शिक्षण सम्बन्धी गतिविधियों पर लगा सकते हैं और इस तरह बदलाव लाने में और सक्षम होते हैं। (Shapley & Luttrell, 1992; Schaverien & Cosgrove, 1997; Bova & Phillips, 1982) दूसरा, मेंटॅर टीचर की भूमिका निभाने से स्वयं उन्हें भी बहुत लाभ होता है। मेंटॅर टीचर को लगता है कि जब वह विद्यालय में वापस पहुँचते हैं, अपने नए अनुभवों के कारण वह अपने कार्य को बेहतर तरीके से कर पाते हैं। दूसरा, अकसर देखा गया है कि मेंटॅर टीचर आगे जाकर अकादमिक नेतृत्व से जुड़ जाते हैं। साथ ही, उन्हें एक व्यावसायिक समुदाय का हिस्सा होने का एहसास होता है। उनकी पहचान एक बच्चों के शिक्षक की न रह कर, शिक्षकों के शिक्षक की बन जाती है; कुछ आगे जाकर सेवापूर्व शिक्षा में कार्य करने लग जाते हैं। एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह भी है कि जब मेंटॅर टीचर अपने विद्यालय में वापस जाते हैं, तो वह अपने सहकर्मियों के साथ विद्यालय में ‘सीखने के समुदाय’ (learning community) की पहल करते हैं। आख़िर में, मेंटॅर टीचर को लगता है कि इस कार्यक्रम में भागीदारी से उनका कायाकल्प हो गया और वह एक नई प्रकार की प्रेरणा का अनुभव करते हैं। (Hanson & Moir, 2008)

दिल्ली में मेंटॅर टीचर का चुनाव, उनके कार्य एवं प्रशासनिक व्यवस्था

दिल्ली में मेंटॅर टीचर का चयन एक स्वैच्छिक प्रक्रिया से शुरू हुआ। 2016 में दिल्ली सरकार सरकारी विद्यालयों में माध्यमिक स्तर पर पढ़ा रहे शिक्षकों (Trained Graduate Teachers, TGT) के साथ एक बैठक बुलाई गई, जिसमें लगभग 24000 शिक्षक मौजूद थे। इस बैठक में उन्होंने दिल्ली के सरकारी विद्यालयों की शैक्षिक स्थिति को बेहतर करने के लिए सुझाव माँगे। इसी बैठक के दौरान मेंटॅर टीचर कार्यक्रम की योजना भी विकसित हुई।

दिल्ली सरकार ने बैठक में उपस्थित शिक्षकों को मेंटॅर टीचर कार्यक्रम में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया। यह स्पष्ट किया गया कि मेंटॅर टीचर को न कोई अधिक वेतन मिलेगा, ना उन्हें कोई लाभ होगा; यहाँ तक की उन्हें टीए (TA) जैसी सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं होंगी। सरकार की यह सोच थी कि मौजूदा संरचनाओं को कम से कम बदला जाए; सिर्फ़ जहाँ अनिवार्य हो, वहीं नई संरचना के बारे में सोचा जाए। शिक्षकों से यह बातचीत हुई कि इस कार्यक्रम के तहत उन्हें अपने व्यावसायिक और व्यक्तिगत विकास के लिए अवसर ज़रूर मिलेंगे। जिन शिक्षकों ने इस कार्यक्रम के लिए आवेदन किया, वह आत्मप्रेरित थे और कुछ नया करने की इच्छा रखते थे। साथ में, अपने व्यावसायिक विकास के अवसरों ने भी उन्हें प्रेरित किया।

मेंटॅर टीचर कार्यक्रम के लिए 1000 शिक्षकों ने आवेदन किया, जिनमें से 200 का चयन किया गया। चयन की प्रक्रिया दिन भर चली। उन्मुखीकरण के बाद शिक्षकों को एक कार्य

दिया गया और एक विषय पर सामूहिक चर्चा करवाई गई। प्रत्येक शिक्षक का साइकोमेट्रिक परीक्षण किया गया और मनोवैज्ञानिकों एवं अधिकारियों के साथ उनका साक्षात्कार भी हुआ।

चयन की प्रक्रियाओं के आधार पर प्रत्येक शिक्षक को कुछ अंक दिए गए। एक न्यूनतम अंक पहले से ही निर्धारित था; मेंटॅर टीचर बनने के लिए इस न्यूनतम अंक को पार करना आवश्यक था। साथ में शिक्षक के घर के पास पाँच-छह विद्यालय का होना भी एक ज़रूरी मानदण्ड था, ताकि शिक्षक आसानी से और कम लागत पर सौंपे हुए विद्यालय तक पहुँच सके।

दिल्ली सरकार के शिक्षा निदेशालय ने जुलाई 2016 में मेंटॅर टीचर की भूमिका और कार्य को लेकर एक परिपत्र निकाला। (Delhi Govt., 2016) इस में मेंटॅर टीचर के कार्यों का विवरण कुछ इस प्रकार है:

- लगातार सौंपे गए विद्यालयों पर जाना और वहाँ कार्यरत शिक्षकों को अकादमिक सहयोग देना। (परिपत्र में इसका कोई दृढ़ खाका या नियमित प्रक्रियाओं का उल्लेख नहीं किया गया।)
- सौंपे गए विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों को, समूह में या एक-एक करके, अकादमिक कार्यक्रमों, जैसे कि, सीखने में सुधार के लिए कार्यक्रम, हैप्पिनेस पाठ्यक्रम, ऑनलाइन शिक्षक-समर्थन कार्यक्रम, आदि के बारे में बताना। मुख्य/प्रधान अध्यापक इन सत्रों को आयोजित करेंगे; ध्यान रखा जाएगा कि विद्यालय की दिनचर्या में कुछ बाधा ना पड़े।
- कक्षाओं में बैठकर शिक्षण या अन्य गतिविधियों जैसे कि, बच्चों के आकलन का अवलोकन करना और सम्बन्धित शिक्षक और मुख्य/प्रधान अध्यापक को फ़ीडबेक देना।
- समय-समय पर ज़रूरत होने पर सौंपे गए विद्यालयों के शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण/उन्मुखीकरण आयोजित करना, या सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं और अपने आकलन को शिक्षकों के साथ साझा करना, या अभिभावक और बच्चों के साथ शैक्षिक मुद्दों पर सम्पर्क करना। मेंटॅर टीचर के निवेदन पर मुख्य/प्रधान अध्यापक इन सत्रों को आयोजित करेंगे।

प्रशासनिक व्यवस्था को लेकर, परिपत्र अधोलिखित दिशा-निर्देश देता है:

- मेंटॅर टीचर उसी विद्यालय का हिस्सा बने रहेंगे, जहाँ वह कार्यरत हैं।
- मेंटॅर टीचर नियुक्त होने के समय के दौरान उन्हें 'ऑन ड्यूटी' दिखाया जाएगा, चाहे वह औपचारिक शिक्षक हो या अतिथि शिक्षक।
- चूँकि मेंटॅर टीचर कार्यरत विद्यालय में अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं कर पाएँगे, उनकी जगह जल्द से जल्द अतिथि शिक्षक नियुक्त किए जाएँगे। (अपने मूल विद्यालय में शिक्षण सम्बन्धित कार्यों से उन्हें पूरी तरह मुक्त किया गया)
- मेंटॅर टीचर, डाइट (DIET) के प्रधानाचार्य के नेतृत्व में कार्य करेंगे।
- डाइट के प्रधानाचार्य रिपोर्ट करने वाले मेंटॅर टीचर के बैठने के लिए डाइट (DIET) में उचित स्थान निर्धारित करेंगे।
- विद्यालय के मुख्य/प्रधान अध्यापक मेंटॅर टीचर की उपस्थिति दर्ज करेंगे; विद्यालय पहुँचने और छोड़ने का समय दर्ज किया जाएगा। डाइट के प्रधानाचार्य उपस्थिति का रिकॉर्ड सम्बन्धित विद्यालय तक पहुँचाएँगे।
- मेंटॅर टीचर्स का एसीआर (Annual Confidential Report) डाइट के प्रधानाचार्य द्वारा लिखा जाएगा।

इसी के साथ परिपत्र में विद्यालय के मुख्य/प्रधान अध्यापक से यह उम्मीद रखी गई है कि वह मेंटॅर को अपनी टीम का सदस्य समझें

और विद्यालय से सम्बन्धित अकादमिक मुद्दों, खासकर बच्चों का सीखना और आकलन एवं शिक्षक प्रशिक्षण के लिए सहयोग लें। अपना कार्य पूरा करने के लिए मेंटॅर टीचर को पूरा सहयोग दिया जाएगा।

दिल्ली में मेंटॅर टीचर कार्यक्रम का क्रियान्वयन

प्रत्येक मेंटॅर टीचर को दो साल के लिए नियुक्त किया गया; पहले समूह की नियुक्ति 2016 से 2018 तक की गई। प्रत्येक मेंटॅर टीचर को अपने घर के पास पाँच से सात विद्यालय सौंपे गए। प्रारम्भिक समूह में से 100 मेंटॅर टीचर वापस अपने विद्यालय लौट गए हैं; वर्तमान समूह में 100 नए शिक्षक हैं, जो समान प्रक्रिया से चुने गए, और 100 प्रारम्भिक समूह से यानी वर्तमान समूह में 50% नए मेंटॅर टीचर है और 50% पुराने, यानी कि पहले समूह से हैं। प्रारम्भिक समूह में संविदा शिक्षक शामिल थे, परन्तु दूसरे समूह में केवल नियमित शिक्षक शामिल हैं।

विद्यालय में हर मेंटॅर टीचर का सफर अलग रहा है। उनको जिस प्रकार की सफलताएँ मिलीं और जिस प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ा, सब भिन्न प्रकार के थे। हर मेंटॅर टीचर को सौंपे हुए विद्यालयों के साथ रिश्ता खुद बनाना पड़ा। पहली बार जब वह विद्यालय गए तो निदेशालय से पत्र पहले पहुँचा हुआ था। उसके बाद अपनी उपस्थिति और सुझावों को प्रासंगिक एवं सार्थक बनाना उनकी अपनी ज़िम्मेदारी थी। ज़मीन पर उतारने पर कई मेंटॅर टीचर का उत्साह कम भी हुआ; कुछ कार्यक्रम से अलग हो गए, और वापस अपने विद्यालय चले गए।

उनकी भूमिका भी सौंपे गए विद्यालय में अनुभव के अनुकूल बदलती रही। परिपत्र में दी गई अपेक्षाओं का जमीनीकरण विद्यालय से आगे बढ़ गया। ज़्यादातर मेंटॅर टीचर नियमित तौर पर विद्यालय जाते हैं, वहाँ बैठकों का आयोजन करतें है और विद्यालय में हो रही बैठकों का हिस्सा बनते हैं। वह कक्षाओं का अवलोकन करते हैं, शिक्षकों से साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर चर्चा करते हैं। विद्यालय और कक्षा में हो रही प्रक्रियाओं को समझकर, सुझाव देते हैं। शिक्षकों की ज़रूरतों को समझकर, सम्बन्धित अधिकारियों तक पहुँचाते हैं। शिक्षकों तक पठन एवं अन्य सामग्री भी पहुँचाते हैं।

परन्तु मेंटॅर टीचर का अधिदेश (mandate) विद्यालय तक सीमित न रहकर, और विस्तृत हुआ है- दिल्ली सरकार की अन्य पहल में भी वह शामिल हुए। सीखने के परिणाम में सुधार लाने के कार्यक्रम के अन्तर्गत योग्यता के आधार पर बच्चों का समूहीकरण किया गया। इसके अंतर्गत एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकों पर आधारित कुछ सामग्री तैयार की गई, जिनको हर साल संशोधित किया गया। इस साल, इस सामग्री का पाँचवाँ संस्करण उपयोग किया जा रहा है। इस सामग्री को तैयार करने में मेंटॅर टीचर की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। साथ ही बच्चों के आकलन और आगे सहयोग की योजना में भी वह मददगार रहे हैं।

विद्यालयों में हैप्पिनेस पाठ्यक्रम लागू किया गया, जिससे संक्षेप में उम्मीद है कि बच्चे अपना काम ध्यान से करने, घर परिवार में प्रेम पूर्वक रहने और अपनी शिक्षा के प्रति तार्किक दृष्टिकोण की योग्यताएँ विकसित करेंगे। हैप्पिनेस पाठ्यक्रम और सम्बन्धित सामग्री को विकसित करने में 16 मेंटॅर टीचर ने भाग लिया। पाठ्यक्रम के सफल क्रियान्वयन में सभी मेंटॅर टीचर शामिल हैं।

मेंटॅर टीचर की एससीईआरटी द्वारा आयोजित व्यावसायिक विकास कार्यक्रमों में भी भागीदारी है। मेंटॅर टीचर न केवल कार्यक्रमों की योजना और सामग्री बनाने के काम में और रिसोर्स पर्सन के तौर पर शामिल होते हैं बल्कि साथ में सामग्री को शिक्षकों तक पहुँचाने और पायलट में भी मददगार होते हैं। दूसरी संस्थाओं से सहयोग लेने के निर्णय में भी उनकी

भागीदारी होती है ।

मेंटॅर टीचर का क्षमतावर्धन

मेंटॅर टीचर के क्षमतावर्धन में जीवनकौशल (life skills) के प्रति उन्मुखीकरण एक अहम भाग था। अपने सहकर्मियों के साथ सम्पर्क करना, सुगमकर्ता की भूमिका निभाना, कक्षा का अवलोकन करना, संवेदनशीलता के साथ रचनात्मक फ़ीडबैक देना, आदि के लिए भी उन्हें तैयार किया गया।

शिक्षणशास्त्र और विषय में भी उनका क्षमतावर्धन किया गया, खासकर विभिन्न प्रतिभाओं के बच्चों के साथ कक्षा में काम करने के बारे में। एससीईआरटी के अलावा कई दूसरी संस्थाएं भी जुड़ी, जैसे आविष्कार, जोड़ो ज्ञान, द फर्डिनेण्ड सेंटर, एनसीईआरटी, एससीईआरटी, न्यूपा, आदि। मेंटॅर टीचर में से कुछ मास्टर ट्रेनर चुने गए। इसके बाद ज़ोनल स्तर पर उन्होंने बाकी मेंटॅर टीचर के साथ कार्य किए।

लेकिन सबसे अलग यह बात है कि जिस स्तर पर मेंटॅर टीचर को भ्रमण के मौके दिए गए, ना केवल अपने देश में बल्कि दूसरे देशों में भी प्रारम्भिक समूह में सभी नियमित शिक्षक (200 में से 165) को विदेश में कम से कम एक बार शैक्षिक संस्थाओं का भ्रमण करने का मौका मिला। कोशिश थी दिल्ली के विद्यालयों में बदलाव लाने के लिए उन्हें वर्तमान में सीखने-सिखाने को लेकर नई सोच से अवगत कराया जाए। उम्मीद यह थी कि वह अपने रोज़ के अभ्यास से कुछ अलग सोच सकें। भारत से बाहर जिन संस्थानों में मेंटॅर टीचर गए वे है नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन, सिंगापुर (National Institute of Education, Singapore), हावर्ड यूनिवर्सिटी, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका (Harvard University, USA) और कैंब्रिज यूनिवर्सिटी, यूनाइटेड किंगडम (Cambridge University, United Kingdom)। भारत में वह इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट (Indian Institutes of Management) और विभिन्न राज्यों के विद्यालयों के भ्रमण पर गए।

प्रारम्भिक समूह के क्षमतावर्धन कार्यक्रमों के दौरान विषय एवं शिक्षणशास्त्र की समझ और इनके अंतर्सम्बन्धों में जो कमियाँ नज़र आई, मेंटॅर टीचर के दूसरे समूह में उन्हें पूरा करने की कोशिश है। दस दिन का औपचारिक, सघन कार्यक्रम आयोजित किया गया, जिस में मौजूदा मेंटॅर टीचर को भी सन्दर्भ व्यक्ति के तौर पर शामिल किया गया। इसके बाद ज़ोनल स्तर पर मासिक बैठकों के माध्यम से क्षमतावर्धन की प्रक्रिया जारी रहेगी। व्हाट्स एप और गूगल ग्रुप भी बनाए गए हैं, जिनमें मेंटॅर टीचर और अधिकारी शामिल हैं; साथ में टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर को भी शामिल किया गया है। बीआरसी भी मेंटॅर टीचर के समर्थन में शामिल है; सीआरसी का काम विद्यालय के साथ ज़्यादातर सीधे है।

टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर

करीब 2017 की मई-जून में विद्यालयों में टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर की नियुक्ति की गई। इसके पीछे यह सोच थी कि मेंटॅर टीचर अच्छा काम कर रहे हैं, परन्तु विद्यालय के स्तर पर भी कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो विद्यालय में ही रह कर, एक शिक्षक के सारे कार्य करते हुए, अपने सहकर्मियों (हर विद्यालय में 50-100 शिक्षक नियुक्त हैं) का क्षमतावर्धन करे।

मेंटॅर टीचर की तरह, टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर को कुछ अधिक सुविधाएँ या वेतन नहीं मिलता; उनकी प्रेरणा केवल अपना व्यक्तिगत एवं व्यावसायिक विकास है। दिनचर्या में कुछ समय उन्हें अपनी ज़िम्मेदारी निभाने के लिए दिया जा रहा है। 2018 के अन्त तक करीब 1000 टीचर डेव्लपमेंट कॉर्डिनेटर नियुक्त किए गए और उनकी क्षमतावर्धन की प्रक्रिया जारी है। इनमें से 50 को भ्रमण पर भेजा जा चुका था।

टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर का चयन भी एक स्वैच्छिक प्रक्रिया द्वारा हुआ; इच्छुक शिक्षकों का मुख्य/प्रधान अध्यापक ने नामांकन किया। टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर ज़्यादातर पीजीटी हैं; प्रारम्भिक समूह के कुछ मेंटॅर टीचर,

जो अपने विद्यालय वापस लौट आए हैं, उन्हें भी टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर नियुक्त किया गया है।

ज़्यादातर टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर समन्वयन और जानकारी पहुँचाने का काम कर रहे हैं, पर अपेक्षा है कि वह सहकर्मियों के विकास में भागीदारी लेंगे। इस कार्यक्रम की सफलता के लिए एससीईआरटी और डाइट के स्तर पर कोर टीम बनाई गई है। वर्तमान में, हर विद्यालय में एक टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर नियुक्त किया गया है, लेकिन आगे जाकर हर विषय के लिए एक टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर का प्रस्ताव है।

उपसंहार

दिल्ली में शिक्षक समर्थन के लिए ऐसे ढाँचे की संरचना की गई है जो हर स्तर को कड़ी में जोड़ सके, निदेशालय से लेकर एससीईआरटी और डाइट एवं बीआरसी से होते हुए विद्यालय तक। इस ढाँचे में न केवल 'ऊपर' से आदेश आ सकते हैं, बल्कि विद्यालय से ऊपर भी संदेश जा सकते हैं। एससीईआरटी और डाइट तक न सीमित रह कर विद्यालय के स्तर पर विकेन्द्रीकरण की कोशिश की गई है। टीचर डेवलपमेंट कॉर्डिनेटर के माध्यम से शिक्षक समर्थन की प्रक्रिया और भी स्थानीय हो गई है। साथ ही, सम्पर्क में बहुत सुधार आया है, क्योंकि जानकारी के प्रवाह में कोई बाधा नहीं है।

इस कोशिश के पीछे सोच यह थी कि ज़्यादा से ज़्यादा प्रतिबद्ध और उत्सुक शिक्षकों का क्षमतावर्धन कर उन्हें वापस विद्यालय में भेजा जाए, जहाँ वह और बेहतरीन काम कर सकें। दो साल के बाद और शिक्षकों को मौका मिलेगा। सोच यह भी थी कि जो शिक्षक स्वप्रेरित नहीं हैं, उन्हें भी प्रेरणा मिलेगी।

जिन मेंटॅर टीचर से बात हुई, उनका कहना था कि इस अनुभव से उन्हें अपने विकास के लिए ऐसे मौके मिले हैं, जिनके बारे में वे सोच भी नहीं सकते थे। यह मौके और जो उनकी इस कार्य के जरिए पहचान बनी है, उनके लिए प्रेरणा का स्रोत हैं। हालाँकि उन्हें काफी चुनौतियों का सामना करना पड़ा उन्हें लगता है कि हर कार्यक्रम की शुरुआत में ऐसा होता है और अब प्रक्रियाएँ काफी हद तक निर्विघ्न हो गई हैं। कुछ मेंटॅर टीचर ने लिखना शुरू कर दिया है; चार फुलब्राइट स्कॉलर्स (Fulbright Scholars) रह चुके हैं।

मेंटॅर टीचर कार्यक्रम का एक अप्रत्याशित परिणाम है एक समूह जो अकादमिक चर्चा करता है– कभी रु-ब-रु होकर, या व्हाट्स एप और गूगल ग्रुप पर।

मेंटॅर टीचर कार्यक्रमों को लेकर यह सोच है कि इन्हें आयोजित करने के लिए लम्बे समय की ज़रूरत है। पर इनका फायदा यह है कि यह बहुत कम लागत पर क्रियान्वित किए जा सकते हैं, अगर ऐसे व्यक्ति मिल जाएँ, जिनमें ज़रूरी विशेषताएँ हैं। (West, 2002)

दिल्ली में यह कार्यक्रम करीब तीन साल पुराना है और इसकी प्रभावकारिता पर कोई गहन शोध नहीं किया गया है। अगर हम इस कार्यक्रम के सुविधाजनक कारकों की खोज करें, तो उनमें सबसे पहला है मेंटॅर टीचर का उत्साह और प्रतिबद्धता। साथ में जुड़ता है उनका क्षमतावर्धन। अपने सहकर्मियों को यह आश्वासन देने की क्षमता कि वह उन्हें अपने अभ्यास को बेहतर करने में योगदान दे सकते हैं, भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है। यह कारक तो अकसर दिख जाते हैं। दिल्ली में जो अलग है, वह है सरकार की प्रतिबद्धता, दिल्ली के पूरे शिक्षातंत्र की भागीदारी और यह सच्चाई कि दिल्ली एक छोटा राज्य है। इसके बावजूद, बातचीत के दौरान, क्षमता और सहकर्मियों की स्वीकृति अब भी मुद्दे लग रहे हैं। ज़ाहिर है कि इन्हें सुलझाने के लिए काफी सोच और समय की ज़रूरत है।

हमारे शिक्षकों में उत्साह और प्रतिबद्धता की कमी नहीं है। परन्तु, काफी कम लागत पर,

दिल्ली के मेंटॅर टीचर्स को कुछ अलग जानने और समझने के अवसर दिए गए। उनके साथ निरन्तर, डाइट और एससीईआरटी एवं कई और संस्थान भी जुड़े रहे। यह तभी मुमकिन हैं जब लम्बे अरसे तक राजनीतिक इच्छाशक्ति बनी रही।

अगर मेंटॅर टीचर कार्यक्रम का क्रियान्वयन किसी और राज्य में करना हो, तो इन सब कारकों पर गहरा ध्यान देना होगा। शायद बेहतर यही होगा कि सीआरसी और बीआरसी को सुदृढ़ बनाया जाए।

आख़िर में, तमाम चुनौतियों और सफलताओं के बीच, एक बात निर्विवाद रूप से सही है - शिक्षक जिस अलगाव में काम करते रहे हैं, वह दिल्ली में कुछ कम हुआ है।

आभार : यह लेख अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के यूनिवर्सिटी प्रेक्टिस कनैक्ट के अंतर्गत दिल्ली में विभिन्न हितधारकों (शिक्षा अधिकारी, डाइट के सदस्य, माताएँ, बच्चे, राजनीतिक कार्यकर्ता, NGOs के कार्यकर्ता, मुख्य/प्रधान अध्यापकों और शिक्षकों) के साथ चर्चा और कुछ विद्यालयों के अवलोकन पर आधारित है। मैं अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, जिसका हिस्सा होने के कारण कई द्वार खुले, हितधारक, जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय निकाला, और शांताकुमार (अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु) एवं श्रद्धा जैन (सेंटर फॉर डेवलपमेंट स्टडीज़, थिरुवंथापुरम), जिनके साथ मैंने यह कार्य किया, का आभार प्रकट करना चाहूँगी।

सन्दर्भ

Blank, M.A., Sindelar, N. (1992). *Mentoring as Professional Development: From Theory to Practice.* The Clearing House, Vol. 66, No. 1, pp. 22-26

Bova, B.M., Phillips, R. (1982). *A Study of the Mentor Relationship.* American Secondary Education, Vol. 12, No. 1, pp. 29-31

Curley, J.R. (1988). *Educational Reform and Mentor-Teacher Programmes in the United States.* The Irish Journal of Education, Vol. 22, No. 1, pp. 3-13

DISE 2016-17*. Elementary Education.* State Report Card.

Eckmier, J., Bunyan, R. (1995). *Mentor Teachers: Key to Educational Renewal.* Educational Horizons, Vol. 73, No. 3, pp. 124-129

Ganser, T. (1995). *Principles for Mentor Teacher Selection.* The Clearing House, Vol. 68, No. 5, pp. 307-309

Government of NCT of Delhi (Delhi Govt.) (2016). Circular: Role and functions of mentor teachers in schools.

Retrieved from http://dixitschoolweb.in/Circular/DTE/Duties and Resposibilities / 2016_07_08_role and Functions of Mentor Teacher in Schools.pdf

Haddad, W.D. (1995). *Education policy-planning process: An applied framework.* Paris: UNESCO, International Institute for Educational Planning.

Retrieved from http://www.unesco.org/education/pdf/11_200.pdf

Halpin, D., Troyna, B. (1995). *The politics of education policy borrowing.* Comparative Education, Vol. 31, No. 3, pp. 303-310

Hanson, S., Moir, E. (2008). *Beyond Mentoring: Influencing the Professional Practice and Careers of Experienced Teachers.* The Phi Delta Kappan, Vol. 89, No. 6, pp. 453-458

Jain, D. (2017). *Has Delhi seen a notable increase in spending on education under AAP*? LiveMint, 23 March 2017.

Retrieved from : https://www.livemint.com/Politics/UoKrratoe1TILOciJFmIeP/Has-Delhi-seen-a-notable-increase -in-spending-on-education-u.html

Kyle, D.W., Moore, G.H., Sanders, J.L. (1999). *The Role of the Mentor Teacher: Insights, Challenges, and Implications.* Peabody Journal of Education, Vol. 74, No. 3/4, pp. 109-122

McConnell, A. (2010). *Policy success, policy failure and grey areas in-between*. Journal of Public Policy, Vol. 30, No. 3, pp. 345-362

Praja Foundation. (2017). *State of Public (School) Education in Delhi*.

Sanchez, S.R., Roegman, R., Goodwin, A.L. (2016). *The Multiple Roles of Mentors*. The Phi Delta Kappan, Vol. 98, No. 2, pp. 66-71

Schaverien, L., Cosgrove, M. (1997). *Learning to Teach Generatively: Mentor-Supported Professional Development and Research in Technology and Science.* The Journal of the Learning Sciences, Vol. 6, No. 3, pp. 317-346

Shapley, K.S., Luttrell, H.D. (1992). *Effectiveness of Mentor Training of Elementary Colleague Teachers*. Journal of Elementary Science Education, Vol. 4, No. 2, pp. 1-12

Sharma, K. (2018). *Delhi allocates 26% to education in its budget.* The Times of India, Mar 22, 2018. Retrieved from: https://timesofindia.indiatimes.com/home/education/news/delhi-allocates-26-to-education-in-its-budget/articleshow/63413141.cms

The Economic Times. (2015). *Delhi Assembly passes budget for 2015-16.* The Economic Times, Jun 30, 2015.

Retrieved from : https://economictimes.indiatimes.com/news/economy/finance/delhi-assembly-passes-budget -for-2015-16/articleshow/47886518.cms

West, P.R. 21st *Century Professional Development: The Job-Embedded, Continual Learning Model.* American Secondary Education, Vol. 30, No. 2, pp. 72-86

लेख में दिए गए कुछ शब्द संक्षेपों का विवरण

एनसीईआरटी (NCERT)- नैशनल कॉउन्सिल ऑफ़ एजुकेशनल रिसर्च एंड ट्रैंनिंग (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद)

एससीईआरटी (SCERT)- स्टेट कॉउन्सिल ऑफ़ एजुकेशनल रिसर्च एंड ट्रैंनिंग (राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद)

डाइट (DIET)- डिस्ट्रिक्ट इंस्टिट्यूट ऑफ़ एजुकेशन (जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान)

बीआरसी (BRC)- ब्लॉक रिसोर्स सेण्टर (विकास खंड स्रोत केंद्र)

सीआरसी (CRC)- क्लस्टर रिसोर्स सेण्टर (संकुल स्रोत केंद्र)

पीजीटी (PGT)- पोस्ट ग्रेजुएट टीचर

टीजीटी (TGT)- ट्रेंड ग्रेजुएट टीचर

न्यूपा (NUEPA)- नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ़ एजुकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनस्ट्रेशन

NGO - नॉन गवर्नमेंट ऑर्गेनाइज़ेशन (स्वयंसेवी संगठन)

निमरत खंदपुर पिछले आठ सालों से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत हैं। वर्तमान में वह स्कूल ऑफ कंटीन्यूइंग एजुकेशन एंड यूनिवर्सिटी रिसोर्स सेंटर, अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का हिस्सा हैं। वह शिक्षा नीति, शिक्षक शिक्षा एवं अध्यापन के क्षेत्र में सक्रिय हैं।

संपर्क : nimrat.kaur@azimpremjifoundation.org

विज्ञान की प्रयोगों से रिश्तेदारी क्यों ?

विज्ञान शिक्षकों के साथ कार्य करने के कुछ अनुभव

अर्चना

विज्ञान एक ऐसा विषय है जिसके बारे में सोचते ही आधुनिक प्रयोगशालाओं, कुछ पेड़-पौधों, कुछ उपकरणों आदि के चित्र सामने आ जाते हैं। विज्ञान को लेकर हर व्यक्ति की अपनी राय होती है। कुछ इसे प्रगति और विकास से जोड़ते हैं, तो कुछ विनाश और तबाही से। कहीं पर इसे अन्धविश्वासों को दूर करने के माध्यम और तर्कशील होने के रूप में देखा जाता है, तो कहीं इसे परम्पराओं और मूल्यों का सर्वनाश करने के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। किसी भी चीज़ को देखने के नज़रिए में विविधता तो होती ही है और होनी भी चाहिए। यहाँ हम इन बिन्दुओं पर सीधेतौर पर चर्चा करने की बजाए, स्कूलों में विज्ञान शिक्षण की यथार्थ स्थिति को देखते हुए कुछ शिक्षकों द्वारा किए गए कार्यों की चर्चा करेंगे।

इस लेख में मैंने विज्ञान विषय में काम करने के अपने कुछ महीनों के अनुभवों को समेकित करने की कोशिश की है। इन अनुभवों में न सिर्फ़ विद्यालय भ्रमण की बातों को शामिल किया है, बल्कि शिक्षकों के साथ कार्य करने के विभिन्न मंचों जैसे– संकुल बैठक, टीचर लर्निंग सेण्टर की परिचर्चाओं, कार्यशालाओं, बाल-मेला आदि के दौरान हुई बातचीत को भी शामिल किया है।

1. स्थितियों का अवलोकन और व्यक्तिगत समझ

शिक्षा के क्षेत्र में काम करने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि पहले वास्तविक स्थितियों का अवलोकन किया जाए, उनपर गहरी समझ बनाई जाए और फिर कार्य को बेहतर तरीक़े से करने के विकल्पों की तलाश की जाए। इसी उद्देश्य के साथ नवागढ़ और पामगढ़ ब्लॉक के 10 संकुलों की क़रीब 50 माध्यमिक शालाओं में जाने का अवसर प्राप्त हुआ। शुरुआत के दिनों में शिक्षकों से मिलने का उद्देश्य उनसे परिचित होने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व को समझना रहा। शिक्षकों के साथ कार्य करने के लिए उनके साथ एक रिश्ता बनना बहुत ज़रूरी है। व्यक्तिगत रूप से मेरी यह कोशिश रहती है कि शिक्षक के साथ ऐसा रिश्ता हो कि वे अपने विचार और बातों को साझा करने के लिए झिझकें नहीं, साथ ही उनमें कहीं भी श्रेष्ठता या हीनता की भावना न आए। यह अपने-आप में बहुत ही चुनौतीपूर्ण होता है क्योंकि बातचीत के दौरान कई शिक्षक ऐसे मिले जो शुरुआत में तो बात तक करने को तैयार नहीं थे। उनके भी अपने कारण थे जिनमें स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण सबसे प्रमुख था। लेकिन अलग-अलग मंचों पर उनसे मुलाक़ात और नियमित विद्यालय भ्रमण ने इस चुनौती को पूरी तरह ख़त्म कर दिया है। लगभग डेढ़ वर्ष के बाद शिक्षक न सिर्फ़ हमारे कार्य करने के उद्देश्य को समझने लगे हैं, बल्कि अपने विद्यालय की अकादमिक चुनौतियों को साझा करने के साथ-साथ अपने द्वारा किए गए कार्यों को भी बताने लगे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं हैं कि इस कार्य में असीम ऊर्जा लगती है। इस दौरान कई बार हताशा भी हुई। कई विद्यालयों की स्थिति देखकर आज भी मन भारी हो जाता

है लेकिन शिक्षकों के कार्य देखकर थोड़ा बल भी मिलता है। इस दौरान कई शिक्षक ऐसे भी मिले जिनसे बात करना समय को व्यर्थ करने जैसा लगा। इसके साथ ही कई शिक्षक ऐसे भी मिले जिनसे प्रेरणा मिली। इन्हीं सब शिक्षकों में से कुछ के साथ कार्य करने के अपने अनुभव मैं यहाँ साझा कर रही हूँ।

2. विज्ञान और संसाधनों की कमी

यूँ तो विज्ञान विषय को प्रकृति से जुड़ा हुआ माना जाता है लेकिन जब बात कक्षा कक्ष में विज्ञान शिक्षण की आती है तो एक बात गहराई से निकलकर आई, और वह है, संसाधनों की कमी। विद्यालय भ्रमण के दौरान अधिकतर शिक्षकों ने कहा कि वे बेहतर तरीक़े से विज्ञान इसलिए नहीं पढ़ा पाते हैं क्योंकि उनके विद्यालय में पर्याप्त संसाधन नहीं हैं। एक शिक्षक तो यह तक कहते मिले कि शासन को हर उच्च प्राथमिक स्कूल में कम-से-कम एक लैब (प्रयोगशाला) ज़रूर देना चाहिए। ऐसा क्यों हो, इसका जवाब वे स्पष्ट रूप से नहीं बता सके। ख़ैर, इस पर तो लम्बी बहस चली कि कई स्कूलों में अच्छी-ख़ासी प्रयोगशालाएँ बनी हुई हैं, फिर वहाँ पर भी ऐसी स्थिति क्यों बनी हुई है? यक़ीनन संसाधन अपने-आप में महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन यह भी देखना होगा कि क्या उनके बग़ैर हम कोई और विकल्प की मदद से बेहतर शिक्षण नहीं कर सकते। यहाँ दिक़्क़त संसाधनों की कमी से बढ़कर कुछ और है। इसे मैंने कुछ कार्यशालाओं के दौरान समझा। अभी तक की विज्ञान विषय की कार्यशालाओं का अनुभव हमें यह समझने में मदद करता है कि अगर शिक्षक विषय की प्रकृति को जानता और समझता है, और अपनी इस समझ को कक्षा कक्ष में लागू करने के लिए उत्सुक है तो वह बेहतर विज्ञान शिक्षण कर सकता है। यह ज़रूरी नहीं कि उसे कक्षा में पढ़ाई जाने वाली सभी अवधारणाओं के बारे में पता हो। लेकिन, चूँकि वह विषय की प्रकृति से परिचित है तो वह अपनी तैयारी पहले करेगा और फिर बच्चों को इस प्रक्रिया में शामिल करेगा। इस दौरान वह आने वाली चुनौतियों का सामना भी कर सकेगा। लेकिन विषय की प्रकृति को समझना और अपने शिक्षण में शामिल करना इतना आसान भी नहीं है। विज्ञान शिक्षण जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात करता है, वह न सिर्फ़ कक्षा-कक्ष के अन्दर के लिए होता है बल्कि वह हर व्यक्ति विशेष के लिए जीवन जीने की एक कला के रूप में होता है। कई शिक्षकों के साथ लगातार दो से तीन वर्ष कार्यशालाओं के माध्यम से जुड़े होने के बाद भी हम विषय की प्रकृति पर उनकी समझ नहीं बना पाते। कारण इसकी जटिलता नहीं, बल्कि वर्षों के सीख़ने के पारम्परिक तरीक़े हैं, जिन्हें छोड़ पाना शिक्षकों के लिए आसान नहीं होता। पौधों के जड़ तंत्र को पढ़ाते समय ब्लैकबोर्ड पर मूसला और रेशेदार जड़ों के चित्र बनाना और किताब में दिए गए उदाहरण देना, आसपास से विभिन्न तरह की जड़ों के सैम्पल लाकर बच्चों को वर्गीकरण करने के लिए देने से ज़्यादा आसान है। ज़ाहिर-सी बात है शिक्षक पहले वाले तरीक़े को अपनाते हैं और वजह पूछने पर संसाधनों की कमी, अन्य कार्यों का दबाव, कोर्स पूरा करने के लिए कम दिन जैसे कई कारण बताते दिखते हैं।

> विद्यालय भ्रमण के दौरान अधिकतर शिक्षकों ने कहा कि वे बेहतर तरीक़े से विज्ञान इसलिए नहीं पढ़ा पाते हैं क्योंकि उनके विद्यालय में पर्याप्त संसाधन नहीं हैं। एक शिक्षक तो यह तक कहते दिखे कि शासन को हर उच्च प्राथमिक स्कूल में कम-से-कम एक लैब (प्रयोगशाला) ज़रूर देना चाहिए।

3. विद्यालय भ्रमण की तैयारी

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए मैंने गर्मी की छुट्टियों के बाद विद्यालय भ्रमण के

लिए कुछ टॉपिकों पर अपनी तैयारी शुरू की। अकसर स्कूलों में रसायन से सम्बन्धित प्रयोगों को लेकर कुछ ज़्यादा हल्ला मचाया जाता है और इन्हीं से सम्बन्धित पाठ किताब के शुरू में हैं भी। तो तैयारी की शुरुआत रसायन के टॉपिकों से हुई, जिनमें पदार्थ की प्रकृति, पदार्थ की संरचना, पदार्थों का पृथक्करण, अम्ल, क्षारक एवं लवण, रासायनिक अभिक्रियाएँ एवं धातुएँ-अधातुएँ आदि शामिल थे। इन टॉपिकों को लेने के कई कारण थे। कुछ ऊपर दिए हुए हैं, जैसे– यह शुरू के पाठ हैं जो ज़्यादातर शिक्षक अपने स्कूलों में अगस्त-सितम्बर के महीनों में पढ़ाते हैं। इसके साथ ही ये टॉपिक रसायन के अन्तर्गत आते हैं जिससे ज़्यादातर शिक्षक असहज होते हैं, क्योंकि एक तो उन्होंने ये प्रयोग कभी किए नहीं होते और दूसरा, अधिकतर शिक्षकों ने स्नातक, जीव विज्ञान को लेकर किया होता है। पाठ्यपुस्तकों में भी अधिकतर प्रयोग इन्हीं पाठों में दिए गए हैं। यूँ समझ सकते हैं कि इन पाठों को करके समझने की ज़गह पढ़कर पार करना वैसा ही होता है जैसे फ़िल्म देखने की बजाय बस उसकी कहानी सुन लेना। विषयों का चुनाव होने के बाद उनकी तैयारी की गई। यह तैयारी पढ़ने के साथ-साथ प्रयोगों को सुरक्षित रूप से करने से भी की गई। "पदार्थों के रासायनिक प्रभाव" विषय पर हुई क्षमतावर्धन कार्यशाला की भी इन टॉपिकों पर तैयारी में पूरी भागीदारी रही। इसी कार्यशाला में मैंने कई उपकरणों के विकल्प को भी देखा। विषय के मॉड्यूल और विभिन्न स्रोतों से सामग्री पढ़ना भी इस तैयारी में शामिल रहा। बातचीत की निरन्तरता को बनाने के लिए इन्हीं विषयों को संकुल बैठकों, बाल-मेला और टीएलसी में होने वाली शनिवारीय चर्चाओं में रखा गया।

पाठ्यपुस्तकों में भी अधिकतर प्रयोग इन्हीं पाठों में दिए गए हैं। यूँ समझ सकते हैं कि इन पाठों को करके समझने की ज़गह पढ़कर पार करना वैसा ही होता है जैसे-फ़िल्म देखने की बजाय बस उसकी कहानी सुन लेना। विषयों का चुनाव होने के बाद उनकी तैयारी की गई। यह तैयारी पढ़ने के साथ-साथ प्रयोगों को सुरक्षित रूप से करने से भी की गई।

4. शिक्षकों और बच्चों के साथ होने वाली प्रक्रिया

विज्ञान में प्रयोग करना एक महत्त्वपूर्ण कौशल है। यह सिर्फ़ कक्षा को ही रोचक नहीं बनाता, बल्कि बच्चों और शिक्षकों दोनों को अवलोकन के अवसर देता है। इसलिए फ्रान्सिस बेकन कहते हैं, *"हमारे पास कुछ सीधे-सादे अनुभव (अवलोकन) होते हैं; यदि उन्हें वैसे ही स्वीकार किया जाए जैसे वे हैं, तो इसे संयोग कहते हैं, और यदि उनकी माँग की जाए तो वे प्रयोग होते हैं।"* प्रयोग में ज़रूरी नहीं कि कोई आविष्कार ही हो जाए। बने-बनाए सिद्धान्त को सत्यापित करने के लिए भी प्रयोग होते हैं। आख़िर पता तो चले, विज्ञान के जितने नियम और सिद्धान्त बने हैं वह अभी तक सही हैं कि नहीं। ऐसा करने से हम एक ऐसी प्रक्रिया में शामिल होते हैं जहाँ हम किसी दूसरे की कही बातों को सिर्फ़ ऐसे ही नहीं मानते हैं, बल्कि उसे जाँच-परख कर किसी निष्कर्ष पर आते हैं। यह एक ऐसा कौशल है जो आजीवन हमें बेहतर निर्णय लेने में मदद करता है।

माध्यमिक शाला, रिंगनी (गोधना संकुल, नवागढ़ ब्लॉक) में कक्षा अवलोकन के दौरान मैंने देखा कि शिक्षिका बच्चों के साथ जल में विलेयता पर कार्य करते समय बच्चों को अलग-अलग पदार्थ (नमक, चीनी, चॉक, मिट्टी और रेत) देकर पानी में उनकी घुलनशीलता का पता लगाने को कहती है। रसोई से सामग्री लाने से लेकर अलग-अलग गिलास में पानी के साथ उसका मिश्रण बनाना, उस मिश्रण के बारे में बताना एवं अन्य बच्चों को दिखाना, यह सभी कार्य शिक्षिका बच्चों से करवाती है। बीच-बीच में वह महत्त्वपूर्ण निर्देश देती है एवं बच्चों के अवलोकनों को ज़ोर से बोलकर अन्य बच्चों को प्रश्न पूछने के लिए

प्रेरित करती है।

अब कहने वाले कह सकते हैं कि यह तो बहुत आसान बात है। बच्चे अकसर घर में शरबत बनाने के दौरान यह तो करते ही हैं। फिर कक्षा में इसे करने की भला क्या ज़रूरत? सही बात है। बच्चे अपने घर और समुदाय से कई सारे अनुभव लेकर आते हैं। लेकिन क्या हम उन अनुभवों को कक्षा में जोड़ पाते हैं? अगर नहीं, तो फिर शायद हम विज्ञान नहीं कुछ और ही कर रहे हैं। यहाँ शिक्षिका बच्चों से वही गतिविधि करवा रही है जो शायद वे पहले कर चुके हैं, लेकिन वह उन्हें सोचने और अवलोकन करने का वह मौक़ा भी दे रही है जो बच्चों ने पहले न किए हों। जैसे– चॉक पानी में घुलेगा कि नहीं, इस सवाल पर कई बच्चों ने कहा, "घुल जाएगा", वहीं कई ने कहा, "नहीं घुलेगा"। जब बच्चों ने ख़ुद इस प्रयोग को करके ध्यान से देखा तो उन्हें दिखा कि काफ़ी समय के बाद भी चॉक के अवशेष पानी में बचे रह जाते हैं। वह पूरी तरह नहीं घुलता है। इससे बच्चे इस निष्कर्ष पर पहुँच पाए कि चॉक पानी में सामान्य स्थिति में अघुलनशील है। इस पूरी प्रक्रिया में एक बात तो तय है कि बच्चे विज्ञान पढ़ नहीं रहे हैं बल्कि उसे कर रहे हैं, और उनके मस्तिष्क में विचार तेज़ी से बन रहे हैं। इस प्रयोग को करने के लिए मुझे नहीं लगता किसी प्रयोगशाला की ज़रूरत होगी।



चित्र 1. अपने अवलोकन साझा करते माध्यमिक शाला देवरी के बच्चे

अगला अनुभव है माध्यमिक शाला, लोहर्सी (लोहर्सी संकुल, पामगढ़ ब्लॉक) का। यहाँ शिक्षक की सबसे बड़ी चुनौती है कि उनकी कक्षाओं में कुछ बच्चों की भागीदारी तो बहुत रहती है, लेकिन कुछ बच्चे बोलने से भी झिझकते हैं। कक्षा सातवीं और आठवीं के बच्चे बोलने से नहीं घबराते, लेकिन छठवीं में आए बच्चों में यह दिक़्क़त काफ़ी दिखती है जिसके लिए शिक्षक कई तरह के प्रयास करते दिखते हैं। इनमें कक्षा में पढ़ाने के दौरान उनसे सवाल आमन्त्रित करना, उन्हें उत्तर देने के लिए प्रेरित करना, समूह में कार्य करवाना आदि मुख्य हैं। सातवीं कक्षा में परावर्तन के नियमों को सीधे बताने की बजाय वे बच्चों को पेन्सिल, चाँदे, स्केल, लेज़र टॉर्च आदि की मदद से ख़ुद नियम निकालने के लिए प्रेरित करते हैं। इसी स्कूल में कक्षा आठवीं में मैंने जब प्रकाश के अपवर्तन पर बच्चों से चर्चा करने की योजना बनाई तो चर्चा की शुरुआत उन्हें कुछ अवलोकन करवाने से की। प्लास्टिक की आधी कटी पारदर्शी बोतल में एक पैंसिल और छोटे-से आलू को डुबाकर बच्चों को

दिखाया और बच्चों से पूछा कि उन्हें क्या दिख रहा है? बच्चों ने तुरन्त बताना शुरू किया कि पैंसिल टेढ़ी और टूटी हुई दिख रही है एवं आलू फूला हुआ और बड़ा दिख रहा है, अलग-अलग कोण से देखने पर अलग-अलग दिख रहा है। ऐसा क्यों दिख रहा है? इसपर बातचीत शुरू की, तो कई अनुमान निकले। बच्चे पानी और प्लास्टिक के माध्यम पर भी अपने विचार रखते दिखे। ऐसा नहीं है कि बच्चों ने यह पहली बार किया होगा। नहाते समय हम कई बार पानी से खेलने के दौरान देखते हैं कि मग चिपटा दिख रहा है, बाल्टी का तल ऊपर उठा हुआ दिख रहा है, हमारी हाथों की उँगलियाँ पानी के अन्दर मज़ेदार तरीक़े से मोटी दिख रही हैं। लेकिन हम इनके कारणों पर कहाँ सोच पाते हैं? ऐसा क्यों हो रहा है यह सोचने के मौक़े देना शिक्षक की ज़िम्मेदारी होती है।

माध्यमिक शाला, नगारीडीह (केरा संकुल, नवागढ़ ब्लॉक चित्र 3) में विज्ञान शिक्षिका, अम्ल, क्षार और लवण पढ़ाने के दौरान बच्चों को लिटमस पेपर से परीक्षण करवाती आई हैं, लेकिन इस बार लिटमस के साथ-साथ उन्होंने कुछ प्राकृतिक सूचकों की मदद से भी पढ़ाने का निर्णय किया। विद्यालय भ्रमण के एक दिन पहले ही समूह में बच्चों को सामग्री लाने को कह दिया गया। अगले दिन विज्ञान विषय के पीरियड के लिए बच्चे सुबह से ही उत्साहित थे। सूचकों के बारे में बताने के बाद शिक्षिका ने बच्चों से गुड़हल के रंग और हल्दी से अलग-अलग अम्लीय एवं क्षारीय पदार्थों की जाँच करवाई। बच्चों को इसमें काफ़ी मज़ा आ रहा था। शिक्षिका के बताए सैम्पल के अलावा बच्चे कई सैम्पल लाए थे। वे उन्हें जाँचकर देख रहे थे। इस प्रयोग को करते समय यह भी ध्यान दिया कि उन्होंने गुड़हल का जो रंग बनाया है, वह किताब में दिए रंग से अलग है। यहाँ



चित्र 2. प्रकाश के अपवर्तन प्रयोग पर कार्य करते माध्यमिक शाला लोहर्सी के बच्चे

बच्चों से यह बातचीत की गई कि कैसे किताब में दी गई हर सूचना अपने आप में पत्थर की लकीर नहीं होती। हो सकता है कि यह एक प्रारूपिक चित्र हो। अब अगर हमारा सूचक गहरे लाल रंग का दिख रहा है तो उसे किताब में दिए गए हल्के लाल की तरह तो नहीं बता सकते। प्रयोग करते समय कई अवस्थाओं को नियन्त्रित करना भी ज़रूरी होता है। हो सकता है हमने गुड़हल को पानी में डालकर अधिक गर्म कर दिया हो। प्रयोग करने के बाद के परिणाम को हम अकसर शत-प्रतिशत किताब की तरह लाने की कोशिश करते हैं, यह जाने बिना कि अलग-अलग परिस्थितियों में परिणाम अलग-अलग आते हैं। शिक्षिका के अनुसार पहले भी कक्षा में वह बहुत मेहनत से पढ़ाती थीं, लेकिन फिर भी उन्हें अपेक्षित परिणाम नहीं मिल पा रहा था। दो विषय पढ़ाने के कारण उन्हें किसी पाठ को पढ़ाने में समय भी ज़्यादा लग रहा था। अब उन्होंने कक्षा में ज़्यादा-से-ज़्यादा प्रयोग और बच्चों से चर्चा करना शुरू की है। इससे उनका कार्य भी तुलनात्मक रूप से आसान हो गया है। बच्चे न सिर्फ़ अपने शब्दों में अपने अनुभव लिख पाते हैं, बल्कि उनकी कक्षा भी रोचक हो गई है। आजकल तो बच्चे ढेर सारे सवाल पूछने लगे हैं। कई बार उनके पास भी उत्तर नहीं होता लेकिन उन्हें सन्तुष्टि है कि वह बच्चों की जिज्ञासा तो जगा पा रही हैं।

माध्यमिक शाला, सिंघुल (शिवरीनारायण संकुल, नवागढ़ ब्लॉक चित्र 4) के विज्ञान शिक्षक "रासायनिक अभिक्रिया : कब और कैसी?" पाठ को लेकर परेशान थे कि कैसे इस पाठ के प्रयोगों को किया जाए, क्योंकि किताब में दिए गए प्रयोगों के लिए कई उपकरण चाहिए थे जो उनके पास नहीं थे। उन्होंने कई शिक्षकों के साथ अपनी यह दिक़्क़त संकुल बैठक में रखी। शिक्षकों के साथ मिलकर हमने इस पाठ में दिए कुछ प्रयोग किए। सबसे पहले एक उपकरण तैयार किया। इसके लिए इंजेक्शन की छोटी शीशी ली और उसके ढक्कन में छेद कर उसमें पेन की रिफ़िल डाली। इस रिफ़िल का एक छोर ढक्कन से होकर शीशी के अन्दर जा रहा था और दूसरे छोर में साइकिल की वाल्व ट्यूब की पाइप लगाई। बस, हमारी परखनली और मुड़ी हुई ट्यूब तैयार थी। अब हमें सबसे पहले सोडियम बाइकार्बोनेट को गर्म करके कार्बन डाइऑक्साइड गैस का परीक्षण करना था। हमने शीशी में एक चम्मच ख़ाने वाला सोडा लिया और दूसरी शीशी में एक दिन पहले बने हुए चूने के पानी को रखा। गर्म करने के लिए मोमबत्ती का और शीशी को पकड़ने के लिए लकड़ी के हैंडल का इस्तेमाल किया गया। जैसे ही ख़ाने के सोडे को गर्म करना शुरू किया, चूने का पानी दूधिया होना शुरू हो गया। शिक्षकों को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने





चित्र 3. रासायनिक अभिक्रिया और अम्ल-क्षार के प्रयोग करते हुए माध्यमिक शाला नगारीडीह के बच्चे

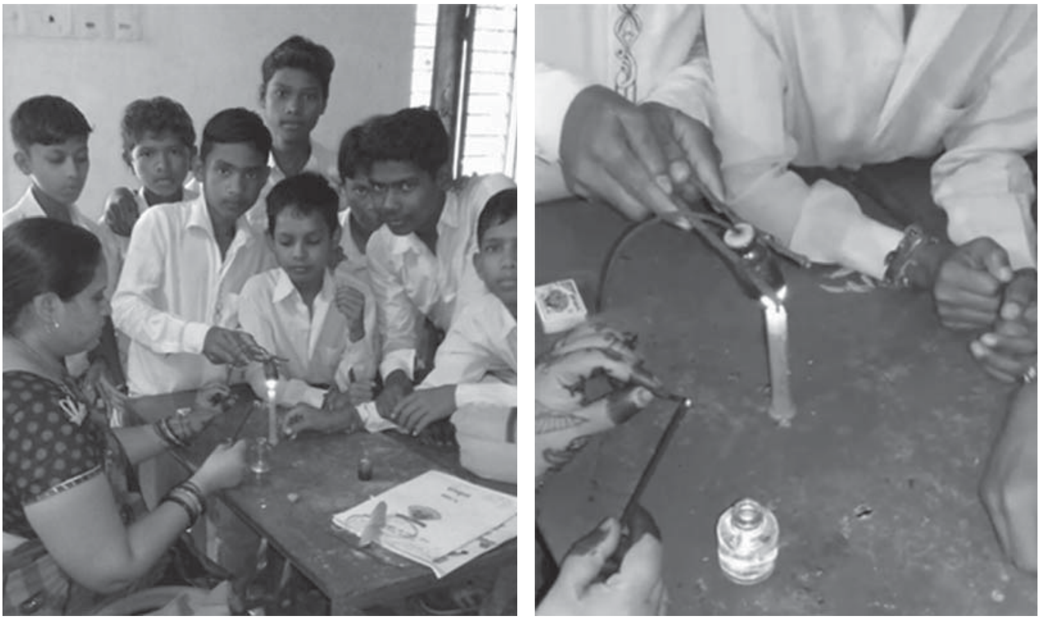
कहा कि बचपन से पढ़ते आ रहे हैं चूने के पानी का दूधिया होना, आज पहली बार करके देख रहे हैं कितनी आसानी से होता है। इसी चर्चा के बाद शिक्षक ने अपने स्कूल में बच्चों के साथ यह सभी प्रयोग किए। प्रयोग करने के दौरान शिक्षक बच्चों के साथ बातचीत करते हुए वैज्ञानिक प्रक्रिया के बारे में भी बताते जा रहे थे कि आख़िर क्यों अवलोकन करना और प्रश्न करना ज़रूरी है। ऑक्सीजन परीक्षण करने के लिए पोटैशियम परमैंगनेट को गर्म करते समय कई बार जलती हुई अगरबत्ती की लौ नहीं बढ़ी, जिससे बच्चों ने निश्चय किया कि वे इसे दोबारा करेंगे। दोबारा किया तो भी ऐसा ही हुआ। फिर जाँच करने पर पता चला कि ढक्कन पूरा बन्द नहीं था जिससे गैस निकली जा रही थी। ढक्कन को फिर से बन्द करके जब बच्चों ने प्रयोग किया तो अगरबत्ती जल उठी। यह देखकर सभी बच्चे खुश हो गए। इसी पर आगे चर्चा हुई कि क्या वैज्ञानिकों को भी ऐसी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता होगा? प्रयोग करते समय प्रायोगिक त्रुटियाँ होने का यह कतई मतलब नहीं है कि शिक्षक को आता नहीं है। इसका यह भी मतलब नहीं है कि इसके कारण हम अगली बार से प्रयोग करने से बचने लगें। यह तो हमें सोचने के और मौक़े देता है।

माध्यमिक शाला, बालक शिवरीनारायण (शिवरीनारायण संकुल, नवागढ़ ब्लॉक, चित्र 5) की विज्ञान शिक्षिका, कार्यशालाओं के माध्यम से हमसे काफ़ी समय से जुड़ी हुई हैं। शिवरीनारायण में रहने के कारण वह अकसर शाम की अनौपचारिक चर्चाओं में भी शामिल होती रही हैं। इन चर्चाओं के दौरान मैडम को जो बातें उनके कक्षा कक्ष के लिए उपयोगी लगती थीं वह उसे अपने शिक्षण में ज़रूर शामिल करतीं। एक बार ऐसे ही धातु-अधातु पढ़ाने के दौरान धातुओं और अधातुओं की चालकता जाँच करने के लिए उन्होंने बच्चों से एक विद्युत परिपथ बनवाया और कई सैम्पल की जाँच की। यह विद्युत परिपथ किताब में तो दिया हुआ था, लेकिन उन्होंने कभी ख़ुद उसे बनाकर नहीं देखा था। टीएलसी में हुए विज्ञान उत्सव के दौरान हमारे द्वारा बनाया गया यह विद्युत परिपथ उन्हें काफ़ी उपयोगी लगा, तो उन्होंने ज़रूरी सामग्री ख़रीदकर बच्चों को दी। चाहतीं, तो वे पूरा परिपथ बनाकर बच्चों को देतीं लेकिन उन्होंने यह कार्य बच्चों से करवाया क्योंकि आगे के पाठों में उन्हें विद्युत् परिपथ के बारे में भी पढ़ना है। तो इस प्रयोग से चालकता और विद्युत परिपथ दोनों के बारे में उन्होंने बच्चों को बताया। यहाँ उनका मक़सद सिर्फ़ मॉडल बनाकर दिखाना नहीं, बल्कि बच्चों को इसकी अवधारणा से परिचित करवाना था। इसके अलावा, उन्होंने भी संकुल बैठक में किए





चित्र 4. अम्ल-क्षार का परीक्षण करते हुए माध्यमिक शाला सिंघुल के बच्चे



चित्र 5. पोटैशियम परमैंगनेट को गर्म कर ऑक्सीजन का परीक्षण करते हुए माध्यमिक शाला शिवरीनारायण के बच्चे

गए प्रयोगों को रासायनिक अभिक्रिया पढ़ाने के दौरान बच्चों के साथ मिलकर किया। इसमें न सिर्फ़ बच्चों को मज़ा आया बल्कि उन्हें समझाने में भी आसानी हुई।

माध्यमिक शाला, बोरदा (गोधना संकुल, नवागढ़ ब्लॉक, चित्र 6) के विज्ञान शिक्षक अकसर अपने-आप को दो विषयों के बीच फँसा हुआ पाते हैं। उन्हें अपने विद्यालय में विज्ञान और गणित, दोनों ही विषय पढ़ाने होते हैं। इन दोनों विषयों के लिए अकसर उनके पास समय कम पड़ जाता है क्योंकि वे सिर्फ़ सिलेबस ख़त्म करने में विश्वास नहीं रखते हैं। विज्ञान में प्रयोग के महत्त्व को वे बख़ूबी समझते हैं इसलिए ज़्यादा-से-ज़्यादा बच्चों को प्रयोगों में शामिल करते हैं। इससे उन्हें किताबों की एक-एक पंक्ति पढ़ाने की ज़रूरत नहीं होती है। शरीर की रचनात्मक और कार्यात्मक इकाई 'कोशिका' पढ़ाने के लिए उन्हें सूक्ष्मदर्शी की ज़रूरत थी जो उनके स्कूल में नहीं है। लेकिन उन्होंने सूक्ष्मदर्शी की व्यवस्था टीएलसी से की और बच्चों को कई सैम्पल दिखाए। एक दिन पर्याप्त नहीं था तो उन्होंने उस सूक्ष्मदर्शी को 'सूक्ष्मजीव' पढ़ाने के लिए भी रखा और अपनी योजना भी उसी तरह से बनाई। यहाँ पर सूक्ष्मदर्शी के विकल्प के रूप में उन्होंने ख़ुद के



चित्र 6. कोशिकाओं का अवलोकन करते माध्यमिक शाला बोरदा के बच्चे

प्रयासों से बनाए एक सूक्ष्मदर्शी का भी उपयोग करने का प्रयास किया, लेकिन उसमें बेहतर परिणाम नहीं दिखे। यहाँ पर यह ग़ौर करने वाली बात है कि अगर शिक्षक को यह महत्त्वपूर्ण लगता है कि वह बच्चों के साथ प्रयोग करके ही बेहतर कार्य कर सकता है, तो वह संसाधनों के विकल्प और उनकी व्यवस्था ख़ुद कर लेता है।

माध्यमिक शाला, देवरी (खरौद संकुल, पामगढ़) की शिक्षिका विज्ञान शिक्षण में प्रयोगों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानती हैं, लेकिन उनका कहना है कि चूँकि उनके समय में कोई प्रयोग नहीं करवाए जाते थे इसलिए बिना उन्हें किए वे ख़ुद भी सहज नहीं हो पातीं। और इससे कक्षा में भी दिक़्क़त आती है कि किस तरह बच्चों के साथ चर्चा की जाए। 'पदार्थों की संरचना' पढ़ाने के दौरान उन्होंने बच्चों की मदद से कक्षा में कुछ पदार्थों का चार्ट लगाया। इसमें पदार्थों के नाम, उनके संकेत एवं उनके सैम्पलों को लगाया गया। अपने-आप में यह भी एक प्रयोग है। यहाँ बच्चे पदार्थ के नाम को रटने की बजाय उसे देख भी रहे हैं और उसके उपयोग के बारे में भी विचार कर रहे हैं। अम्ल, क्षार और लवण पढ़ाने के दौरान शिक्षिका ने हल्दी पत्रक बनाकर बच्चों को प्राकृतिक सूचक के बारे में बताया। इसके साथ ही गुड़हल एवं लिटमस पेपर से भी कुछ सैम्पलों का परीक्षण किया गया। इस स्कूल में शिक्षिका प्रयोग के माध्यम से बच्चों में आत्मविश्वास जगाने का कार्य कर रही हैं जिससे बच्चे अपने अनुभव साझा करने में झिझकें नहीं। यहाँ शिक्षिका के अन्दर सीखने और कुछ बेहतर करने की रुचि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। कार्यशाला हो, विद्यालय भ्रमण, संकुल बैठक या शनिवारीय चर्चा, मैडम बेझिझक अपनी अकादमिक समस्याएँ रखती हैं और उनके समाधान ढूँढ़ने की कोशिश करती हैं। कई बार स्कूल में कोई केमिकल नहीं होने के कारण वे अकसर टीएलसी से सामग्री ले जाकर या कहीं और से व्यवस्था कर बच्चों के साथ प्रयोग करती हैं।

5. समेकन

ऊपर दिए गए उदाहरणों का उद्‌देश्य शिक्षकों के साथ किए कार्य को दर्शाने का नहीं, बल्कि विज्ञान के लिए प्रयोगशाला की आवश्यकता को देखना है। यह सभी उदाहरण ऐसे स्कूलों के हैं जहाँ शिक्षकों की संख्या कम है और मूलभूत सुविधाओं की कमी है लेकिन इसके बावजूद शिक्षक बेहतर विज्ञान शिक्षण करने के लिए प्रयासरत हैं। इन उदाहरणों में शिक्षक बच्चों के साथ न सिर्फ़ चर्चा करते हुए दिखे, बल्कि उन्हें विभिन्न तरह के मौक़े जैसे– प्रदर्शन करना, अवलोकन करना, प्रश्न करना, निष्कर्ष पर आना आदि देते भी दिखे। यहाँ सूक्ष्मदर्शी को छोड़कर ऐसा कोई उपकरण इस्तेमाल नहीं हुआ जिसका बेहतर विकल्प नहीं तलाशा जा सकता। लेज़र टॉर्च के लेंस से बनाया गया सूक्ष्मदर्शी भी कभी-कभी काफ़ी बेहतर कार्य करता है लेकिन साफ़-सफ़ाई के अभाव में इसका इस्तेमाल थोड़ा कठिन हो जाता है। प्राथमिक कक्षाओं तक के जितने प्रयोग किताबों में दिए गए हैं उन्हें आसानी से कुछ विकल्पों की मदद से कक्षाओं में किया जा सकता है। लेकिन सिर्फ़ करने के लिए प्रयोग करने से कोई फ़ायदा नहीं है। प्रयोग को विज्ञान के एक कौशल के रूप में देखना ज़रूरी है। बिना प्रयोग के कोई आविष्कार या शोध कैसे होता होगा यह सोच से परे है, फिर क्यों हमारी विज्ञान की कक्षा इससे वंचित रहे? यह भी कतई ज़रूरी नहीं कि आप महँगे उपकरणों का ही इस्तेमाल करें प्रयोग करने के लिए। प्रयोग करने के उद्‌देश्य हमेशा स्पष्ट होने चाहिए, तभी हम बेहतर विज्ञान शिक्षण करा पाएँगे।

अर्चना ने राँची विश्वविद्यालय से भौतिक विज्ञान में पढ़ाई की हैं। वे चार साल से शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रही है पिछले दो वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फॉउण्डेशन जांजगीर चाँपा में हैं। इनकी विज्ञान लेखन में रुचि हैं।
सम्पर्क : archana.kumari1@azimpremjifoundation.org , asmithu0@gmail.com

विज्ञान शिक्षक की चिन्ताएँ

जैव विविधता के बहाने

अम्बिका नाग

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में विज्ञान विषय में सन्दर्भ व्यक्ति के रूप में काम करते हुए पिछले दो वर्षों में फाउण्डेशन के साथियों के साथ जैव विविधता विषय पर चिन्तन-मनन करते हुए विज्ञान शिक्षण को गहराई से समझ बनाने का मौक़ा मिला था। इस वर्ष के आरम्भ में एक सरकारी विद्यालय की माध्यमिक कक्षा में काम करने का अवसर इस अनुभव से गुज़रने के लिए था कि एक शिक्षक के तौर पर जैव विविधता की उस बृहद समझ को लेकर कक्षा में विद्यार्थियों के साथ कैसे काम किया जाए। यह लेख इन्हीं दर्ज़ अनुभव के ज़रिए विज्ञान शिक्षक की चिन्ताओं को समझने की कोशिश करता है।

विज्ञान की शिक्षा को कैसे बेहतर बनाया जाए, इसको लेकर हम साथी अकसर चर्चा करते हैं और इन चर्चाओं में जो मूल रूप से सन्दर्भ आता है– वह है हमारी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के विज्ञान शिक्षण, राष्ट्रीय फ़ोकस ग्रुप का आधार पत्र। इस दस्तावेज़ में बहुत ही सरल तरीक़े से विज्ञान की अच्छी शिक्षा के कुछ मूलभूत मानदण्डों को परिभाषित किया गया है। इस लेख में हम ऐसे ही शिक्षा शास्त्रीय मानदण्डों के बरक्स इस अनुभव की यात्रा के माध्यम से एक विज्ञान शिक्षक की चिन्ताओं को समझने का प्रयास करेंगे।

विज्ञान शिक्षक किस उद्देश्य के लिए काम करे?

अपने काम को सफलतापूर्वक कर पाने के लिए सभी प्रयासों के माध्यम से लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की लालसा प्रत्येक व्यक्ति के मन में होती है। विज्ञान के शिक्षक के रूप में इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि आख़िर विज्ञान पढ़ाते हुए किस लक्ष्य को प्राप्त करना है, और उसके लिए क्या प्रयास करने होंगे। विद्यालय स्तर पर विज्ञान शिक्षण का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों में विज्ञान विषय के प्रति रुचि जागृत करना है। जब हम यह कहते हैं कि विज्ञान विषय में विद्यार्थियों की रुचि हो तो इसके दायरे में विज्ञान विषय के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण से लेकर अन्वेषण की प्रक्रिया की सम्पूर्ण समझ का विकास शामिल है। शिक्षकों की हमेशा से चिन्ता रही कि विद्यार्थियों की विज्ञान विषय में रुचि कैसे बढ़ाई जाए।

जॉन ड्युई ने अपने अध्ययनों में रुचि और प्रेरणा के बीच एक गहरा रिश्ता पाया। *इण्ट्रेस्ट एण्ड एफ़र्ट इन एजुकेशन* (1913) में वे लिखते हैं– 'रुचि का मतलब वो एकीकृत गतिविधि है जिसमें किसी स्पष्ट परिणाम को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति और वस्तु संगठित हो जाते हैं।' ड्युई के लिए, प्रेरणा के स्रोत न तो बाहरी होते हैं और न ही क्षणिक जोश 'वास्तविक रुचि' है क्योंकि इन मामलों में, व्यक्ति को जिस अवधारणा को सीखना है उससे अलग कर दिया जाता है जिसे ड्युई प्रलोभन कहते हैं। ड्युई कहते हैं कि वास्तविक रुचि किसी वस्तु या विचार के साथ स्वयं की पहचान की संगति से होने वाली क्रिया है क्योंकि उस स्वयं शुरू की गई क्रिया को जारी रखने के लिए उस वस्तु या विचार का होना ज़रूरी है। रुचि वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति परिणाम प्राप्ति तक पूरी तरह प्रवृत्त रहता है। ड्युई के अनुसार, रुचि

में बौद्धिक गुण होते हैं। वे कहते हैं, सामान्य गतिविधियों में रुचि से बौद्धिक रुचि विकसित होती है। बौद्धिक रुचि रखने वाला व्यक्ति किसी गतिविधि के परिणाम को स्पष्ट रूप से समझता है और साधनों की खोज करता है। बौद्धिकता गतिविधियों का एक अभिन्न हिस्सा है और इसलिए 'यह सम्भव है कि बौद्धिक रुचि एक प्रभावशाली रुचि बन जाए'। शैक्षिक रुचि के तहत शारीरिक गतिविधि, रचनात्मक गतिविधि, बौद्धिक रुचि एवं व्यक्ति की सामाजिक रुचि के बारे में बताते हुए ड्युई कहते हैं– 'सामाजिक रुचि एक सामाजिक जिज्ञासा नहीं है, बल्कि दूसरों के बारे में एक बौद्धिक चिन्ता है,' (Dewey, J 1933)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सफलता प्राप्ति के लिए रुचि को बुद्धिमत्ता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया और इसलिए शिक्षण को रुचिकर बनाने के तौर-तरीक़ों को पहचानने के प्रयास आने वाले समय में दिखाई दिए। ऐसे प्रयास हमें राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) 2005 के नीतिनिर्देशक सिद्धान्तों से लेकर विषयवस्तु के चुनाव, पाठ्यपुस्तकों के लेखन एवं प्रस्तुतिकरण और कक्षा में शिक्षण गतिविधियों के चुनाव आदि तक अनेक स्तर पर दिखाई देते हैं।

यदि सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से देखें तो आज विज्ञान में विद्यार्थियों की रुचि विकसित करने के पीछे समाज की दो मुख्य चिन्ताएँ दिखाई देती हैं। पहली– विज्ञान विषय का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आज के दौर में बहुत ज़रूरी हो गया है क्योंकि विज्ञान वर्तमान समाज के साथ-साथ भविष्य के समाज के निर्माण में भी दिशा देता है, दूसरा– तकनीकी के विकास के क्षेत्र में मानव संसाधन की बढ़ती आवश्यकता को पूरा करने के लिए ज़रूरी है कि अधिक-से-अधिक विद्यार्थी विज्ञान के क्षेत्र में अपने करियर का चुनाव करें।

शिक्षण की योजना बनाने की प्रक्रिया क्या हो ?

इन दो प्रमुख आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए यह ज़रूरी हो जाता है कि हम उन कारकों की पहचान करें जिनके माध्यम से हम विद्यार्थियों में विज्ञान विषय के प्रति रुचि को जागृत कर सकें। इस क्रम में एक शिक्षक की हैसियत से जो प्रमुख सवाल हैं वे यह कि किस प्रकार की शिक्षण प्रक्रियाएँ और कक्षा-कक्षीय गतिविधियाँ विज्ञान विषय में रुचि जागृत करने में मददगार हो सकती हैं और इस हेतु किस तरह के प्रयास किए जाने की आवश्यकता होगी?

अध्ययन बताते हैं कि जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते हैं, विज्ञान में उनकी रुचि घटती जाती है (डॉसन, 2000; बे, 2003; ओस्बोर्न, 2003)। विशेषतौर पर विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में कई ऐसे सिद्धान्त होते हैं जिन्हें समझ पाना कुछ बच्चों के लिए मुश्किल होता है। बे का निजी अनुभवों के आधार पर यह मानना है कि विद्यार्थियों के लिए विज्ञान के टॉपिक्स को पढ़ना उबाऊ होता है और जब उनकी रुचि ही न हो, तो उसका मूल्य समझना भी मुश्किल होता है। विद्यार्थियों की विज्ञान विषय में रुचि बढ़ाने के लिए वे कई स्तर पर काम करने की आवश्यकता पर बल देती हैं, जैसे– पाठ्यक्रम, शिक्षण और आकलन आदि। (बे, https://msu.edu/~dwong/StudentWorkArchive/CEP900F04–RDP/Bae–Interest&Science.htm)

विद्यार्थियों के विषय में रुचि और सीखने को प्रभावित करने वाले मुख्य कारकों में से निम्नलिखित के बारे में एक शिक्षक के सरोकार या कहें कि चिन्ता होना लाज़िमी है :

1. पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें और आवश्यक सहायक सामग्री : किताबों और सीखने के लिए आवश्यक सामग्री की उपलब्धता जो विषयवस्तु से सम्बन्धित अनुभवों को प्राप्त करने में मददगार हो।

2. शिक्षण और आकलन प्रक्रिया

   अ. विद्यार्थियों के पूर्व ज्ञान और नए अनुभवों को प्राप्त करने के मौक़े; तथा

   ब. विषयवस्तु से जुड़े सामाजिक विश्वास

और उनकी वैज्ञानिक व्याख्याएँ

पाठ्यपुस्तक का अध्ययन और विश्लेषण :

एक शिक्षक के रूप में अपनी पाठ योजना को बनाते समय जो पहला काम था, वह था पाठ्यपुस्तक का अध्ययन और उसमें दी गई विषयवस्तु की मैपिंग करना। इस हेतु विद्यालय में संचालित राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा तैयार की गई कक्षा 9 और 10 की पुस्तक का अध्ययन किया गया। इस पाठ्यपुस्तक के आरम्भ में बोर्ड के अध्यक्ष स्वयं कहते हैं कि 'विद्यार्थी के लिए पाठ्यपुस्तक क्रमबद्ध अध्ययन, पुष्टिकरण, समीक्षा और आगामी अध्ययन का आधार होती है। विषयवस्तु और शिक्षण विधि की दृष्टि से विद्यालयी पाठ्यपुस्तक का स्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पाठ्यपुस्तकों को कभी जड़ या महिमामडण्न करने वाली नहीं बनने दी जानी चाहिए। पाठ्यपुस्तक आज भी शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया का एक अनिवार्य उपकरण बनी हुई है, जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते।' यहाँ पाठ्यपुस्तक को बेहतर बनाने के प्रति गम्भीरता दिखाई देती है। लेकिन यदि हम पाठ्यपुस्तक के स्तर की बेहतरी को एनसीएफ 2005 के मानदण्डों पर देखें जिसमें विषयवस्तु की वैधता यह माँग करती है कि पाठ्यचर्या उपयुक्त व वैज्ञानिक स्तर पर सही विषयवस्तु को प्रस्तुत करे। यहाँ ख़ासतौर पर यह कहा गया कि विषयवस्तु को सरल और सहज बनाने की प्रक्रिया में यह ध्यान रखने की ज़रूरत होती है कि जो कुछ कहने की कोशिश की जा रही है वह अर्थहीन और विरूपित होकर न रह जाए।

इस नज़रिए से जब हम पाठ्यपुस्तक का विश्लेषण करते हैं तो कई ख़ामियाँ दिखाई पड़ती हैं। सरकारी विद्यालयों में पढ़ने वाले अधिकांश बच्चे सामान्यतः समाज के ऐसे वर्ग से आते हैं जिनके लिए किसी विषयवस्तु को पढ़ने के लिए पाठ्यपुस्तकों के अलावा सन्दर्भ पुस्तकों की उपलब्धता न के बराबर है। कक्षा 9 और 10 के स्तर पर अनेक राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं के माध्यम से प्रतिभावान विद्यार्थियों को स्कॉलरशिप देने की योजनाएँ भारत सरकार और राज्य सरकार के माध्यम से आयोजित होती हैं, जिनमें प्रमुख हैं– एनटीएसई, केव्हीपीवाय, ओलम्पियाड आदि। जहाँ सुविधासम्पन्न परिवारों के बच्चे विभिन्न प्रकार की कोचिंग लेकर इन प्रतियोगिताओं में आगे निकल रहे होते हैं, वहाँ साधनहीन परिवारों से आने वाले ये बच्चे पूरी तरह से पाठ्यपुस्तक पर निर्भर होते हैं। मोबाइल फ़ोन और इण्टरनेट पर उपलब्ध ऑनलाइन सामग्री से भी ये विद्यार्थी अभी बहुत दूर हैं। ऐसे में पाठ्यपुस्तकों का स्तरहीन होना ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे जानबूझकर इन विद्यार्थियों को अन्य सुविधासम्पन्न वर्ग के विद्यार्थियों के मुक़ाबले पीछे धकेलने की कोशिश की जा रही है।

चूँकि बात जैव विविधता के बारे में पढ़ाने को लेकर हो रही है, यहाँ कुछ उदाहरण इस पाठ से ही लेकर बात करते हैं। राजस्थान की कक्षा 9 की पुस्तक में सातवें पाठ का नाम है 'जैव विविधता', जबकि एनसीईआरटी की पुस्तक में शीर्षक रखा गया है 'जीवों में विविधता'। तो आप ज़रूर सोचेंगे कि भाई दोनों में आख़िर फ़र्क़ क्या है? सबसे पहले यह देखें कि दोनों पुस्तकों में जैव विविधता को जिस तरह से परिभाषित किया गया है उससे विद्यार्थी रूप में पढ़ते हुए आप क्या अवधारणा बना पाते हैं। (आकृति 1 और 2)

यदि किसी मानक परिभाषा का सन्दर्भ लेकर इसे जाँचें तो हमें 1992 में रियो डि जेनेरियो में आयोजित संयुक्त राष्ट्र पृथ्वी सम्मेलन में दी गई जैव विविधता की मानक परिभाषा को देखना होगा, जिसके तहत जैव विविधता को इस प्रकार परिभाषित किया गया ''समस्त स्रोतों, यथा– अन्तर्क्षेत्रीय, स्थलीय, समुद्री एवं अन्य जलीय पारिस्थितिकी तंत्रों के जीवों के मध्य अन्तर और साथ ही उन सभी पारिस्थितिकी समूह, जिनके ये भाग हैं, में पाई जाने वाली विविधताएँ, इसमें एक प्रजाति के अन्दर पाई जाने वाली विविधताएँ, विभिन्न जातियों के मध्य विविधताएँ एवं पारिस्थितिकी तंत्रों की विविधताएँ सम्मिलित

पृथ्वी पर जहाँ एक ओर सूक्ष्मदर्शी से देखे जाने वाले जीवाणु, जिनका आकार कुछ माइक्रॉन तक होता है, वहीं दूसरी ओर 30 मी. लम्बी नील व्हेल तथा कैलिफोर्निया के 100 मी. लम्बे रेड वुड पेड़ भी पाये जाते हैं। कुछ चीड के वृक्ष सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहते हैं, जबकि कुछ कीटों का जीवन काल कुछ ही दिनों का होता है। हमारे चारों ओर जीवों की इस असीमित विभिन्नता को **जैवविविधता (Biodiversity)** कहते हैं।

जैव विविधता से तात्पर्य, विभिन्न जीव रूपों में पाई जाने वाली विविधता से है। यह किसी क्षेत्र विशेष में पाये जाने वाले विभिन्न जीवरूपों को इंगित करता है। एक अनुमान के अनुसार पृथ्वी पर जीवों की लगभग 1 करोड़ जातियाँ पाई जाती हैं, जबकि हमें सिर्फ 20 लाख जातियों की ही जानकारी है। पृथ्वी पर कर्क रेखा व मकर रेखा के बीच के क्षेत्र में पौधों व जन्तुओं में काफी विविधता पाई जाती है। अतः यह क्षेत्र **वृहद् जैवविविधता क्षेत्र (मेगा बायोडाइवर्सिटी क्षेत्र)** कहलाता है।

आकृति 1 : राजस्थान की कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक की पृष्ठ संख्या 53 से एक अंश

हैं।'' संयुक्त राष्ट्र जैविक विविधता सभा द्वारा अपनाई गई जैव विविधता की इस परिभाषा को वैश्विक स्वीकार्यता प्राप्त है। अब इसके सापेक्ष एनसीईआरटी की पुस्तक तो स्पष्ट चित्र बनाती है, किन्तु क्या राजस्थान की पुस्तक सरल करने के फेर में विद्यार्थियों को जैव विविधता की स्पष्ट अवधारणा तक पहुँचाने में सफल हो पाती है?

जब कक्षा शिक्षण अनुभव के दौरान पहले दिन विद्यार्थियों से जैव विविधता से आशय पर चर्चा की गई, तो कई अवधारणात्मक समस्याएँ सामने आईं। इससे यह महसूस हुआ कि पुस्तक में रह गईं कुछ कमियों का विद्यार्थियों की समझ पर कितना असर होता है। जैसे– जीवन में असीमित विविधता को जैव विविधता कहते हैं, तो क्या वास्तव में इस विविधता की कोई सीमा नहीं है? या इसमें भी कुछ गुण कॉमन होते होंगे। यदि ऐसा है तो क्या है जो सभी सजीवों में कॉमन है? क्या उस कॉमन गुण को पकड़ कर हम विविधता के विभिन्न आयामों की ओर बढ़ सकते हैं?

एक और उदाहरण से इसे पुष्ट करने की कोशिश करते हैं। पाँच जगत में वर्गीकरण को समझने के लिए एनसीईआरटी की पुस्तक में

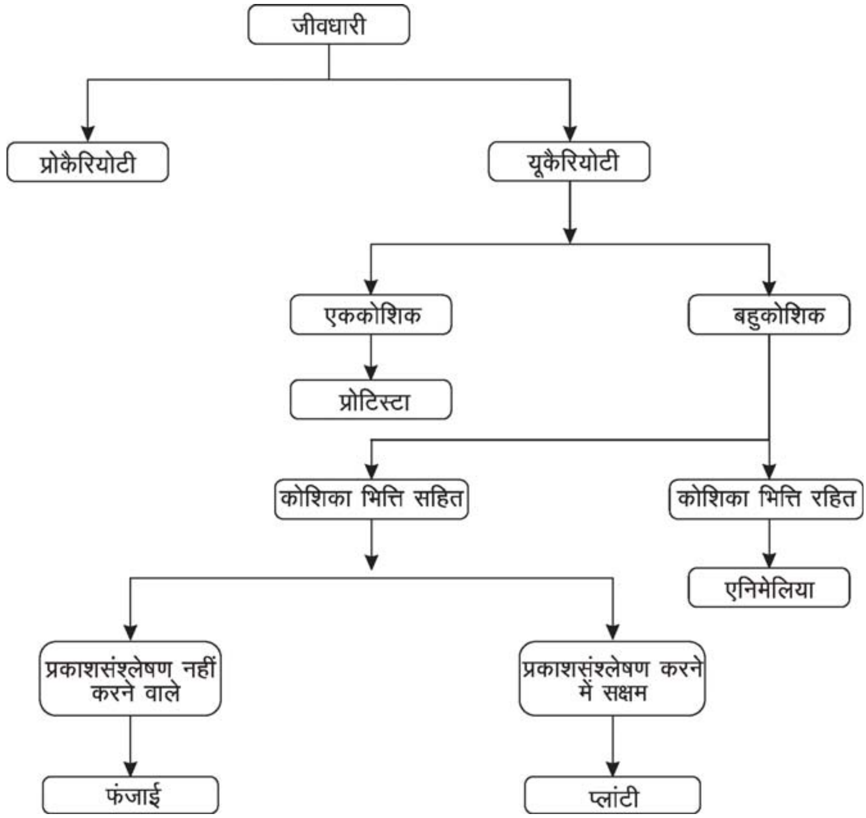
इसे भी जानें

जैव विविधता से तात्पर्य, विभिन्न जीव रूपों में पाई जाने वाली विविधता से है। यह शब्द किसी विशेष क्षेत्र में पाये जाने वाले विभिन्न जीवरूपों की ओर इंगित करता है। ये विभिन्न जीव न सिर्फ़ एकसमान पर्यावरण में रहते हैं बल्कि एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रजातियों का स्थायी समुदाय अस्तित्व में आता है। आधुनिक समय में मनुष्य ने इस समुदाय के संतुलन को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वास्तव में किसी समुदाय की विविधता भूमि, जल, जलवायु जैसी कई चीज़ों से प्रभावित होती है। एक मोटे अनुमान के मुताबिक पृथ्वी पर जीवों की करीब 1 करोड़ प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जबकि हमें सिर्फ़ 10 लाख या 20 लाख प्रजातियों की ही जानकारी है। पृथ्वी पर कर्क रेखा और मकर रेखा के बीच के क्षेत्र में जो गर्मी और नमी वाला भाग है, वहाँ पौधों और जंतुओं में काफी विविधता पाई जाती है। अतः यह क्षेत्र मेगाडाइवर्सिटी क्षेत्र कहलाता है। पृथ्वी पर जैव विविधता का आधे से ज्यादा भाग कुछेक देशों; जैसे-ब्राज़ील कोलंबिया, इक्वाडोर, पेरू, मेक्सिको, जायरे, मेडागास्कर, ऑस्ट्रेलिया, चीन, भारत, इंडोनेशिया और मलेशिया में केंद्रित है।

आकृति 2 : एनसीईआरटी की कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक की पृष्ठ संख्या 93 से एक अंश

यह चित्र दिया गया है :

आकृति 3 में दिया गया चित्र अपने आप में यह समझने के लिए पर्याप्त है कि सजीव कोशिकाओं के बने होते हैं और सम्पूर्ण सजीव जगत को उनकी कोशिकाओं की संरचना के आधार पर पाँच प्रमुख जगत में बाँटा जा सकता है। लेकिन राजस्थान की पुस्तक में इस बात का कहीं ज़िक्र भी नहीं होता। एक-एक करके प्रत्येक जगत का शीर्षक देकर उसका विवरण दे दिया गया है। आइए, इस विवरण की भी कुछ पड़ताल कर लें :



आकृति 3 : एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तक की पृष्ठ संख्या 95 से एक अंश

इस विवरण में जानकारी को एक ऐसे अव्यवस्थित क्रम में रखा गया है कि ऐसे पाठक के लिए जो इसके बारे में पहली बार पढ़ रहा हो, इसमें से सार निकाल पाना मुश्किल हो जाता है। कोई आश्चर्य नहीं कि जब मैंने विद्यार्थियों से पूछा कि फंजाई क्या होते हैं, तो वे पोषण के आधार पर इसकी पहचान करते हुए मृतजीवी, परजीवी और सहजीवी में उलझ कर रह गए। क्या सभी मृतोपजीवी फंजाई होते हैं? या क्या सभी परपोषी जीव फंजाई होते हैं? नहीं न! तो किस आधार पर तय होगा कि कोई जीव फंजाई है? इस विवरण के आधार पर आप बता सकते हैं? क्या बेहतर न होता कि कोशिका भित्ति के विशिष्ट गुण को और उभारा जाता।

एक और उदाहरण कक्षा 8 की पाठ्यपुस्तक से लेकर हम इस मुद्दे पर आगे बढ़ेंगे। इस बारी अँग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद करते हुए हो

7.3.3 फंजाई (Fungi) :– ये विषमपोषी, यूकेरियोटिक जीव हैं। अधिकांश फंजाई परपोषित होती है। यह पोषण के लिये सड़े–गले कार्बनिक पदार्थों को अवशोषित कर लेती है अतः इन्हें **मृतजीवी** भी कहते हैं। कुछ फंजाई सजीव पौधों और जन्तुओं पर पोषण के लिये निर्भर रहती है, उन्हें **परजीवी** कहते हैं। इस प्रकार की फंजाई पादपों व जन्तुओं में रोग का कारण होती है। कवकों की कुछ प्रजातियां नील हरित शैवालों (साइनोबेक्टिरिया) के साथ स्थायी सम्बन्ध बनाती है, जिसे **सहजीविता (Symbiosis)** कहते हैं। ऐसे सहजीवी जीवों को **लाइकेन (Lichen)** कहते हैं।

फंजाई तंतुमयी होती है, लेकिन यीस्ट जो एककोशिक है, इसका अपवाद है। ये पतली लम्बी धागों की तरह की संरचनाएँ होती है जिन्हें **कवकतन्तु (माइसीलियम)** कहते हैं। फंजाई की कोशिका भित्ति काइटिन तथा पॉलिसेकैराइड की बनी होती है। फंजाई में कायिक जनन विखण्डन तथा मुकुलन विधि द्वारा, अलैंगिक जनन बीजाणु द्वारा व लैंगिक जनन ऐस्को बीजाणु, बेसिडियों बीजाणु द्वारा होता है। उदाहरण : **यीस्ट, मशरूम**।

आकृति 4 : राजस्थान की कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक की पृष्ठ संख्या 54 से एक अंश


5.4 जैव–विविधता ऊष्ण स्थल (Biodiversity Hot Spots)

अत्यधिक जैव विविधता सम्पन्न एवं **विशेष क्षेत्री प्रजातियों के आवास स्थल रहे वे** जैव–भौगोलिक क्षेत्र जहाँ की महत्त्वपूर्ण (पादप एवं जन्तु) जैव–विविधता मानव की स्वार्थपूर्ण गतिविधियों के कारण नष्ट हो रही है, **जैव विविधता हॉट स्पॉट कहलाते** हैं (नॉर्मन मेयरस, 1988)। इन जैव विविधता ऊष्ण स्थलों (जैव विविधता हॉट स्पाट्स) में अत्यधिक संकटापन्न, लुप्तप्राय व विशेष क्षेत्री पादप एवं जन्तु प्रजातियाँ सम्मिलित हैं। सम्पूर्ण विश्व में 34 जैव विविधता हॉटस्पॉट हैं जिनमें दो जैविक हॉट स्पॉट पश्चिमी घाट व पूर्वी हिमालयी क्षेत्र भारत में हैं। तीव्र गति से वनोन्मूलन के कारण इन **हॉट स्पॉट** में पायी जाने वाली प्रजातियाँ संकट में हैं अतः इन्हें बचाने की आवश्यकता है।

आकृति 4 : राजस्थान की कक्षा 8 की विज्ञान की पाठ्यपुस्तक के पृष्ठ संख्या 56 से एक अंश

जाने वाले अनर्थ की ओर ध्यान दिलाना चाहूँगी। कक्षा 10 में जहाँ बायोडायवर्सिटी हॉट स्पॉट्स को जैव विविधता तप्त स्थल कहा गया है, वहीं कक्षा 8 की पुस्तक में इसका शाब्दिक अनुवाद कर जैव विविधता ऊष्ण स्थल लिखा गया है। ऐसे शब्द तापमान से जुड़ी ऊष्णता की ओर इशारा करते हैं और एक बड़ी अवधारणात्मक गड़बड़ी की ओर ले जाते हैं। अँग्रेज़ी में हॉट स्पॉट शब्द को अनेक सन्दर्भों में काम में लिया जाता है, जिनमें से एक सन्दर्भ है– उस स्थान के बारे में जहाँ महत्त्वपूर्ण गतिविधि चल रही हो, ख़तरा हो या हिंसा हो। उदाहरण के लिए, स्मार्ट मोबाइल फ़ोन से आप हॉटस्पॉट का उपयोग कर वाई-फाई द्वारा इण्टरनेट का अन्य डिवाइस पर उपयोग कर सकते हैं। अनुवाद करते समय यह समझना ज़रूरी है कि लेखक ऐसे शब्दों का सावधानीपूर्वक चयन करे कि समझ आए कि वास्तव में जैव विविधता हॉट स्पॉट का ऊष्णता से कोई लेना-देना होता ही नहीं है। इण्डिया वाटर पोर्टल हॉटस्पॉट के अनुवाद के रूप में अतिक्षेत्र शब्द का प्रयोग करता है, जो कि एक बेहतर चयन कहा जा सकता है।

कक्षागत प्रक्रियाएँ : पाठ योजना बनाना और उन्हें लागू करना

सरकारी विद्यालय में नौवीं कक्षा में यह पाठ पढ़ाने की योजना बनाते समय जो दूसरा काम हुआ, वह था शिक्षण विधि की रूपरेखा बनाने का। विज्ञान शिक्षा की प्रक्रिया वैधता यह माँग करती है कि पाठ्यचर्या विद्यार्थी को वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के तरीक़ों और उन तक पहुँचने की प्रक्रिया को सिखाए और बच्चे की सहजात जिज्ञासा और रचनात्मकता को पोषित करे। यह एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है क्योंकि यह विद्यार्थी को विज्ञान कैसे सीखा जाए, यह सिखाने में मदद करती है।

यह मार्च का महीना था जब राजस्थान में अधिकांश पेड़ों में फूल आ रहे होते हैं और फूल एक महत्त्वपूर्ण अंग है जिसके गुणों के आधार पर हम आसानी से इन पेड़ों को पहचान सकते हैं। यही समय अधिकतर पक्षियों में प्रजनन का भी होता है। और ऐसे में क्षेत्रभ्रमण आसपास की जैव विविधता का अवलोकन करने का बहुत बढ़िया अवसर प्रदान करता है। विद्यार्थी स्वयं अन्वेषण करें और इस प्रक्रिया में किसी पैटर्न को खोजते हुए वर्गीकरण तक पहुँचें, इसके लिए पाठ की योजना बनाते समय विशेष ध्यान दिया गया और उसके अनुरूप वर्कशीट्स बनाई गईं। जीव जगत की सम्पूर्ण विविधता पर प्रभावी बातचीत के लिए मिट्टी और पानी के नमूनों के सूक्ष्म अवलोकनों के लिए भी योजना बनाई गई। पहले दिन विद्यार्थियों से जैव विविधता विषय पर जब बात शुरू हुई तो वह 'सजीव किसे कहें' तक पहुँची और विद्यार्थियों में बड़ा संशय इसको लेकर था कि बीज को सजीव मानें या निर्जीव। इस बहाने शुरू हुई चर्चा के माध्यम से सजीव के गुणों और उनकी संरचनात्मक एवं क्रियात्मक इकाई– कोशिका के बारे में विस्तार से बात हुई। कोशिका की संरचना के आधार पर पाँच जगत की पहचान पर भी बात की गई। इसके साथ ही जीवों की एक-दूसरे पर निर्भरता और उसपर आधारित रिश्तों पर भी समूह में चर्चा करवाई गई। जैव विविधता से पहले

पाठ्यपुस्तक में जीव विज्ञान से जुड़े 2 पाठ हैं– पाँचवा पाठ जीवन की अवधारणा पर और छठा पाठ सजीव की संरचना पर। इन दो पाठों में 'सजीव' क्या है, इसकी पृथ्वी पर उत्पत्ति कैसे हुई, कोशिका की संरचना, उसके कार्य, ऊतक और अंग–तंत्रों पर विस्तार से विषयवस्तु दी गई है। हालाँकि पुस्तक इन अवधारणाओं के बीच कोई सम्बन्ध नहीं बनाती, लेकिन एक शिक्षक के रूप में हम इन अवधारणाओं के अन्तर्सम्बन्ध और क्रमिकता को देख पाएँ तो अवधारणात्मक समझ पर बेहतर काम कर पाते हैं। दूसरे दिन जीवों में विविधता, उनमें अन्तर्सम्बन्ध और अपने पर्यावरण से उनके रिश्तों के बारे में चर्चा की गई। साथ ही अगले दिन कुलिश वन में भ्रमण के दौरान किए जाने वाले कार्यों के बारे में भी विद्यार्थियों को ओरिएण्ट किया गया। तीसरे दिन हमने कुलिश वन का दौरा किया। चार घण्टे के इस भ्रमण के दौरान नए अनुभवों के बीच ज़बरदस्त उत्साह से भरे विद्यार्थियों ने कई अवलोकन किए, सवाल पूछे, नमूने एकत्र किए और जानकारियाँ बँटोरीं।

चौथे दिन हमने भ्रमण के दौरान खींचे गए फ़ोटोग्राफ़ देखे, इससे जो बच्चे नहीं जा पाए थे वे भी कक्षा की चर्चाओं से जुड़ गए। अपने अवलोकनों को सूचीबद्ध करने के काम को आगे बढ़ाया गया। कुछ बच्चों ने अपने अनुभवों को संस्मरण या कहानी के रूप में लिखा था। कक्षा में उन्हें पढ़कर कुछ फ़ीडबैक भी दिए गए। थे। इसके लिए तय किया गया कि कुछ सैम्पल कक्षा में लाकर उनका विस्तार से अवलोकन किया जाए, तब पाँचवे दिन केंचुए, चींटियों, मकड़ी, शैवाल, यीस्ट, फ़र्न, क्रिसमस ट्री आदि के साथ पादप और जन्तु कोशिका एवं पानी में मौजूद सूक्ष्मजीवों की स्लाइड बनाकर सूक्ष्मदर्शी से अवलोकन किया गया। अब ये अवलोकन हमें एक पैटर्न की ओर ले जा रहे थे, जहाँ विद्यार्थी सजीवों में कोशिका की संरचना, शारीरिक बनावट आदि के आधार पर विभेदित करते हुए पाँच जगतों में स्पष्ट रूप से देख पा रहे थे। पाँचवा दिन बड़ा रोचक था, विद्यार्थी अपने अवलोकनों को आधार बनाते हुए एक कहानी लिख कर लाए। इन कहानियों में चरित्र थे वे सजीव, जो उन्होंने बीते दिनों में देखे और कथ्य था उनका व्यवहार, रिश्ते आदि। शिक्षक के रूप में यह सुअवसर था विद्यार्थियों की अवधारणाओं और उनके अन्तर्सम्बन्धों को परखने का। छठे दिन हमने पाठ्यपुस्तक को खोला और एक–एक करके प्रत्येक पन्ने पर दी गई अवधारणाओं को अब तक के अनुभवों के सापेक्ष पढ़ा और उनपर विस्तृत चर्चा की। इस प्रकार कक्षा में यह पाठ रुचिपूर्ण तरीक़े से समाप्त हुआ।

कक्षागत कार्यों का विश्लेषण और चिन्तन :

छह दिन तक चली इस कक्षा में कई गतिविधियाँ और चर्चाएँ हुईं जिन सभी को विस्तार से दे पाना इस लेख में सम्भव नहीं होगा। कई सवाल जो आमतौर पर बच्चों के मन में किसी अवधारणा विशेष के बारे में जिज्ञासावश







उठते हैं, किन–किन पक्षियों में मादा की अपेक्षा नर अधिक आकर्षक होता है? जलीय पौधे की जड़ कितनी लम्बी है? पत्तियाँ कैसी हैं? क्यों मान लें कि कैक्टस में हरा भाग मॉडिफाइड

लेकिन शिक्षक के रूप में यह समझ आ रहा था कि भ्रमण के दौरान बच्चों ने अपनी–अपनी रुचि के अनुसार अवलोकन किए। कई ऐसे अवलोकन जो पाठ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे, छूट गए

तना है, इसकी पत्ती कहाँ है? आख़िर पता कैसे चले कि कौन तना है और कौन पत्ती? क्या हर फूल आगे चल कर फल बनता है? एक पेड़ पर कितने जीव आश्रित हैं? चींटी के कितने पैर हैं? ये कितने प्रकार की हैं? और एक रेखा में कहाँ जा रही हैं? लेकिन चूँकि इस लेख में हम यह बात करने की कोशिश कर रहे हैं कि विज्ञान का शिक्षण प्रभावी कैसे हो सकता है, तो हम ऐसे कुछ सवालों और बिन्दुओं को रखेंगे जो विज्ञान की कक्षा में नैतिक वैधता की माँग को ध्यान में रखते हैं, जिसके तहत आग्रह है कि यह ईमानदारी, वस्तुनिष्ठता, सहयोग जैसे मूल्यों का संवर्धन करे और भय, पूर्वाग्रह एवं अन्धविश्वास से मुक्त मानस तैयार करने में सहायक हो। साथ ही विद्यार्थी में जीवन एवं पर्यावरण के संरक्षण के प्रति चेतना पैदा करे। शिक्षक जैव विविधता की कक्षा में ज़्यादा-से-ज़्यादा जैव विविधता संरक्षण के महत्त्व पर बात करने की तैयारी से जाते हैं, लेकिन इस मुद्दे पर बात करते हुए कैसे विद्यार्थियों के पूर्वाग्रह, भय और अन्धविश्वास सामने आने लगते हैं, उनके लिए भी शिक्षक की तैयारी हो तो कक्षा समाज के कई ज़रूरी मुद्दों से जुड़ जाती है और नैतिक मूल्यों के विकास में भी सहयोग करती है।

पहले दिन जो टास्क दिया गया था, उसके तहत विद्यार्थियों को ऐसे सजीवों की सूची बनानी थी जो हमारे लिए लाभदायक / हानिकारक हैं। हानिकारक की सूची बनाने वाले ग्रुप ने सभी बीमारियों के नाम लिख डाले। उनसे पोषण की कमी से होने वाले, हॉरमोंस की गड़बड़ी से होने वाले और अन्य रोगों के मुक़ाबले रोगाणु संक्रमण से होने वाले रोगों में विभेद पर चर्चा की गई। एक ग्रुप को भोजन के लिए काम आने वाले सजीवों की सूची बनानी थी। यहाँ पौधों की लम्बी सूची बनी, दूध देने वाले पशु और फिर माँसाहार में काम आने वाले बकरा, सूअर, मुर्गा, ख़रगोश, तीतर, मछली के साथ चूहा भी लिखा था। यहाँ सवाल किए गए— क्या सभी को विविधता वाला भोजन उपलब्ध हो पाता है? माँसाहार सभी को आसानी से मिल पाता है क्या? जिनके पास खेती नहीं है, माँस खाने के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं, वे क्या खाते होंगे? यहाँ विद्यार्थियों ने जंगल और आसपास में मिलने वाले पौधों और जानवरों से प्राप्त भोजन की आवश्यकता को समझा और भोजन की ज़रूरत के लिए प्रकृति में उपलब्ध विविधता के महत्त्व को समझा।

जब हम किसी सजीव को हानिकारक मानकर नष्ट करने लगते हैं तो उसके क्या परिणाम हो सकते हैं, इसके लिए उनसे पूछा गया—

सवाल : कल्पना करो कि सभी मच्छरों को मार दिया गया है। अब हमारे जीवन पर क्या फ़र्क़ पड़ेगा?

- विद्यार्थियों का सहज सीधा जवाब था— बीमारियाँ नहीं होंगी।

सवाल : क्या मच्छर बीमारियाँ फैलाने का ही काम करते हैं? हमें कौन-सा मच्छर काटता है— नर या मादा?

जवाब : मादा, क्योंकि उन्हें प्रजनन के लिए अधिक पोषण की ज़रूरत होती है।

सवाल : नर मच्छर कहाँ रहता है और क्या भूमिका निभाता है?

जवाब : पौधों पर रहकर परागण करता है।

सवाल : तो अगर मच्छर दुनिया से हटा दिए गए तो उनकी जगह परागण कौन करेगा? बिना परागण के पौधों का जीवन चक्र पूरा हो सकेगा क्या? और यदि ऐसा हुआ तो उस पौधे पर निर्भर अन्य जीवों का क्या होगा? किसी एक प्रजाति के ख़त्म होने से आसपास के पूरे तंत्र पर क्या फ़र्क़ पड़ता होगा?

सवाल : तो क्या मच्छर से बचने का कोई और उपाय किया जा सकता है?

जवाब : हाँ, जैसे— पूरे कपड़े पहनना, मच्छरदानी का इस्तेमाल, घर के आसपास पानी इकट्ठा न होने देना, जाली के दरवाज़े आदि।

सवाल : अगर ध्यान से अवलोकन करें तो जो हमें हानिकारक लगते हैं, वे सजीव पृथ्वी पर अन्य कोई सार्थक भूमिका निभा रहे होते हैं। ऐसे में, क्या मनुष्य बिना किसी अन्य प्रजाति का विनाश किए अपना जीवन बिता सकता है? हानिकारक जीवों से बचाव के क्या उपाय किए जा सकते हैं?

- यहाँ बच्चों ने टीके लगाने से लेकर फ़िल्टर करने, उबाल कर पानी पीने, खाने को ढँक कर रखने आदि के ऑप्शन्स सुझाए।

अवधारणात्मक समझ का आकलन :

पाठ योजना के आख़िरी दिन उद्देश्य था जैव विविधता पर विद्यार्थियों की अब तक की समझ का आकलन। बातचीत शुरू की गई इस सवाल से कि जैव विविधता की अपनी कोई परिभाषा गढ़ना चाहे तो क्या होगी?

जवाब : सजीवों की प्रजातियों में पाई जाने वाली विविधता एवं उनके अन्तर्सम्बन्धों को जैव विविधता कहते हैं।

यहाँ एक-एक शब्दावली को उठा कर सम्बन्धित अवधारणा पर बात की गई।

सवाल : विविधता किस तरह की हो सकती है?

जवाब : जीवों के आकार, आकृति, रंग, जीवन काल, पोषण का तरीक़ा, श्वसन कार्यप्रणाली, उत्सर्जन, गति, प्रजनन व्यवहार, शिशु की देखभाल, आवास आदि में से किसी भी आधार पर भिन्नता हो सकती है।

सवाल : सजीवों के क्या लक्षण हैं?

जवाब : सजीव अपने जीवन काल में निम्नलिखित लक्षण दर्शाते हैं–

- कोशिकाएँ पाई जाती हैं।
- श्वसन, उत्सर्जन, प्रजनन, गति, वृद्धि, संवेदनशीलता और उपापचय के लिए शारीरिक क्रियाएँ संचालित होती हैं।

सवाल : प्रजाति क्या है?

जवाब : एक प्रजाति 'कुत्ता' की कई नस्लों के नाम विद्यार्थियों को पता थे, जैसे– रोट्विलर, बॉक्सर, जर्मन शेफ़र्ड, लेब्रेडोर, पॉमेरियन, पग, बुलडॉग आदि।

सवाल : ये सभी दिखने में इतने अलग हैं, फिर भी हम किस आधार पर इन्हें एक प्रजाति या स्पीशीज़ कहते हैं?

यहाँ विद्यार्थियों की स्पीशीज़ की अवधारणा को लेकर गैप दिखाई दिया तो कुछ और उदाहरण रखे गए। जैसे– तोता और कबूतर को हम एक प्रजाति क्यों नहीं मानते? असमंजस की स्थिति को दूर करने के लिए अगला उदाहरण घोड़े और गधे के निषेचन से मिलने वाले खच्चर का दिया गया जो नपुंसक होता है और आगे प्रजनन नहीं कर सकता।

अब एक विद्यार्थी ने उत्तर का सूत्र पकड़ लिया, और कहा कि किसी समुदाय के वे सदस्य जो आपस में प्रजनन कर प्रजननयोग्य सन्तान उत्पत्ति कर सकें तो उन्हें हम एक ही प्रजाति का मानते हैं। इस तरह स्पीशीज़ की अवधारणा तक पहुँचा गया।

लेकिन तभी एक विद्यार्थी ने पूछा– क्या जाट और मीणा एक प्रजाति हैं? क्या इनका विवाह हो सकता है? क्या ये सन्तति उत्पन्न कर सकते हैं?

स्वाभाविक रूप से बच्चे यहाँ जाति और प्रजाति में भेद जानना चाह रहे थे। विज्ञान की कक्षा में ऐसे द्वन्द्व सवाल के रूप में सामने आना और शिक्षक द्वारा उनपर स्पष्टता लाना बेहद ज़रूरी हो जाता है। आमतौर पर यदि शिक्षक विद्यार्थियों से संवाद स्थापित करने में फ़ेल हो जाए तो इस तरह की गलतफहमियाँ काफ़ी गहरी जम जाती हैं।

शिक्षक का सवाल : मनुष्य का वैज्ञानिक नाम क्या है?

जवाब : होमो सेपिएन्स।

सवाल : द्विनाम पद्धति के अनुसार इसमें

पहला नाम होमो क्या है?

जवाब : इसे जीनस कहते हैं।

सवाल : और सेपिएन्स क्या है?

जवाब : यह प्रजाति का नाम है।

सवाल : दुनिया में अलग-अलग रंग-रूप के इनसान पाए जाते हैं– अमरीकन, अफ्रीकन, अरबी, जापानी, भारतीय आदि सब अलग दिखते हैं। भारत में भी अलग-अलग प्रदेश के लोग अलग दिखते हैं। क्या ये सब होमो सेपिएन्स ही हैं? या कुछ और?

जवाब : सब होमो सेपिएन्स ही हैं। फिर तो ये एक ही प्रजाति हुए।

सवाल : हाँ तो अब तुम बताओ कि जाट और मीणा का विवाह सम्भव है?

जवाब : हाँ।

सवाल : इसका मतलब तो हिन्दू-मुसलमान का भी विवाह हो सकता है?

जवाब : क्यों नहीं हो सकता?

यहाँ बच्चों के साथ जाति प्रथा पर बात की गई। उनके लिए यह आश्चर्यजनक था कि जाति प्रथा दक्षिण एशिया के भारत, नेपाल, पाकिस्तान, श्रीलंका आदि देशों और कुछ अन्य भागों में ही पाई जाती है, अन्यथा विश्व के अधिकतर देशों में ऐसा कोई भेद इनसानों में नहीं किया जाता। हमारा संविधान भी ऐसे किसी भेदभाव के ख़िलाफ़ है।

चर्चा में यह बात भी आई कि रक्तदान और अंगदान के समय रक्त समूह के मिलान को आधार बनाया जाता है न कि धर्म, जाति या रंगरूप को। प्रत्येक प्रजाति के अन्तर्गत मिलने वाली आनुवंशिक (जेनेटिक) विविधता और अलग-अलग गुणधर्म के मिलन से होने वाली संकर सन्तति की उत्कृष्टता पर कृषियोग्य पौधों और पशुओं के उदाहरण लेकर बात की गई। और यहीं से यह तर्क आया कि यदि हमें इस तरह की ख़ूबियों को बचाए रखना है तो ज़रूरी है कि न केवल प्रजातियों को ख़त्म होने से बचाया जाए, बल्कि उनके अन्दर की विविधता को बचाए रखने के लिए उनके अधिकतम सदस्यों को बचाए रखा जाए।

सारांश

इस लेख को लिखते हुए केन्द्र में एक विज्ञान शिक्षक की भूमिका को रखा गया और यह महसूस किया गया कि एक शिक्षक का उद्देश्य क्या होता है, जो कि नीतिगत दस्तावेज़ और शिक्षाशास्त्रीय विमर्श के सन्दर्भ से पुष्ट होता है और वह है विज्ञान में रुचि विकसित करना। इसकी शिक्षाशास्त्रीय आवश्यकता के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता भी है। और इसलिए एक शिक्षक को इसकी चिन्ता होना लाज़िमी है। दूसरे, जब शिक्षक पाठ योजना बनाता है, तो उसमें पाठ्यपुस्तक की बड़ी भूमिका होती है और ज़िम्मेदार शिक्षक उसका विश्लेषण ठीक से करता है। पाठ्यपुस्तक में छूट गए गैप्स पर उसे काम करना होता है, और उसकी पूरी शिक्षण अधिगम योजना इसपर निर्भर करती है। अन्यथा बच्चे पाठ्यपुस्तक की सीमित शब्दावली में फँसे रह जाते हैं और इस प्रकार किताब की कमियाँ उनके सीखने पर सीधा प्रभाव डालती हैं।

कक्षा में और कक्षा से बाहर प्रकृति के बीच अवलोकन करने और नए अनुभव गढ़ने के मौक़े देना विज्ञान में रुचि विकसित करने के लिए ज़रूरी है। इस दौरान शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच होने वाली चर्चाएँ, विज्ञान शिक्षा के मूल उद्देश्य, विद्यार्थियों में वैज्ञानिक चिन्तन को बढ़ावा देने और एक ऐसे मूल्यपरक नागरिकों का निर्माण करने, जो सभी को समानता और न्याय के अवसर दें, के लिए अति आवश्यक है और इसलिए शिक्षक को योजनाबद्ध रूप से इन चर्चाओं को कक्षा में शामिल करना चाहिए और इस हेतु सवाल तैयार करने चाहिए। जबकि देखने में यह आता है कि पाठ्यक्रम (सिलेबस) पूरा करवा कर अभ्यास प्रश्नों की झड़ी लगा कर और उनकी पुनरावृत्ति करवा कर शिक्षक

बोर्ड के परिणाम को बेहतर करने का प्रयास करते रहते हैं।

इसका एक पक्ष यह भी है कि पाठ्यपुस्तक के विवरण को हू-बहू परीक्षा में उतार कर आ जाने वाले बच्चे जब किसी राष्ट्रीय प्रतियोगिता परीक्षा में भाग लेते हैं तो अवधारणा के स्तर पर रह गए गैप्स की वजह से एनालिसिस आधारित प्रश्न में उलझ जाते हैं और उनकी सफलता की सम्भावना काफ़ी कम रह जाती है। सरकारी विद्यालयों में पढ़ रहे इन विद्यार्थियों को यदि हम वाक़ई आगे बढ़ते देखना चाहते हैं तो शिक्षक के तौर पर हमें अपनी तैयारी पर काफ़ी ध्यान देना होगा। यह तैयारी दो स्तर पर होनी चाहिए– एक, यह आत्म-मन्थन करना कि कहीं हम स्वयं सामाजिक रूप से भय, पूर्वाग्रह और अन्धविश्वास से प्रभावित तो नहीं हो रहे? क्या हमारा अपना दृष्टिकोण तार्किक एवं वैज्ञानिक है? दूसरे, जो पाठ पढ़ाने जा रहे हैं उससे सम्बन्धित सभी अवधारणाओं पर क्या मेरी अच्छी पकड़ है या मुझे और जानने की ज़रूरत है और यदि ऐसा है तो सन्दर्भ सामग्री क्या हो सकती है? इसके लिए उपलब्ध प्रोफ़ेशनल विकास के अवसरों को तलाश कर उनका लाभ उठाना होगा।

सन्दर्भ

Bae, Min–Jung, *Interest in science education : A review of the literature and its implication.* Michigan State University. https://msu.edu/~dwong /StudentWorkArchive/CEP900F04–RDP/Bae–Interest&Science.htm

Bae, Min–Jung (2002), *An Analysis of the Psychological Structure of 'Learned Helplessness'*: A case Study. Seoul: Seoul National University Press.

Dawson, C (2000), *Upper primary boys and girls interests in science: Have they changed since 1980?* International Journal of Science Education, 22 (6), 557–570.

Dewey, J (1913), *Interest and effort in Education.* In John Dewey : The middle works. Carbondale & Edwardsville: Southern Illinois University Press.

Dewey, J (1933), *How we think.* Boston : D C Heath and Company.

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान से अनुमोदित एवं राजस्थान पाठ्यपुस्तक मण्डल की ओर से प्रकाशित विज्ञान विषय की पाठ्यपुस्तकें।

एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित विज्ञान विषय की पाठ्यपुस्तकें।

एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (NCF) 2005 का विज्ञान समूह का आधार पत्र http://epathshala.nic.in/wp–content/doc/NCF/Pdf/science.pdf

Osborne, J (2003), *Attitudes towards science : A review of the literature and its implications.* International Journal of Science Education, 25 (9), 1049–1079.

अम्बिका नाग विज्ञान शिक्षा में रुचि रखती हैं। पिछले पाँच वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फॉउण्डेशन जयपुर (राजस्थान) में विज्ञान की सन्दर्भ व्यक्ति के तौर पर कार्यरत हैं।
सम्पर्क : ambika.nag@azimpremjifoundation.org

लक्ष्मी की पेंसिल

कितना जान पाते हैं हम अपनी कक्षा के बच्चों को ?

उषा शर्मा

लक्ष्मी से मेरी मुलाक़ात जुलाई 2013 में हुई थी। वह दिल्ली के एक सरकारी स्कूल में पहली क्लास की छात्रा थी। इस स्कूल में मैंने लक्ष्मी को तीन महीने पढ़ाया। इसी स्कूल में अहाना और आस्तिक से भी अच्छा खासा परिचय है। और यह लेख मुख्यतः इन तीनों बच्चों के बारे में है।

यह सरकारी स्कूल दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्र में है। इस स्कूल में ज़्यादातर वे बच्चे पढ़ने आते हैं जिनके पिता या तो सब्जियाँ बेचते हैं या मज़दूरी करते हैं या किसी दुकान पर काम करते हैं और माँएँ दूसरों के घरों में या तो काम करती हैं या मज़दूरी करती हैं या सिलाई का काम करती हैं।



शुरुआत लक्ष्मी की बात से करते हैं। दरअसल लक्ष्मी की बहुत सारी बातों ने मुझे बहुत 'फ़ैसीनेट' किया। सबसे पहले उसकी पेंसिल के बारे में बात करते हैं। लक्ष्मी के पास लिखने के लिए एक बहुत ही छोटी पेंसिल हुआ करती थी। एक ही पेंसिल से तो लगातार लिख नहीं सकती तो हर बार उसके पास इतनी छोटी पेंसिल आती कहाँ से थी। आप ख़ुद ही उसकी पेंसिल का साइज़ देख लीजिए।

लक्ष्मी की पेंसिल

हैरानी की बात है कि एक छह-सात साल की बच्ची इतनी छोटी पेंसिल से लिखने का काम करे। बहुत सारे बच्चे ऐसे होते हैं जिन्हें घर के हालातों के कारण बहुत सारे समझौते करने पड़ते हैं। लिखने के लिए एक अच्छी पेंसिल तो हर बच्चे का अधिकार है, वह तो उसे मिलनी ही चाहिए, लेकिन लक्ष्मी जैसे बहुत सारे बच्चों के पास यह मूलभूत सुविधा भी नहीं होती। फिर भी वे पढ़ने-लिखने में अपनी पूरी 'जान' लगा देते हैं। कोई और बच्चा होता तो कहता कि मैं तब पढ़ूँगा जब मुझे नई वाली पेंसिल लाकर दोगे। लेकिन लक्ष्मी ने ऐसी कोई शर्त कभी नहीं रखी होगी! मुझे इस बात का पूरा अन्दाज़ है कि लिखते समय उसे पेंसिल को सँभालने में कितनी तकलीफ़ होती होगी! लक्ष्मी की इस बात से मुझे महसूस हुआ कि बच्चों की पढ़ने-लिखने में बहुत रुचि होती है। लक्ष्मी की एक और ख़ास बात थी, उसका झट से जवाब देना। मेरी या अपनी क्लास के बाक़ी बच्चों की कही हुई बातों के बदले वह जो जवाब देती थी, वे सुनने



चित्र 1 लक्ष्मी की पेंसिल

लायक़ होते थे। इसी क्लास में एक और बच्ची थी इकरा। वह रोज़ स्टील के टिफ़िन में खाना लाती थी। हालाँकि स्कूल से मिड-डे मील यानी मध्याह्न भोजन मिलता था। इकरा को अपना टिफ़िन खोलने में दिक़्क़त होती थी इसलिए वह अकसर अपना टिफ़िन मुझसे खुलवाती थी। क्लास के बाक़ी बच्चे भी पीछे क्यों रहें! वे भी अपने-अपने टिफ़िन और बोतलें मुझसे खुलवाने लग गए।

ऐसा बच्चों में अकसर होता है कि अगर क्लास का कोई एक बच्चा टीचर से कोई काम करवाए तो बाक़ी बच्चे भी वही या उस जैसा काम लेकर टीचर के पास आ जाते हैं। इतना ही नहीं, अगर कोई बच्चा नया टिफ़िन या बोतल लाता है तो उस दिन उस बच्चे को प्यास और भूख भी बहुत जल्दी और बार-बार लगेगी! उसे टीचर को अपना नया टिफ़िन बॉक्स या बोतल जो दिखानी है। ख़ैर, हम वापस इकरा पर आते हैं। जब इकरा हर बार की तरह मेरे पास अपना टिफ़िन खुलवाने आई तो लक्ष्मी ने झट से कहा, ''मैडम क्या तुम्हारी नौकरानी लगी हैं– जो आ जाती हो अपना टिफ़िन और बोतल खुलवाने!'' मैंने उस समय तो लक्ष्मी को टोक दिया कि इसमें 'नौकरानी' वाली बात कैसे आ गई! आप भी तो काम करते हैं न! इसमें क्या हुआ? पता नहीं लक्ष्मी को मेरी बात समझ आई या नहीं लेकिन मुझे यह समझ आया कि बच्चों के मन में हमने ही दोहरे मापदण्ड डाल दिए हैं। बच्चे मैडम का काम करें तो वे 'नौकर' नहीं लेकिन अगर मैडम बच्चों का काम कर दें तो वे 'नौकर' / 'नौकरानी' बन जाती हैं। ऐसा क्यों? इस बात ने मुझे यह अच्छे से समझा दिया कि अभी हिन्दी और गणित के अलावा और भी बहुत कुछ है जिसे बच्चों को सीखना है, 'लर्न' करना है। लेकिन उससे पहले बहुत कुछ है जिसे भूलना या 'अनलर्न' करना ज़रूरी है, जैसे 'नौकरानी' वाली बात।



एक दिन और भी ग़ज़ब किस्सा हुआ। जैसा कि मैंने बताया कि बच्चों को स्कूल में दोपहर का भोजन मिलता था। जैसे ही आधी छुट्टी होती तो मैं आदत के अनुसार सभी बच्चों से खाना लेने को कहती। बच्चे अपने-अपने टिफ़िन बॉक्स लेकर क्लास के बाहर लाइन बनाकर खड़े हो जाते और खाना लेकर फिर क्लास में आ जाते। एक दिन जब मैंने खाना लेने के लिए कहा तो लक्ष्मी तपाक से ताना मारने वाले अन्दाज़ में बोल पड़ी– ''ख़ुद तो खाती नहीं हैं, हमसे कहती हैं कि खाना खा लो।'' यह सुनकर मैं मुस्करा भर दी।

लेकिन यक़ीन मानिए मन-ही-मन मैं बहुत ज़ोर-ज़ोर से हँस रही थी। उसकी बात तो ठीक थी ही! ख़ैर, अगले दिन से मैं भी स्कूल में खाना लेकर जाने लगी और बच्चों के साथ बैठकर खाने लगी। यह मेरे लिए बहुत ही प्यारा अनुभव था– बच्चों का साथ होना, बच्चों के साथ हँसते-गपियाते भोजन खाना। लक्ष्मी के बारे में एक और बात करने का बहुत मन है। एक दिन लक्ष्मी खाना नहीं लाई। मैंने कई बार कहा,''लक्ष्मी, आज स्कूल वाला खाना ही खा लो!'' लेकिन लक्ष्मी टस-से-

मस नहीं हुई और अजीब-सी आँखों से मुझे देखती रही। मैंने उसे सेब भी दिया, उसने वह भी खाने से मना कर दिया। थोड़ी देर बाद लक्ष्मी की दोस्त ज्योति मेरे पास आई और मेरे कान में हल्के से कहने लगी,''आज लक्ष्मी की मम्मी ने खाना नहीं बनाया इसलिए उसने खाना नहीं खाया।'' ''क्यों?''– मैंने जानना चाहा। ''कल रात लक्ष्मी के पापा ने लक्ष्मी की मम्मी को मारा था, वह शराब पीते हैं न, तो लक्ष्मी की मम्मी ने सुबह खाना नहीं बनाया।'' मुझसे कुछ न कहते बना– न तो लक्ष्मी से और न ही उसकी मम्मी से जो पूरी छुट्टी होने पर उसे लेने लाई थीं।

और लक्ष्मी की एक सबसे ख़ास बात यह है कि उसे झोंपड़ी बनाना बहुत पसन्द है। आप कहेंगे कि इसमें ख़ास क्या है? सभी बच्चे झोंपड़ी बनाते हैं। लेकिन अगर मैं कहूँ कि आप मेरी एक तस्वीर बनाइए या अपने दोस्त की तस्वीर बनाइए तो आप क्या बनाएँगे? ज़ाहिर-सी बात है कि आप मेरी और अपने दोस्त की तस्वीर बनाएँगे। लेकिन अगर आपकी जगह लक्ष्मी होगी तो वह ऐसा नहीं करेगी। वह सबसे पहले झोंपड़ी बनाएगी, फिर मेरी या अपने दोस्त की तस्वीर बनाएगी। अब आपको पता चल गया होगा कि मैं क्यों लक्ष्मी की झोंपड़ी बनाने को ख़ास कह रही थी! उसकी इस ख़ास आदत का पता तब चला जब एक दिन मैं बच्चों के साथ उनके परिवार के बारे में बात कर रही थी और मैंने सभी से अपने-अपने परिवार के लोगों की तस्वीरें बनाने के लिए कहा। सभी बच्चों ने कुछ-न-कुछ बनाया। लेकिन लक्ष्मी ने अपनी आदत के अनुसार सबसे पहले झोंपड़ी बनाई और फिर परिवार के बाक़ी सदस्य! ऐसा नहीं है कि लक्ष्मी को सिर्फ़ झोंपड़ी ही बनाना आता था। वह और भी बहुत कुछ बनाती है। होता यह है कि बच्चे जिस चीज़ को पसन्द करते हैं, जिसे वे बार-बार कहीं-न-कहीं देखते हैं- अकसर वही बनाते हैं, उसी के बारे में बात करते हैं और उसी के बारे में लिखते हैं। धीरे-धीरे उनके इन सब कामों में बदलाव आता जाता है, यानी एक बार झोंपड़ी जिस तरीक़े से बनी थी कुछ समय बाद उस झोंपड़ी में और सफाई आती चली जाएगी। लक्ष्मी की झोंपड़ी में भी लगातार बदलाव आता गया। बच्चों की ड्राइंग से, उनके लिखने से, उनके मन के बारे में भी पता चलता है। बच्चे अपने आस-पास जो देखते हैं उसके बारे में बहुत कुछ सोचते हैं, महसूस करते हैं और जब मौक़ा मिले तो उसके बारे में बात करते हैं या अपने मन की बात को किसी-न-किसी तरह व्यक्त करते हैं।

लक्ष्मी की रसोई

एक और दिन की बात है। मैंने हिंदी की किताब में दिए गए रसोईघर (किचन) के बारे में बच्चों से बात की। उनकी रसोई में क्या-क्या सामान है? कौन-कौन क्या-क्या बनाता है? रसोई में और कौन-कौन रहता है? आदि। सबने अपनी-अपनी रसोई के बारे में अपनी बात कही और फिर मैंने उन सबसे अपना-अपना रसोईघर बनाने के लिए कहा। सोचिए, लक्ष्मी क्या बना रही होगी? झोंपड़ी! मैंने लक्ष्मी से कहा, ''लक्ष्मी, झोंपड़ी नहीं बनानी है, अपना रसोईघर बनाओ। उसमें क्या-क्या है, वह बनाओ।'' लक्ष्मी का जवाब था, ''मैडम बना तो रही हूँ।'' ''कहाँ बना रही हो लक्ष्मी? तुम तो फिर से झोंपड़ी ही बना रही हो।''- मैंने कहा। ''मैडम, झोपड़ी के अन्दर प्लेट, कटोरी, गिलास बनाऊँगी न!''- लक्ष्मी ने समझाने वाले अन्दाज़ में कहा। मैंने कुछ नहीं कहा और मैं बाक़ी बच्चों का काम देखने आगे बढ़ गई।



चित्र 2 लक्ष्मी द्वारा बनाया गया रसोई का चित्र

एक और दिन की एक और बात! पहली क्लास की टीचर दीपा मैडम का प्रमोशन हो गया और वह अक्तूबर के पहले हफ़्ते में स्कूल छोड़कर बड़े बच्चों के दूसरे स्कूल में चली गईं। उनके जाने के कुछ दिन बाद मैंने सब बच्चों से कहा, ''मुझे दीपा मैडम की बहुत याद आ रही है। उनके बिना क्लास में कुछ मज़ा नहीं आ रहा है। क्या तुम सबको भी दीपा मैडम की याद आ रही है?'' ''हाँ, हमें भी दीपा मैडम की याद आ रही है।'', सब एक साथ बोल पड़े। ''तो क्यों न उन्हें चिट्ठी लिखें?'', मैंने सुझाव दिया तो सबने मान लिया और सभी बच्चों ने अपने-अपने तरीक़े से दीपा मैडम को चिट्ठी लिखी। जानते हैं लक्ष्मी ने चिट्ठी कैसे लिखी? कुछ ऐसी! लक्ष्मी ने चिट्ठी में फिर से झोंपड़ी बनाई और फिर दीपा मैडम की तस्वीर!

दीपा मैडम को लिखी चिट्ठी

क्लास के बाक़ी बच्चों ने भी अपने-अपने तरीक़े से दीपा मैडम को चिट्ठी लिखी। हाँ, तस्वीर हर बच्चे ने बनाई। हर बच्चे ने अलग



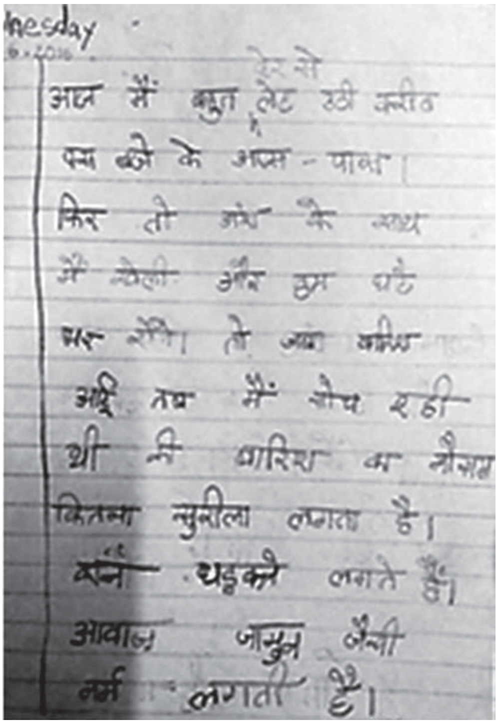
चित्र 3 दीपा मैडम को लिखी गई लक्ष्मी की चिट्ठी

तरीक़े से अपने मन की बात कही। कुछ ने पंक्तियाँ लिखीं तो कुछ ने शब्द, तो कुछ ने केवल तस्वीर बनाकर दीपा मैडम का नाम लिखा। बच्चों की इन चिट्ठियों में बच्चों का पूरा संसार देखा जा सकता है कि वे किसे कितना प्यार करते हैं। किसी के न होने पर वे कितना ख़ालीपन महसूस करते हैं। और भी न जाने क्या-क्या... जिसे आप केवल महसूस कर सकते हैं, उसके बारे में बताने के लिए आपको शब्द ही नहीं मिलते।

लक्ष्मी के साथ-साथ मैं दो और बच्चों अहाना और आस्तिक के साथ हुई अन्त:क्रिया और अवलोकन भी आपके साथ साझा करना चाहूँगी।

अहाना का लेखन

अहाना उर्फ़ बिन्दी को बचपन से ही लिखने का बहुत शौक़ है। हालाँकि वह अभी भी बच्ची ही है और तीसरी कक्षा में पढ़ती है। उसकी एक और ख़ास बात यह है कि पेन, पेंसिल और डायरी या नोटबुक ख़रीदने से उसका मन ही नहीं भरता। जब भी उससे मिलना होता तो उसके हाथ में पेन या पेंसिल होती और वह काग़ज़ की तलाश में होती। अहाना का लिखने का यह शौक उसके लेखन में नज़र भी आता है। वह सिर्फ़ लिखती ही नहीं है बल्कि लिखने को अपनी ज़िन्दगी में अलग-अलग कामों के लिए इस्तेमाल भी करती है। अहाना जब लिखती है तो उसमें पूरी तरह डूब जाती है। उसके शब्दों का चुनाव बहुत अलग-सा होता है और ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि वह सोचती ही अलग तरीक़े से है। पहली बात तो तीसरी क्लास का बच्चा अपने उठने के बारे में लिखेगा ही नहीं और वह भी लेट उठने के बारे में। 'आज मैं बहुत लेट उठी क़रीब दस बजे के आसपास।' अहाना की इस पहली पंक्ति को पढ़ने के बाद यह सहज ही कहा जा सकता है कि वह वैसा ही लिखती है जैसा वह सोचती है या जैसा उसे कहना होता है। कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं।

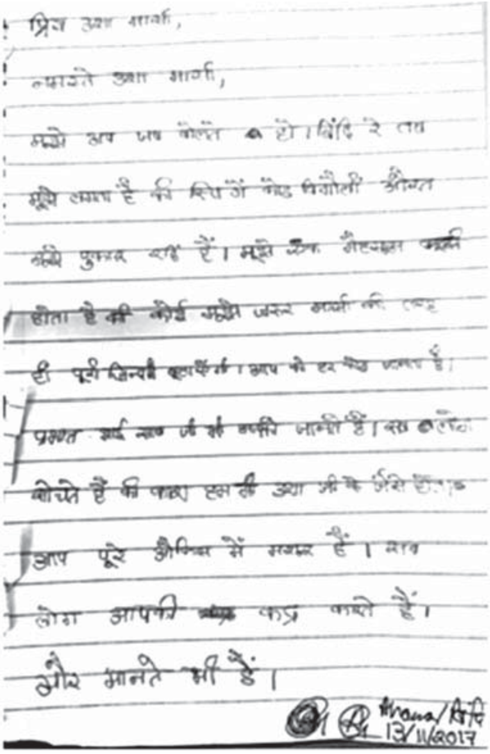


चित्र 4 अहाना का लेखन

पहले वाक्य में 'देरी से' को जोड़ना यह बताता है कि उसके पास भाषा की वैकल्पिक व्यवस्था भी है। लेकिन जब वह लिखना शुरू करती है तो उसके प्रवाह में 'संशोधन' के बाधक तत्त्व को शामिल होने का मौक़ा ही नहीं देती। बच्चों के लेखन के सन्दर्भ में यह बात बहुत पते की है कि लिखते समय उनका पूरा ध्यान केवल लेखन पर होता है जो एक तरह से विचारों की अभिव्यक्ति है, विचारों का प्रवाह है या फिर चिन्तन प्रक्रिया है। लेखन के सन्दर्भ में यह बात बहुत मायने रखती है कि हम जैसा सोचते चले जाएँ, वैसा लिखते भी चले जाएँ। इससे हमारे सोचने के तरीक़े और सोचने के स्तर के बारे में भी साफ़-साफ़ जानकारी मिलती है। 'फिर तो मैं अंश के साथ खेली और हम घण्टेभर खेले।' यह वाक्य भी बेहद ख़ास है जिसमें यह स्वर सुनाई देता है कि देर से उठने के बाद तुरन्त खेलना ज़रूरी था, वह भी समय गँवाए बिना। आमतौर पर बच्चे बारिश को देखकर यही कहते हुए नज़र आएँगे कि कितनी बारिश हो रही है, सब तरफ़ पानी भर गया। चलो, काग़ज़ की नाव तैराते हैं। लेकिन अहाना ने कुछ इस तरह लिखा– 'बारिश का मौसम कितना सुरीला लगता है। कान धड़कने लगते हैं। आवाज़ जामुन जैसी नर्म लगती है।' बारिश का ऐसा वर्णन मेरी कल्पना से भी परे है। बारिश का ऐसा वर्णन न तो कभी पढ़ा और न ही कभी सुना। ऐसा 'रूपक' किसी भी कविता के काव्य सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है। अगर आप ग़ौर करें तो अहाना के द्वारा इस्तेमाल किए गए 'सुरीला / धड़कने / आवाज़ / नर्म' शब्द; वाक्य में अहाना के संगीत से नजदीकी सम्बन्ध के बारे में भी 'गुपचुप' बता जाते हैं। इसका एक निहितार्थ यह है कि बच्चे जिन चीज़ों में 'शामिल' होते हैं उनसे जुड़े शब्द उनकी कल्पना और कल्पना भरी अभिव्यक्ति में सहजता से प्रकट हो जाते हैं। वास्तव में बारिश के मौसम का 'सुरीला' होना, कान का 'धड़कना' और आवाज़ का 'जामुन-सा नर्म' होना, अद्‌भुत कल्पना है और यह कल्पना करना किसी भी स्कूल में नहीं सिखाया जाता है। अगर शाला कल्पना की ऐसी उड़ान को पोषित करे तो वह बच्चों की बहुत बड़ी मदद होगी।

अहाना की एक और चिट्ठी

अहाना ने अपनी मौसी को भी एक चिट्‌ठी लिखी। वैसे मैं बता दूँ कि अहाना को चिट्‌ठी लिखना बहुत पसन्द है। तो चिट्‌ठी कुछ इस तरह थी। इस चिट्‌ठी में अहाना ने वैसा ही लिखा, जो उसके मन में जैसे-जैसे आया या जैसा वह अपनी मौसी को 'फ़ील' (महसूस) करती है, अपनी मौसी के बारे में सोचती है। इस चिट्‌ठी में आप क्या देखेंगे? मन की बात या यह कि शब्द कैसे लिखे हैं यानी उनकी वर्तनी? बिल्कुल सही, मन की बात! हम क्या कहना चाहते हैं यह अधिक महत्त्वपूर्ण है, वर्तनी या स्पैलिंग तो बच्चे धीरे-धीरे सीख ही जाएँगे और यक़ीन मानिए सीख जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे हम बोलते-बोलते बोलना सीख जाते हैं, वैसे ही हम लिखते-लिखते लिखना सीख जाते हैं। बस हमें बच्चों को पढ़ने-लिखने के अधिक-से-अधिक मौक़े देने होंगे। 'मूझे लगता है की स्चि



प्रिय उषा शर्मा,

नमस्ते उषा शर्मा,

[illegible]

मूझे लगता है की [illegible] बिगौली औरत

[illegible]

आप पूरे [illegible] में [illegible] हैं। सब

लोग आपकी [illegible] कद्र करते हैं।

और मानते भी हैं।

13/11/2017

चित्र 5 अहाना की एक और चिट्‌ठी

में कोइ बिगौलीं औरत मूझे पुकार रहिं हैं। मूझे एक मैहसूस होता है की कोई मूझे ज़रूर मासी की तरह ही पूरी जिन्दगी बूलाऐंगी।' अहाना के इस लेखन में उसके मन की बात में सबसे ख़ास बात यही है कि वह 'महसूस' कर सकती है। भले ही वह महसूस को वैसा ही लिखे जैसे वह बोलती है (मैहसूस) हम भी वैसा ही बोलते हैं। एक और ख़ास बात यह कि वह अनुस्वार या शब्दों में ऊपर लगाई जाने वाली बिन्दी से अच्छे से परिचित है। उसे मालूम है कि अपने से बड़ों के लिए सम्मान रूप में 'रहीं, हैं, बुलाएँगी' जैसे शब्द लिखे जाते हैं भले ही अहाना ने अनुस्वार या बिन्दी का इस्तेमाल एक-दो जगह ठीक न किया हो लेकिन लगभग पूरी चिट्‌ठी में उसका यह प्रयोग ठीक है। मेरी तरह आपको भी उसकी चिट्‌ठी में यह हिस्सा सबसे ज़्यादा पसन्द आया होगा। कम-से-कम 'मूझे लगता है की', 'मूझे एक मैहसूस होता है की', 'मासी की तरह ही पूरी जिन्दगी' जैसे भाषा के प्रयोग तीसरी कक्षा में पढ़ने वाले आम बच्चे के लिए सहज नहीं हैं।

अहाना को जिस तरह का पढ़ने-लिखने को माहौल घर में मिला है यह उसका परिणाम है। इसका अर्थ यह है कि बच्चों को अच्छा माहौल देने की भी ज़रूरत है, बाक़ी काम तो वे ख़ुद ही कर लेंगे।

आस्तिक का चित्रांकन

आस्तिक भी तीसरी क्लास में पढ़ता है। वह बहुत अच्छा गाता भी है और नाचता भी है। एक बार वह कोई गाना सुन ले और एक बार वह कोई नाच देख ले, हू-बहू नक़ल करके वह गा-नाच सकता है। सबसे ख़ास बात यह कि वह उसी अन्दाज़ में गाता और नाचता है जिस अन्दाज़ में गाना गाया गया था या जिस अन्दाज़ में नृत्य किया गया था। आस्तिक को भी तस्वीर बनाना बहुत पसन्द है। उसकी ज़्यादातर तस्वीरों में आपको 'माँ' और 'दुर्गा माँ' ही नज़र आएँगी। वह उन्हें बहुत अलग-अलग तरीक़ों से सजाता है। लेकिन वास्तव में उसे जो भी अपने आसपास दिखाई देता है, वह उसका भी बख़ूबी चित्रांकन करता है। यह आदत अकसर बच्चों में होती है। भले ही वे हू-बहू वैसा नहीं भी बना



सकें परन्तु यदि कोई उनसे पूछे कि यह क्या बनाया है तो वे ठीक-ठीक बता देंगे कि क्या बनाया है।

दुर्गा माँ, आस्तिक का चित्रांकन

इसके अलावा आस्तिक को लिखना भी पसन्द है। बॉलीवुड अभिनेत्री श्रीदेवी के देहान्त पर आस्तिक ने उनके बारे में कुछ ऐसी ही एक कविता लिखी और उसको शीर्षक भी दिया,



चित्र 6 आस्तिक का बनाया हुआ चित्र

'श्रीदेवी का अन्तिम दिन'। साथ ही अपना नाम भी लिखा। अकसर ऐसा होता है कि किसी किताब को पढ़ते समय हम अगर उसके शीर्षक, लेखक, चित्र बनाने वाले के नाम पर भी ध्यान देते हैं और उसे अपने पढ़ने का हिस्सा बनाते हैं तो लिखते समय भी हम उन चीज़ों पर अपने आप ही ध्यान देते हैं। ठीक ऐसे ही जो बच्चे कहानी या कविता के शीर्षक को भी पढ़ते हैं या उसपर ध्यान देते हैं, वे बच्चे लिखते समय भी शीर्षक, लेखक आदि पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं। आस्तिक की कविता को ध्यान से देखने पर यह साफ़-साफ़ नज़र आएगा कि उसने श्रीदेवी की फ़िल्मों के ही गीतों की पंक्तियों को लेकर कविता की रचना की है। उन्हीं की एक और बहुत लोकप्रिय फ़िल्म के गाने की पंक्तियों को इस तरह से इस्तेमाल किया है, 'काटे नहीं कटते दिन या रात'।

अब आप सोच सकते हैं कि इसमें क्या ख़ास है? ख़ास है श्रीदेवी की लोकप्रिय फ़िल्मों और गानों की जानकारी को इस तरह से इस्तेमाल करना। फिर उनमें अपनी ओर से तुकबन्दी करते हुए अपनी पंक्तियों को जोड़ना, जैसे– 'काँटे नहीं कटते दिन या रात, तो मन में उदासी का निवास'। अन्तिम पंक्ति भी बहुत ही ख़ास है और अन्य फ़िल्मी गीतों से प्रभावित भी! अगर हम आस्तिक के शब्दों का चयन देखें तो वह कमाल का है और अहाना की तरह ही किसी वयस्क या बड़े व्यक्ति जैसा है। शब्दों की वर्तनी भी बहुत सही है। आस्तिक की कविता में उसके व्यक्तित्व की एक झलक तो यह मिलती है कि वह सिनेमा-प्रेमी है। फ़िल्म, फ़िल्मी गीत और नृत्य से उसका बहुत गहरा लगाव है, वह उसे बहुत प्रिय हैं। और पिछली बात की तरह वही बात, आस्तिक की कविता में जो कल्पना है वह भी किसी स्कूल में नहीं सिखाई जाती।

मुझे लगता है कि चिट्ठी, कहानी, कविता आदि लिखने के लिए सबसे पहले लिखने की इच्छा का होना ज़रूरी है। दूसरी बात यह समझ आती है कि सृजनात्मक लेखन या क्रिएटिव राइटिंग एक तरह का 'एटीट्यूड' (मनोभाव) है, एक तरह का 'पैशन' (जुनून) है। और यह उन लोगों में देखा जा सकता है जो लिखे बिना रह नहीं सकते। हाथ में रंग, पेन या पेंसिल आने की देरभर है, वे काग़ज़ पर कुछ-न-कुछ बनाना या लिखना शुरू कर देते हैं। यह सृजनात्मक लेखन तभी सम्भव है जब बच्चों को वैसा लिखने का



चित्र 7 आस्तिक का बनाया दुर्गा माँ का चित्र

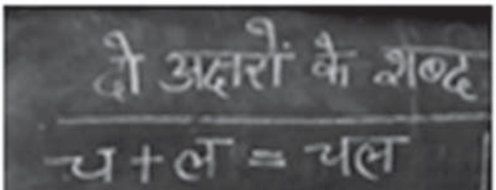
माहौल दिया जाए और उन्हें लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

अन्तिम बात! अक्तूबर में मैंने भी स्कूल छोड़ दिया, क्योंकि तीन महीने पूरे हो गए थे। कुछ दिन बाद मैं शनिवार को उसी स्कूल में गई, बच्चों से मिलने! पता चला कि मेरे जाने के बाद उन्हें कोई नई टीचर नहीं मिली तो क्लास के सारे बच्चों को पहली क्लास के अलग-अलग सेक्शनों में बैठा दिया गया। पूरी क्लास एक-दूसरे से अलग हो गई। यह मेरे लिए बहुत ही दुखद था, उससे भी ज़्यादा दुखद जब मुझे स्कूल आना बन्द करना था। लगा कि मेरे ही साथी मुझसे अलग हो गए। ये तो बहुत छोटे बच्चे हैं, एक-दूसरे के बिना कैसे रह पाएँगे? कैसे मन लगेगा इनका क्लास में? जब मन ही नहीं लगेगा तो पढ़ेंगे कैसे?

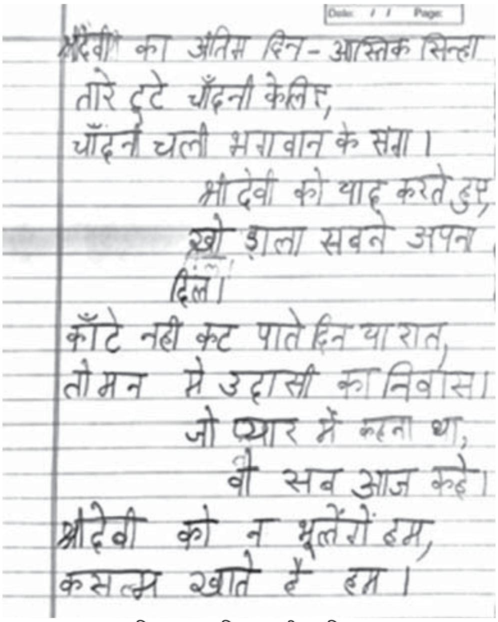
कैसी अजीब दुनिया होती है बच्चों की! आप भले ही किन्हीं एक-दो के साथ ही बहुत गाढ़ी दोस्ती रखो लेकिन फिर भी क्लास में सारे बच्चे अपनी नज़र के सामने चाहिए होते हैं। लक्ष्मी को सबसे ज़्यादा चाहिए थी, ज्योति जो उसकी सबसे 'गाढ़ी' दोस्त थी और उसके बाद इकरा, ख़ुशबू, काजल, गुनगुन...! लक्ष्मी के सेक्शन में ज्योति नहीं थी और ज्योति के सेक्शन में लक्ष्मी! ख़ैर, मैं मन कड़ा करके पहली क्लास के एक सेक्शन में गई। बच्चों से मुलाक़ात हुई। वे उदास से लग रहे थे। लक्ष्मी सहित सभी बच्चों की हँसी न जाने कहाँ चली गई थी! मेरी नज़र ब्लैकबोर्ड पर गई। वहाँ जो लिखा हुआ था उसे देखकर बहुत दुख हुआ कि पहली क्लास के बच्चे क्या लिख लेते हैं और टीचर क्या लिखवा रही हैं। आप ख़ुद ही देख लीजिए! यह लिखवाना बच्चों के पढ़ना, लिखना, सीखना के दृष्टिकोण से भी ठीक नहीं है और न ही उनकी भाषा सीखने की क्षमताओं के नज़रिए से! यह मुझे बच्चों की क्षमताओं का अपमान-सा लगा!

किसी भी क्लास में इस तरह का लेखन या लेखन का इस तरह का शिक्षण यह बताता है कि शिक्षक की पढ़ने-लिखने सम्बन्धी समझ कितनी 'ग़लत' और 'संकीर्ण' है। लेखन यांत्रिक कौशल नहीं है, वह एक सृजनात्मक कुशलता है जिसमें चिन्तन प्रक्रिया लगातार शामिल रहती है। अब आप स्वयं ही सोचिए कि बच्चे ऐसा कहाँ बोलते हैं और अगर पढ़ने-लिखने की प्रक्रिया भी यूँ हिज्जों में चलेगी तो बच्चों के लिए हम कठिनाई ही पैदा कर रहे हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इस तरह के लेखन में 'अर्थ' है ही नहीं और हम बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि भाषा सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में 'अर्थ' ही केन्द्र में होता है और होना चाहिए।

बच्चे के आसपास मौजूद 'परिवेश' बच्चों को लेखन में मदद करता है। बच्चे पूरे-पूरे शब्द या वाक्य भी लिखने की क्षमता रखते हैं बशर्ते हम उन्हें ऐसे अवसर उपलब्ध कराएँ।



हाँ, स्कूल छोड़ते समय मैं सभी बच्चों को कहानी, कविताओं की किताबें, रंग, पेंसिल, रबड़, पेपर आदि सभी कुछ दे गई थी। आख़िर यह सारा सामान उन्हीं के लिए तो था। लक्ष्मी को ख़ासतौर पर दो पेंसिलें दी थीं, क्योंकि



चित्र 8 आस्तिक की कविता

उसकी छोटी पेंसिल मैंने उससे माँग ली थी तो उसके बदले एक पेंसिल तो उसे देनी ही थी और दूसरी वह पेंसिल थी जो क्लास के बाक़ी बच्चों को भी मिली थी। बच्चों से मुलाक़ात करके वापस जाते समय मन बहुत उदास था। बच्चों का मन कितना कोमल होता है, इतने छोटे-छोटे बच्चे अपनी-अपनी ज़िन्दगी में न जाने क्या-क्या देखते हैं, क्या-क्या झेलते हैं? मैं उनकी जगह ख़ुद को रखकर सोच रही थी। शायद वे बच्चे मुझे भूल गए होंगे लेकिन मेरे सपनों में वे बच्चे आज भी जब-तब आ ही जाते हैं! आख़िर उनसे रिश्ता ही ऐसा है।

लक्ष्मी उसी पेंसिल से ही लिख रही थी। उसने दूसरे बच्चों की तरह वही लिखा था जो मैडम ने ब्लैकबोर्ड से देखकर लिखने को कहा था। लेकिन लक्ष्मी की कॉपी में झोंपड़ी नहीं मिली। न जाने कहाँ खो गई लक्ष्मी की झोंपड़ी! और उस झोंपड़ी के साथ उसका बचपन भी, उसकी हँसी भी और उसके जवाब, तर्क और उसकी खिलखिलाहट!

उषा शर्मा तीन दशक से प्रारम्भिक, विद्यालयी और शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत रही हैं। उन्हें इन क्षेत्रों में पाठ्यक्रम और शिक्षण सामग्री निर्माण का लम्बा अनुभव है। वे एनसीईआरटी की बाल पत्रिका 'फिरकी बच्चों की' व जर्नल 'प्राथमिक शिक्षा' की शैक्षणिक सम्पादक हैं। वर्तमान में एनसीईआरटी में प्राध्यापक व समग्र भाषा कार्यक्रम की समन्वयक हैं।
सम्पर्क : ushasharma1730@gmail.com

अमरीका की शिक्षा व्यवस्था में स्कूल और अध्यापन

मनीष जैन द्वारा डॉ हीथर बिग्ले से साक्षात्कार

डॉ हीथर बिग्ले अमरीका के बेसिस फ़्लेगस्टॉफ़ (BASIS Flagstaff) स्कूल में अध्यापिका हैं। उन्होंने फ़्लोरिडा विश्वविद्यालय से अँग्रेज़ी में पीएचडी की डिग्री प्राप्त की और उनका शोध प्रबन्ध छोटे स्तरों के सिनेमा में वैश्वीकरण, धार्मिक पहचान और महिला स्वायत्तता पर केन्द्रित था। उन्होंने मॉरमॉन (1820 में न्यूयॉर्क में जोसेफ़ स्मिथ द्वारा आरम्भ किया गया धार्मिक व सांस्कृतिक समूह), मग़रिबी (उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीका– आज के अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिसिआ, लीबिया– के रहने वाले अरब और बर्बर समुदायों) और बॉलीवुड फ़िल्मों पर शोध लेख प्रकाशित किए हैं। अप्रैल 2019 में यह साक्षात्कार लिए जाने के दौरान डॉ हीथर बिग्ले फ़ुलब्राइट स्कॉलर के तौर पर अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली के स्कूल ऑफ़ एजुकेशन स्टडीज़ से जुड़ी हुई थीं। उनका ईमेल है– heather.bigley@basised.com

यह साक्षात्कार हमें न केवल एक स्कूल अध्यापक के नज़रिए से अमरीका की स्कूल व्यवस्था को समझने के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, बल्कि हमारा ध्यान दुनिया भर के अलग-अलग देशों में हो रहे शैक्षिक सुधारों की वैश्विक प्रकृति की ओर भी दिलाता है जिनकी वकालत आजकल ज़ोर-शोर से की जा रही है।

मनीष : हीथर, अमरीका में मौजूद विभिन्न प्रकार के स्कूलों के बारे में बताइए। उन्हें चलाने के लिए पैसा कहाँ से आता है और इनमें आपस में क्या अन्तर हैं?

हीथर : देखिए, अमरीका में तीन प्रकार के स्कूल हैं : (अ) सरकारी; (ब) चार्टर व स्वतन्त्र स्कूल; और (स) निजी स्कूल (संख्या के आधार पर देखें तो इनमें बहुत बच्चे नहीं जाते हैं और इनका नामांकन केवल 10-12% तक ही है)।[1] इनमें से अधिकतर धार्मिक स्कूल हैं और उन्हें अपने धार्मिक संगठनों से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। जो निजी स्कूल धार्मिक नहीं हैं, वे बहुत महँगे स्कूल हैं। निजी स्कूल ट्यूशन फ़ीस आधारित स्कूल हैं और वे सरकार द्वारा सरकारी स्कूलों के लिए निर्धारित मानकों या तय की गई नीतियों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। अभिभावकों को सन्तुष्ट करने के लिए वे स्कूल चाहें तो इनका पालन कर सकते हैं। सरकारी स्कूलों को उनके आसपास के क्षेत्र से एकत्रित सम्पत्ति कर के आधार पर राज्य से आर्थिक सहायता और प्रति छात्र संघीय सहायता मिलती है। सरकारी स्कूल सार्वजनिक नीतियों से नियमित होते हैं। उदाहरण के लिए, ओबामा सरकार के अन्तर्गत सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त करने वाले स्कूलों को ख़ुद को ट्रांसजेण्डर कहने वाले व्यक्तियों के लिए अलग से शौचालयों की व्यवस्था करनी पड़ी। निजी स्कूलों को ऐसा नहीं करना पड़ा। मेरा स्कूल

1. 2013-2014 का सरकारी आँकड़ा (NCES) बताता है कि अमरीका के 10% विद्यार्थी निजी स्कूलों में जाते हैं, निजी स्कूलों में से 69% धार्मिक स्कूल हैं [https://nces.ed.gov/blogs/nces/post/a-look-at-private-schools-and-homeschooling]। इसकी तुलना में 2016-17 में भारत में प्राथमिक स्तर पर 30.73% विद्यार्थी और कक्षा I-XII तक 31.83% विद्यार्थी सहायतारहित निजी स्कूलों में पढ़ाई कर रहे थे (NIEPA 2018)।

एक चार्टर स्कूल है जिसने जेण्डर-विशिष्ट शौचालयों की जगह जेण्डर-तटस्थ शौचालयों का निर्माण किया है।

सरकारी स्कूल राज्य शासन के अधीन होते हैं और राज्य व संघ दोनों सरकारों से वित्तीय सहायता प्राप्त करते हैं। राज्य और संघ का वित्तीय योगदान एक से दूसरे राज्य के लिए अलग-अलग है। जैसे– एरिज़ोना राज्य को राज्य सरकार के मुकाबले संघीय सरकार से ज़्यादा वित्त मिलता है, जो कि एक चौंकाने वाली बात है। स्थानीय स्तर पर स्कूल बोर्ड है जो एक निर्वाचित लोकतान्त्रिक निकाय है और यह तय करता है कि स्कूलों में क्या पढ़ाया जाएगा।

चार्टर स्कूल भी राज्य व संघ, दोनों से वित्तीय सहायता प्राप्त करते हैं और यह सहायता भी हर राज्य में अलग-अलग है। इन स्कूलों को अध्यापक प्रमाणीकरण (certification) और पाठ्यचर्या मानकों के मानदण्डों को पूरा करना अनिवार्य नहीं है, फिर भी अभिभावकों की माँग के अनुसार वे ऐसा कर सकते हैं। सरकारी स्कूलों के विपरीत उन्हें ख़ास ज़रूरत वाले छात्रों के लिए अलग से कर्मचारियों की नियुक्ति करने की भी आवश्यकता नहीं है। पारम्परिक रूप से शहरी क्षेत्रों के चार्टर स्कूल शहरी ग़रीबों पर केन्द्रित रहे हैं। उन्हें नई इमारतें बनाने और स्कूल की दूसरी ज़रूरतों जैसे कि कम्प्यूटर इत्यादि ख़रीदने के लिए अनुदान उपलब्ध है। ज़्यादा ग़रीब राज्यों में चार्टर स्कूलों के बनने की सम्भावना अधिक है जैसे कि सुदूर दक्षिण में लुइसिआना राज्य।

पारम्परिक रूप से शहरी क्षेत्रों के चार्टर स्कूल शहरी ग़रीबों पर केन्द्रित रहे हैं। उन्हें नई इमारतें बनाने और स्कूल की दूसरी ज़रूरतों जैसे कि कम्प्यूटर इत्यादि ख़रीदने के लिए अनुदान उपलब्ध है। ज़्यादा ग़रीब राज्यों में चार्टर स्कूलों के बनने की सम्भावना अधिक है जैसे कि सुदूर दक्षिण में लुइसिआना राज्य।

सरकारी स्कूलों में मुफ़्त नाश्ता, दोपहर का भोजन और मुफ़्त परिवहन संघीय सरकार द्वारा उपलब्ध कराए जाते हैं– ये कार्यक्रम चार्टर स्कूलों के लिए भी उपलब्ध हैं, पर मेरा चार्टर कॉर्पोरेशन इन प्रावधानों का लाभ नहीं उठाता है और यह स्कूल में आने वाले छात्रों की जनसांख्यिकीय संरचना को प्रभावित करता है।

मनीष : आपने अभी कहा कि आपका स्कूल मुफ़्त भोजन और मुफ़्त परिवहन की सुविधा का लाभ नहीं उठाता है और इस बात ने आपके स्कूल की जनसांख्यिकी को प्रभावित किया है। क्या आप और विस्तार से बता सकती हैं कि क्यों आपका स्कूल इन प्रावधानों का इस्तेमाल नहीं करता है और यह किस प्रकार इस बात पर प्रभाव डालता है कि कौन आपके स्कूल में दाख़िले के लिए आता है ?

हीथर : मैं केवल इस बात का अन्दाज़ा ही लगा सकती हूँ कि क्यों मेरा चार्टर कॉर्पोरेशन संघीय सरकार द्वारा चलाए जाते मुफ़्त भोजन और परिवहन कार्यक्रम में भाग नहीं लेता है। हालाँकि, स्कूल के इस निर्णय के कारण उस छात्र आबादी को बढ़ावा मिला है जिनके अभिभावक उन्हें रोज़ाना आसानी से स्कूल छोड़ सकते हैं और वापिस घर ले जा सकते हैं (जिसका सीधा मतलब है– परिवार में कई कारों का होना, घर पर रहने वाला कोई एक अभिभावक जो उन्हें रोज़ाना स्कूल लाने और ले जाने के लिए उपलब्ध है, या फिर स्कूल में आने वाले विद्यार्थियों के परिवारों का नेटवर्क) और ऐसे छात्र जो रोज़ाना अपना दोपहर का खाना घर से ला सकते हैं या ख़रीदकर खा सकते हैं। औसतन हमारे विद्यार्थी मध्यम वर्ग या उच्च-मध्यम वर्ग के परिवारों से आते हैं जो स्कूल और अध्यापक निधि में चन्दा भी देते हैं।

मनीष : क्या चार्टर स्कूलों के बीच भी अन्तर हैं? मैंने कहीं पढ़ा था कि अध्यापक नेतृत्व वाले चार्टर स्कूल भी हैं। वे अन्य चार्टर स्कूलों या सरकारी स्कूलों से किन मायनों में अलग हैं?

हीथर : कई चार्टर जो विद्यार्थियों का प्रदर्शन सुधारने में कामयाब हुए हैं, उन्हें अफ्रीकी-केन्द्रित चार्टर कहा जाता है। अपने प्रयासों से वे उन अश्वेत विद्यार्थियों तक पहुँचने की कोशिश करते हैं जिन्हें विषय-वस्तु, शिक्षण पद्धति और संस्थायी सम्बन्धों के सन्दर्भ में बहुसंख्यक ग़ोरी संस्कृति द्वारा हाशिए पर धकेला जा सकता है। अध्यापक नेतृत्व वाले चार्टर दुर्लभ हैं, लेकिन वे हैं ज़रूर और वे आशा व कोशिश करते हैं कि अध्यापक चार्टर स्कूलों को छोड़कर न चले जाएँ– जो कि एक बहुत बड़ी समस्या है क्योंकि चार्टर में शिक्षक संघ नहीं होते, वे सरकारी स्कूलों से कम वेतन देते हैं और नए अध्यापकों को बिल्कुल न के बराबर पेशेवर समर्थन और भावनात्मक सम्बल देते हैं। इन्हीं कारणों से मेरे ख़ुद के चार्टर स्कूल ने अपने शुरुआती पाँच सालों में हर साल आधे शिक्षक खो दिए।

मनीष : चार्टर स्कूलों के बारे में उपलब्ध साहित्य उनकी स्वायत्तता पर केन्द्रित है। चार्टर स्कूल के कई समर्थक जहाँ यह तर्क देते हैं कि चार्टर स्कूल क़ानून बेहद 'लोकतान्त्रिक' हैं, वहीं आलोचकों का यह मानना है कि चार्टर स्कूल इस स्वायत्तता और चयनात्मक दाख़िले का इस्तेमाल कर सार्वजनिक शिक्षा के क्षीण संसाधनों को भी हड़प लेते हैं।[2] क्या आप बता सकती हैं कि यह स्वायत्तता किस तरह काम करती है? क्या यह सार्वजनिक शिक्षा को नुक़सान पहुँचाती है और जैसा कि चार्टर स्कूलों के आलोचक आरोप लगाते हैं कि यह सार्वजनिक शिक्षा पर ख़र्च होने वाले 'बोझ' को ख़त्म करने के लिए रास्ता तैयार करती है?

हीथर : ये आरोप छोटे शहर के मेरे अपने चार्टर स्कूल के ख़िलाफ़ भी लगाए गए हैं और जैसा कि मैं देख रही हूँ, ये काफ़ी हद तक सही भी हैं। क्योंकि हम मुफ़्त भोजन और परिवहन के लिए संघीय कार्यक्रम का इस्तेमाल नहीं करते, ऐसा कर हम उन विद्यार्थियों को अवरुद्ध कर रहे हैं जिन्हें कहीं ज़्यादा संस्थागत सहारे और प्रोत्साहन की ज़रूरत है। जैसा कि आप जानते ही हैं, मानकीकृत परीक्षाओं में बहुत अच्छे अंक लाना सीधे-सीधे परिवार या परिवेश की आर्थिक सुरक्षा और स्थायित्व से जुड़ा है इसलिए हमारे छात्र सरकारी स्कूलों में रह गए ग़रीब छात्रों के मुक़ाबले ज़्यादा बेहतर प्रदर्शन कर पाते हैं। चूँकि हमारे स्कूल को प्रति विद्यार्थी संघीय वित्तीय सहायता और उसके अलावा राजकीय वित्तीय सहायता मिलती है, इसलिए आर्थिक रूप से हम स्थानीय सरकारी स्कूलों के साथ प्रतिस्पर्धा में जुटे हैं। साठ हज़ार की आबादी वाले हमारे छोटे-से शहर में एक दर्ज़न से ज़्यादा चार्टर स्कूल हैं। अगर ये विद्यार्थी केवल सरकारी स्कूलों में जा रहे होते तो वह वित्तीय सहायता सकारात्मक रूप से उन स्कूलों के हिस्से में जाती।

जैसा कि आप जानते ही हैं, मानकीकृत परीक्षाओं में बहुत अच्छे अंक लाना सीधे-सीधे परिवार या परिवेश की आर्थिक सुरक्षा और स्थायित्व से जुड़ा है। इसलिए हमारे छात्र सरकारी स्कूलों में रह गए ग़रीब छात्रों के मुक़ाबले ज़्यादा बेहतर प्रदर्शन कर पाते हैं।

मनीष : भारत में पिछले एक दशक में 'नए नीति कर्मियों' (न्यू पॉलिसी एक्टर्स) ने वाउचर व्यवस्था की ज़ोर-शोर से वकालत की है। पिछले कुछ समय में जो नवीनतम बदलाव आपके देश अमरीका की

2. इन बहसों के लिए देखें वेल्स एवं अन्य (2002)।

शिक्षा नीति में हुए हैं वे क्या हैं और किस प्रकार वे आपके देश के स्कूलों को प्रभावित कर रहे हैं ?

हीथर : बेट्सी डेवोस, जो अमरीका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प की शिक्षा सलाहकार हैं, वाउचर[3] कार्यक्रम के विस्तार की पैरवी करती रही हैं। मेरे राज्य एरिज़ोना में रिपब्लिकन पार्टी ख़ास ज़रूरत वाले बच्चों के अभिभावकों को अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजने के लिए वाउचर की घुट्टी पिला रही है, जहाँ इन विद्यार्थियों के लिए सच में कोई सहायता उपलब्ध नहीं है।[4] इस स्थिति में अभिभावक समावेशी शिक्षा की तलाश में बच्चे को एक स्कूल से दूसरे स्कूल स्थानान्तरित करते रह जाते हैं। 'कोई बच्चा पीछे न छूटे' (No Child Left Behind, NCLB)[5] स्कूलों की प्रभावशीलता[6] को जाँचने के लिए मानकीकृत परीक्षा का आदेश देता है। मध्यम और उच्च-मध्यम वर्ग से आने वाले विद्यार्थी इस परीक्षा में बेहतर अंक अर्जित कर पाते हैं जबकि ग़रीब क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थी उतना नहीं। उन्हें आर्थिक और भावनात्मक सहारे और प्रोत्साहन की ज़रूरत होती है। स्कूलों के बेहतर प्रदर्शन में स्थानीय संस्कृति और अर्थव्यवस्था अपना योगदान निभाते हैं। अब लुइसिआना के न्यू ओरलींस शहर में, जिसकी जनसंख्या चार लाख (400,000) से ज़रा कम है, एक भी सरकारी स्कूल नहीं है– हैं तो केवल चार्टर और निजी स्कूल।[7] सरकारी स्कूल लगातार चार्टर स्कूलों को सौंपे जा रहे हैं। यह दलील दी जा रही है कि सरकारी स्कूल असफल हो रहे हैं, हम इनमें सुधार नहीं कर सकते और चार्टर स्कूल अच्छा प्रदर्शन कर रहे हैं, तो सरकारी स्कूलों की

---

3. वाउचर कार्यक्रम के अन्तर्गत राज्य सरकारें परिवारों को वाउचर का प्रस्ताव देती हैं। ये वाउचर कूपन की तरह होते हैं जो यह दिखाते हैं कि सरकार का कितना पैसा छात्र पर ख़र्च हुआ होता, अगर उसने सरकारी स्कूल में पढ़ाई की होती। वाउचर को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है कि यह परिवारों को अपने बच्चों के लिए अपनी मनपसन्द का स्कूल चुनने की आज़ादी देता है और परिवार अपनी आर्थिक मजबूरी के कारण अपने बच्चों को किन्हीं अन्य स्कूलों में भेजने की बजाय सरकारी स्कूलों में भेजने को बाध्य नहीं हैं। परिवार इन वाउचरों का इस्तेमाल निजी स्कूलों के लिए भी कर सकते हैं या फिर अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेज सकते हैं। चर्च और राज्य के बीच विच्छेद के संवैधानिक अध्यादेश के बावजूद अमरीका के 14 राज्यों में छात्र इन वाउचरों का इस्तेमाल धार्मिक स्कूलों में कर सकते हैं। यह तर्क दिया जाता है कि वाउचर विभिन्न प्रकार के स्कूलों के बीच अपने यहाँ छात्रों को दाख़िले के लिए आकर्षित करने के लिए प्रतियोगिता को बढ़ावा देता है और इस तरह उनकी कार्यकुशलता को बढ़ाता है। भारत में कुछ ख़ास नीति वकालत समूह जैसे कि सेण्टर फ़ॉर सिविल सोसाइटी वाउचर प्रणाली को शुरू किए जाने की पैरवी कर रहे हैं।

4. https://www.nytimes.com/2017/04/11/us/school-vouchers-disability.html

5. जनवरी 2002 में उस वक़्त के अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज डब्लू बुश ने अमरीकी संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने के बाद 'कोई बच्चा पीछे न छूटे अधिनियम' पर हस्ताक्षर किए। इस अधिनियम के अन्तर्गत, अब स्कूलों को केवल पहले वाले प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा क़ानून के 'अनुपालन' को दर्शाना पर्याप्त नहीं था। अब उन्हें अलग-अलग उपसमूहों के असमग्र आँकड़ों (disaggregated data) के साथ बड़े पैमाने पर की जाने वाली मानकीकृत परीक्षा के परिणामों के ज़रिए अपनी जवाबदेही साबित करनी थी। इसने स्कूल के सभी पहलुओं को प्रभावित किया— क्या पढ़ाया जाएगा, शिक्षकों का चयन व नियुक्ति कैसे होगी और पैसे का आवण्टन किस प्रकार होगा ? शोधकर्ताओं ने उपलब्धियों पर इसके असर, ग़ैर-परीक्षित विषयों पर लगाए गए अध्यापन समय, अध्यापकों की प्रेरणा और तनाव और इसके नस्लवादी आधारों की चर्चा की है। इन चर्चाओं के लिए देखें— हर्श (2007), स्मिथ और कोवाक्स (2011), वैल्स एवं अन्य (2002) और वुन (2014)।

6. स्कूल प्रभावशीलता आन्दोलन ज्ञान अर्जन में स्कूलों के प्रभाव का आँकड़ों की दृष्टि से मूल्यांकन करता है और इन आधारों पर स्कूलों के बीच तुलना करता है। आलोचक इस ओर इशारा करते हैं कि यह तरीक़ा स्कूल में सीखने को बहुत हद तक केवल शैक्षिक ज्ञान के आकलन और तुलनायोग्य हिज्जों तक घटा देता है (स्ले एवं अन्य, 1998:2)। यह नस्ली विषमता और स्कूल में ख़राब प्रदर्शन के बीच के रिश्ते और ज़्यादा बड़े राजनीतिक और नीति सन्दर्भ, जो ग़रीबी पैदा करते हैं, की ओर कोई ध्यान नहीं देता है (रिग्ले, 2013:37)।

7. https://www.theadvocate.com/new_orleans/news/education/article_9e7c55fc-0471-11e9-8c4c-e3f94b3162f1.html

बागडोर उन्हें ही सँभालने दो ।[8] वहाँ कोई मध्यम वर्ग नहीं है जो इस हस्तान्तरण का विरोध कर सके क्योंकि इस वर्ग से आने वाले विद्यार्थी तो पहले ही निजी स्कूलों में पढ़ाई कर रहे हैं। ज़ाहिर तौर पर ग़रीब अभिभावकों का स्कूल बोर्ड में बहुत कम प्रतिनिधित्व है। लुइसिआना की तुलना में वॉशिंगटन राज्य में कोई चार्टर स्कूल नहीं है। यहाँ एक बेहद मज़बूत शिक्षक संघ है और शिक्षकों को अच्छा वेतन मिलता है। वॉशिंगटन राज्य माइक्रोसॉफ्ट और अमेज़ॉन का गढ़ है।[9] लेकिन यहाँ निजी स्कूल भी हैं। इन तकनीकी कम्पनियों के साथ काम करने वाले लोगों ने राजकीय स्कूलों में पढ़ाई की और सार्वजनिक शिक्षा से लाभान्वित हुए। उनके पास सार्वजनिक शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए करों द्वारा एकत्रित राशि है।[10] वॉशिंगटन राज्य में जीवनयापन की लागत राष्ट्रीय अनुपात से 4.8% अधिक है : शिक्षकों की औसत आय $ 64,987 और प्रति विद्यार्थी सालाना व्यय $ 10,339 है। एरिज़ोना में, जहाँ मैं रहती हूँ, जीवनयापन की लागत राष्ट्रीय औसत से 3.8% कम है। शिक्षकों की औसत आय $ 44,284 और प्रति विद्यार्थी सालाना व्यय $ 8,131 है। रोचक बात यह है कि एरिज़ोना जीवनयापन व्यय की दृष्टि से देश में 25 वें स्थान पर आता है लेकिन शिक्षा में निवेश की दृष्टि से वह 48वें स्थान पर है।

सरकारी स्कूल लगातार चार्टर स्कूलों को सौंपे जा रहे हैं। यह दलील दी जा रही है कि सरकारी स्कूल असफल हो रहे हैं, हम इनमें सुधार नहीं कर सकते और चार्टर स्कूल अच्छा प्रदर्शन कर रहे हैं, तो सरकारी स्कूलों की बागडोर उन्हें ही सँभालने दो । वहाँ कोई मध्यम वर्ग नहीं है जो इस हस्तान्तरण का विरोध कर सके।

मनीष : सरकार की नीतियों से आपका स्कूल किस प्रकार प्रभावित होता है ?

हीथर : मेरे अपने चार्टर स्कूल कॉर्पोरेशन के 27 स्कूल हैं जो मध्यम वर्ग और शहरी अमीरों पर लक्षित हैं। इनमें से 15 स्कूल एरिज़ोना, लुइसिआना, टैक्सस और वॉशिंगटन डीसी में हैं और एक निजी स्कूल शाखा कैलिफ़ोर्निया में शुरू की गई है। मेरा अपना चार्टर स्कूल कॉर्पोरेशन प्राप्त की गई कुल फण्डिंग का 14% 'प्रबन्धन फ़ीस' के तौर पर ले लेता है। जब मैं एरिज़ोना के अन्य शिक्षकों से, दूसरे राज्यों के शिक्षकों से और अपने दोस्तों से, जिनके साथ मैं कॉलेज में पढ़ी हूँ, अपनी तुलना करती हूँ तो पाती हूँ कि मेरे वेतन के कम होने का यह एक कारण है।

मनीष : कुछ समय पहले आपने वॉशिंगटन में शक्तिशाली शिक्षक संघ की मौजूदगी का ज़िक्र किया था कि कैसे वह वहाँ चार्टर स्कूलों की अनुपस्थिति को प्रभावित करता है। अमरीका के विभिन्न राज्यों में शिक्षक सरकार

---

8. चार्टर समर्थक समूहों की बहस के लिए देखें— https://www.newschoolsforneworleans.org/education-in-nola/by-the-numbers/

9. माइक्रोसॉफ्ट वॉशिंगटन में लगभग 50,000 लोगों को रोज़गार देता है।

https://www.builtinseattle.com/2018/11/12/microsoft-redmond-campus-headquarters;

अमेज़ॉन केवल सीएटल में ही वर्तमान में 45,000 लोगों को रोज़गार दे रहा है।

https://komonews.com/news/local/amazon-moving-entire-worldwide-operations-team-from-bellevue-to-seattle

10. इस सूची में वॉशिंगटन 16वें स्थान पर है। 15 राज्य वॉशिंगटन से भी ज़्यादा कर इकट्ठा करते हैं जबकि वाशिंगटन सूचना प्रौद्योगिकी का केन्द्र है।

की शिक्षा नीति और नए नीतिगत बदलावों को कैसे देखते हैं?

हीथर : पाँच-छह ग़रीब राज्यों जैसे कि पश्चिमी वर्जीनिया, उत्तर कैरोलाइना और एरिज़ोना में शिक्षक 'रेड फ़ॉर एड' बैनर तले संगठित हुए। उन्होंने हड़ताल कर शिक्षा के लिए ज़्यादा बजट निर्धारित करने की माँग उठाई ताकि विद्यार्थियों को सहायता सेवाएँ देने के लिए लचीले कोष में अधिक पैसा उपलब्ध हो और वेतन में 10% बढ़ोतरी हो। मेरे राज्य एरिज़ोना ने शिक्षा के लिए पैसा देने का वायदा तो किया, पर करों को बढ़ाने से इन्कार कर दिया। और फिर उन्होंने ग़रीब बच्चों के लिए बने शिशु-विद्यालयों (preschools) का पैसा काट लिया। सेवानिवृत्त सैनिकों के गृह निर्माण, स्वास्थ्य और मानसिक देखभाल के कार्यक्रमों से भी पैसा काटा गया है। सरकार एक समूह को दूसरे के ख़िलाफ़ भिड़ा रही है और लोगों को अपराधी महसूस करा रही है।

मेरे राज्य एरिज़ोना ने शिक्षा के लिए पैसा देने का वायदा तो किया, पर करों को बढ़ाने से इनकार कर दिया। और फिर उन्होंने ग़रीब बच्चों के लिए बने शिशु–विद्यालयों (preschools) का पैसा काट लिया। सेवानिवृत्त सैनिकों के गृह निर्माण, स्वास्थ्य और मानसिक देखभाल के कार्यक्रमों से भी पैसा काटा गया है।

मनीष : इन बजट कटौतियों के क्या कारण हैं? और इन बजट कटौतियों का स्कूलों पर क्या असर आया है?

हीथर : बजट में कटौती साल 2008 की आर्थिक मन्दी का नतीजा है और यह अब भी 2008 के फण्डिंग स्तर से नीचे है। आर्थिक मन्दी के सबसे सघन चरण की तुलना में सरकार अब के समय में कम्पनियों से कम करों की उगाही कर रही है। राज्य बड़ी कम्पनियों को कैसे आकर्षित करते हैं? वे ऐसा निम्न करों के द्वारा करते हैं। आप कैसे लोगों को ग़रीब राज्यों की ओर स्थानान्तरण के लिए राज़ी करेंगे, जहाँ कोई स्कूल नहीं हैं, कोई सांस्कृतिक अवसर नहीं हैं, और जहाँ नस्ली हिंसा का इतिहास रहा हो?

मनीष : बजट में यह कटौतियाँ किस तरह शिक्षकों और उनके अध्यापन को प्रभावित करती हैं?

हीथर : अगर आप अध्यापकों को ज़्यादा वेतन दें तो आप उनसे कर भी ज़्यादा इकट्ठा करेंगे। ज़्यादा वेतन के साथ वे उन समुदायों में रह सकेंगे जहाँ वे पढ़ाते हैं, घर और कार ख़रीद सकेंगे, एक मध्यमवर्गीय जीवनशैली अपना पाएँगे और करों का भुगतान करेंगे जो मध्यमवर्गीय जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। सरकार मध्यम वर्ग का फिर से विकास करेगी, इसका सरकार वायदा तो करती है पर अब तक उसने ऐसा किया नहीं है। निम्न वेतन की वजह से शिक्षक अपना परिवार बढ़ाने में देरी करते हैं क्योंकि उनके पास पैसा और आर्थिक सुरक्षा नहीं है। लोग कहते हैं, 'शिक्षण एक आह्वान / बुलावा / नियति (calling) है', इसलिए बहुत-से शिक्षक निम्न वेतन के साथ समझौता कर लेते हैं। इस दलील का अर्थ यह निकलता है कि हम आपको कम पैसा दे सकते हैं क्योंकि आप कुछ और करना ही नहीं चाहते। या फिर, आप अगर इतने कम पैसों में काम करने को तैयार नहीं हैं तो ज़ाहिर तौर पर आप शिक्षक होने के लिए 'नियत / उपयुक्त' नहीं हैं।

मनीष : भारत में बहुत–से लोग यह दलील देते हैं कि अध्यापन एक सरल काम है। यह केवल बच्चों के प्रबन्धन तक ही सीमित है। जेण्डर और शिक्षा के मेरे कोर्स में हम शिक्षण पेशे की लैंगिक संरचना में आए ऐतिहासिक बदलावों के बारे में अध्ययन करते

हैं, जिसे अध्यापन का महिलाकरण कहा जाता है।[11] अमरीका में इस समझ और इन बदलावों के बारे में आपका क्या कहना है ?

हीथर : अध्यापन में तमाम तरह के कौशल की दरकार होती है। किसी कक्षा के ज़्यादातर समय अच्छे से काम करने के लिए अध्यापक को बेतहाशा ऊर्जा, कौशल और अनुभव की ज़रूरत होती है। यूटाह काफ़ी हद तक एक अनुदारपंथी / रूढ़िवादी राज्य है जहाँ अध्यापकों की बहुतायत है। अध्यापन को महिलाओं के लिए उपयुक्त पेशे की तरह देखा जाता है और यह माना जाता है कि उन्हें उनके अपने बच्चे हो जाने तक पढ़ाना चाहिए। औरतों पर 4–5 बच्चे पैदा कर एक बड़ा परिवार बनाने का दबाव रहता है। आमतौर पर ज़्यादा शिक्षक महिलाएँ हैं। यूटाह में प्रारम्भिक वेतन कम ही रहता है, क्योंकि नए शिक्षकों की बहुतायत है। लेकिन वेतन में वृद्धि ज़्यादा पुरुषों को शिक्षण कार्य की ओर ले आएगी। अमरीका में बहुत–से लोग यह शिकायत करते हैं कि शिक्षक कुछ ज़्यादा ही उदारवादी हैं। हाल ही में अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प के बेटे ने शिक्षकों को 'हारे हुए' (losers) कहा, और यह दलील दी कि शिक्षक आमतौर पर समाजवादी[12] होते हैं। अनुदारपन्थी / रूढ़िवादी पुरुष अध्यापन के पेशे में नहीं जाते क्योंकि अध्यापन से मिली एक तनख़्वाह में वे अपने परिवार का गुज़ारा नहीं कर सकते। अनुदारपंथी / रूढ़िवादी महिलाएँ आमतौर पर पहला बच्चा हो जाने तक पढ़ाती हैं। अगर आप चाहते हैं कि और ज़्यादा अनुदारपंथी अध्यापन के पेशे में आएँ तो आपको अनुदारपंथी पुरुषों को आकर्षित करने के लिए वेतन तो बढ़ाना पड़ेगा।

मनीष : हमने पढ़ा था कि अमरीका के शिक्षकों को पाठ्यचर्या और मूल्यांकन के सन्दर्भ में बहुत–सी स्वायत्तताएँ हैं। वर्तमान सन्दर्भ में यह किस प्रकार पुनर्गठित किया जा रहा है ?

हीथर : जॉर्ज डब्लू बुश के शासन काल में 'कोई बच्चा पीछे न छूटे' (NCLB) लागू किया गया और राष्ट्रपति बराक ओबामा के शासन काल में सबके लिए समान आधारभूत / अनिवार्य (core) और मानकीकृत परीक्षण लागू किया गया। उन्होंने शिक्षकों की स्वायत्तता को ख़त्म कर दिया है। अब एक नव–उदारवादी बदलाव आया है जिसमें पाठ्यक्रम अच्छे विद्यार्थी और अच्छे नागरिक बनाने के बारे में होने की बजाय नौकरी पाने के लिए तैयारी, गणित और अँग्रेज़ी, और कुछ मामलों में विज्ञान पर केन्द्रित है।

---

11. अध्यापन पेशे के 'महिलाकरण' से अभिप्राय अध्यापन के पेशे की संरचना में आए उन बदलावों से है जिनके चलते महिलाएँ अध्यापन पेशे का सर्वाधिक बड़ा हिस्सा बन गई हैं। 'महिलाकरण' के साथ जुड़े विभिन्न पहलुओं में अध्यापन पेशे में संलग्न महिलाओं और पुरुषों का प्रतिशत, इस प्रतिशत वितरण के प्रभाव, महिलाओं के इस पेशे में पहुँचने की दर इत्यादि को देखना शामिल है (केलहर 2011:1)। कोनरीना और रोमन (2006) और एप्पल (2011) यह तर्क देते हैं कि पेशे के तौर पर अध्यापन को हमें ऐतिहासिक रूप से देखने की ज़रूरत है। ख़ासकर उन राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षिक कारकों को ध्यान से देखे जाने की ज़रूरत है जिनके तहत बड़ी संख्या में महिलाएँ अध्यापन कार्य से जुड़ीं और पुरुषों ने अध्यापन को छोड़ा। पितृसत्तात्मक सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण बदलावों और विचारधारात्मक परिवर्तनों के साथ, अध्यापन को महिलाओं के काम और घरेलू जीवन में उनके पालन-पोषण और देखभाल के 'प्राकृतिक' कामों के विस्तार के तौर पर देखा जाने लगा। एप्पल (2011) इस बात पर ज़ोर देते हैं कि इन आर्थिक और विचारधारात्मक बदलावों के साथ अध्यापन अब पहले जैसा पेशा नहीं रहा। वे अवकौशलीकरण (deskilling), ज़्यादा कड़े नियन्त्रण, पेशे में प्रबन्धकीय भूमिकाओं तक पहुँचने की सम्भावनाओं में कमी और वेतन के घटने को इन परिवर्तनों के साथ जोड़ते हैं। जबकि पहले महिलाओं और अध्यापन के 'महिलाकरण' पर चर्चा अमरीका, कनाडा, इंग्लैण्ड, न्यूज़ीलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया पर केन्द्रित थी, हाल के वर्षों में दक्षिण अमरीका, दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका इस बहस के दायरे में आए हैं। इन क्षेत्रों की तुलना में भारत में महिला अध्यापिकाओं की कमी रही है। हालाँकि, यह तस्वीर अलग-अलग राज्यों, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों, निजी एवं सरकारी विद्यालयों और प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तरों पर एक-सी नहीं है। भारत पर अध्ययनों के लिए देखें— केलहर (2011) और कथूरिया (2016)।

12. https://www.washingtonpost.com/education/2019/02/16/why-donald-trump-jr-loser-teachers-comment-was -a-hilling-moment-educators-around-world/?utm_term=.65887e69207

बहुत-से लोगों ने बच्चों के विकास में भागीदारी निभाने की दृष्टि से अध्यापन कार्य को चुना, जिसे अब ख़त्म किया जा रहा है। अध्यापकों से यह माँग की जा रही है कि वे अपनी नौकरी बरक़रार रखने के लिए बच्चों का परीक्षा में अच्छे अंक लाना सुनिश्चित करें। इस स्थिति ने भ्रष्टाचार काण्ड को भी जन्म दिया है। सन् 2000 के आरम्भ में एटलांटा (जॉर्जिया) में अध्यापक छात्रों के अंक बढ़ाने के लिए ख़ुद ही उत्तर पुस्तिकाएँ भर रहे थे। यह नस्लवादी भी था क्योंकि एटलांटा (जॉर्जिया) में अधिकांश शिक्षक और विद्यार्थी अश्वेत हैं। यह विमर्श, अश्वेत लोग बेईमान होते हैं, के विमर्श में तब्दील हो गया। ऐसा कहा जाने लगा कि वे अपनी योग्यता के दम पर ख़ुद को नहीं बना सकते, इसलिए बेईमानी करते हैं। इस तरह यह योग्यता पर नस्लवादी विमर्श था।

मनीष : भारत में बहुत-से लोग यह तर्क देते हैं कि अगर अध्यापक मेहनत और लगन से पढ़ा रहे हैं तो उन्हें अपने शिष्यों के अध्ययन परिणामों की जाँच से डरने की ज़रूरत नहीं है।

हीथर : अध्यापक मूल्यांकन या आकलन किए जाने से नहीं डरते हैं, पर वे इसे उस रूप में चाहते हैं जिससे विद्यार्थियों का सीखना और उनका अध्यापन बेहतर हो सके। लेकिन मानकीकृत मूल्यांकन केवल एक ही तरह के खाँचे को देखता है और उसी का महत्त्व है। यह श्रेणी पर मूल्यांकन नहीं करता है या आकलन की प्रक्रिया पर कि आप कैसे आकलन करते हैं या फ़ीडबैक देते हैं। इन मानकीकृत परीक्षाओं को बिल्कुल भी अन्दाज़ा नहीं होता कि विद्यार्थी किन परिस्थितियों से आते हैं और उन्होंने स्वयं में कैसे सुधार किया है। अध्यापकों के पास कोई ज़रिया भी नहीं होता यह बताने के लिए कि छात्रों का कैसे और क्या आकलन किया जाए। उन्हें केवल आकलन के मानदण्ड दे दिए जाते हैं। केवल परीक्षा के लिए अध्यापन शैक्षिक और बौद्धिक रूप से परिपूर्णता देने वाला पेशा नहीं रह जाता जैसा मैंने इसकी कल्पना की थी।

सन्दर्भ

Apple, M (2011). *Teaching and "Women's work": A comparative and historical analysis.* In Richard Arum, Irennee R Beattie and Karly Ford (Eds), *The structure of schooling: Readings in the sociology of education* (pp. 371-381). Newbury Park, CA: Pine Forge Press.

Cortina, R & Román, S S (2006). *Women and teaching: Global perspectives on the feminization of a profession.* New York: Palgrave Macmillan.

Hursh, D (2007). *Assessing no child left behind and the rise of neoliberal education policies.* American Educational Research Journal, 44(3), 493-518.

Kathuria, Arushi (2016). *Who is a Teacher: An Insight into their Changing Social Profile.* MA in Education Thesis. Delhi: School of Education Studies, Ambedkar University Delhi.

Kelleher, F (2011). *Women and the teaching profession: Exploring the feminisation debate.* London: Commonwealth Secretariat and UNESCO.

National Institute of Educational Planning and Administration (NIEPA) (2018). *School Education in India: U-DISE Flash Statistics 2016-17*. New Delhi: National Institute of Educational Planning and Administration.

Slee, R, Weiner, G, & Tomlinson, S (1998) (Eds). *School effectiveness for whom?: Challenges to the school effectiveness and school improvement movements.* London: Falmer Press.

Smith, J M & Kovacs, P E (2011). *The impact of standards based reform on teachers: The case of 'No child left behind'.* Teachers and Teaching: Theory and Practice, 17(2), 201-225.

Wells, A S, Slayton, J, & Scott, J (2002). *Defining democracy in the neoliberal age: Charter school reform and educational consumption*. American Educational Research Journal, 39(2), 337-361.

Wrigley, T (2013). *Rethinking School Effectiveness and improvement: a question of paradigms. Discourse: Studies in the Cultural Politics of Education, 34(1), 31-47.*

Wun, C (2014). *The anti-Black order of no child left behind: Using Lacanian psychoanalysis and Critical race theory to examine NCLB.* Educational Philosophy and Theory, 46(5), 462-474.

डॉ. मनीष जैन एक दशक तक विद्यालय स्तर पर पढ़ाने के बाद अब अम्बेडकर विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ़ एजुकेशन स्टडीज़ से जुड़े हैं। उनका अध्यापन और शोध शिक्षा के इतिहास, समाजशास्त्र और राजनीति के चौराहे पर केन्द्रित है।
सम्पर्क : manish@aud.ac.in

इस साक्षात्कार का सह–लेखन रूमा दत्त ने किया है। वे दिल्ली विश्वविद्यालय में जर्मन पढ़ाती हैं। फ़िलहाल 'आप्रवासी स्वः 1990 उत्तरोत्तर हिन्दी और तुर्की-जर्मन सिनेमा का तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर पीएचडी शोध-प्रबंध लिख रही हैं।

नेक सफ़र मुश्किल डगर

शिक्षक तबीबुल्ला खान से बेदांगो कोटोकी व प्रियांकू हजारिका की बातचीत

काबिलाबाद हाई स्कूल असम प्रदेश के शोणितपुर जिले के नपाम इलाके में आने वाला एक सरकारी विद्यालय है। तेजपुर विश्वविद्यालय के करीब ही यह विद्यालय एक ऐसी जगह पर बसा हुआ है जिसे एक ओर बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदा तो दूसरी तरफ शैक्षणिक पिछड़ेपन का सामना करना पड़ता है।

यह स्कूल मुस्लिम बहुल इलाक़े में है, लेकिन यहाँ असमिया, बंगाली, नेपाली व मिसिंग भाषी समुदाय भी रहते हैं। क्योंकि इस अंचल के ज़्यादातर लोग अशिक्षित थे इसलिए धार्मिक हठधर्मिताओं का प्रभाव यहाँ पर ज़्यादा था। मुस्लिम बहुल इलाक़े में होने के कारण यहाँ सरकारी शिक्षा से अधिक इस्लामिक शिक्षा को प्राथमिकता दी जाती थी। इन्हीं समस्याओं से संघर्ष करते हुए इसी अंचल के एक कर्मठ शिक्षक तबीबुल्ला खान ने वर्ष 1991 में इस स्कूल की शुरुआत की थी। 20–25 बच्चों को लेकर बिना किसी सरकारी सुविधा के केवल सामाजिक अनुदान पर शुरू हुआ यह स्कूल तमाम दिक़्क़तों के बावजूद आज सरकारी स्कूल का दर्जा पा चुका है और तक़रीबन 900 बच्चों के शिक्षण से जुड़ा हुआ है। ग़ौरतलब है कि असम में जो स्कूल केवल सामाजिक अनुदान पर कार्यशील होते हैं, उन स्कूलों को Venture स्कूल का दर्जा दिया जाता है। सरकारी सुविधा पाने के लिए यानी कि Provincialise स्कूलों के श्रेणी में आने के लिए इन स्कूलों को कई सारे मापदण्डों पर खरा उतरना पड़ता है।

काबिलाबाद स्कूल को इस मुकाम तक पहुँचाने में खान साहब की प्रधान भूमिका रही है। स्कूल के ज़रिए आसपास के समाज में फैले पिछड़ेपन को दूर करने में भी उन्हें काफ़ी कामयाबी मिली है। इस साक्षात्कार में जो बच्चे अपने परिवारों से पहली दफा स्कूल गए हैं उनको शिक्षा के प्रति आकर्षित करने से लेकर शिक्षा से जुड़ी तमाम दिक़्क़तों के बारे में खान साहब से बात करने की कोशिश की गई है और उनका दृष्टिकोण जानने का प्रयास किया गया है। साक्षात्कार के ज़रिए एक स्कूल के Venture से सरकारी बनने की यात्रा जानने की कोशिश की गई है। सिल्वर जुबली मना रहे इस विद्यालय के सन्दर्भ बिन्दु रहे खान सर से शिक्षक के समाज, शिक्षा और छात्र-अभिभावक के सम्पर्क से जुड़े तमाम बिन्दुओं पर उनका नज़रिया जानने का प्रयास किया गया है।

सवाल : अपने विद्यार्थी जीवन के अनुभव के बारे में कुछ बताइए।

तबीबुल्ला खान : मेरा विद्यार्थी जीवन शुरू हुआ। कालीघाट Lower Primary (LP) स्कूल से जहाँ मैंने क, ख, 1, 2, व 3 कक्षाओं की पढ़ाई की। यह स्कूल मेरे घर के काफ़ी क़रीब था। उसके बाद मेरा दाख़िला पाँच-माइल हाई स्कूल में करवाया गया। जहाँ पर मैंने कक्षा नौ तक की पढ़ाई की। उस समय हमारे क्षेत्र में वही एक स्कूल था। हर एक कक्षा में केवल 27–28 विद्यार्थी थे। यदि मुस्लिम छात्रों की बात करें तो कक्षा 4 में केवल 2 ही मुस्लिम छात्र थे,

वहीं कक्षा पाँचवी व आठवीं में केवल एक-एक मुस्लिम छात्र यानी कि पूरे स्कूल में केवल 4 मुस्लिम छात्र थे जिनमें से एक मैं था। आसपास की जगहों के लोग काफ़ी ग़रीब थे और पैदल ही स्कूल आते-जाते थे। स्कूल में दो रुपए महीना फ़ीस देनी पड़ती थी। जिस घर के दो बच्चे स्कूल में पढ़ते थे उनकी फ़ीस आधी हो जाती थी। लेकिन दो रुपए हर महीने देने में सभी लोगों को काफ़ी दिक़्क़त आती थी। कक्षा 10 में मेरा दाख़िला तेजपुर में लड़कों के लिए चलने वाले सरकारी स्कूल में हो गया। वहीं से मैंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। जिसके बाद दारंग कॉलेज, तेजपुर से हिस्ट्री में ऑनर्स किया। बाद में उच्च शिक्षा के लिए गया, लेकिन आर्थिक दिक़्क़तों के चलते वह पढ़ाई बीच में ही छोड़नी पड़ी।

सवाल : आप शिक्षक कैसे बने? क्या आप हमेशा से ही शिक्षक बनना चाहते थे?

तबीबुल्ला खान : अपने कॉलेज के दिनों में मैं पास के ही प्राथमिक स्कूल में कभी-कभी पढ़ाने चला जाता था। जिन घरों के बच्चे स्कूल में आने से कतराते थे उनके घर जाकर उन्हें स्कूल में आने के लिए प्रोत्साहित करता था। मुझे समझ आया कि जिन बच्चों के बारे में दूसरे लोगों का ख़याल था कि उनकी मैरिट अच्छी नहीं है, उनके प्रति भी ख़ास ध्यान देने से वे अच्छा कर सकते थे। तभी से मैं पढ़ाने से जुड़ा हुआ हूँ। कॉलेज में पढ़ते समय जिन छात्रों को मैंने पढ़ाया था, आज वे सभी अलग-अलग पदों पर कार्यरत हैं और उनके बच्चे भी मेरे छात्र हैं।

सवाल : आपने स्कूल क्यों खोला? स्कूल खोलते वक़्त आपने किन दिक़्क़तों का सामना किया? उस समय के छात्रों की आर्थिक पृष्ठभूमि कैसी थी?

तबीबुल्ला खान : उन दिनों मैं नक्सलबाड़ी आन्दोलन से प्रभावित था और जगह-जगह घूमा करता था। वहीं दूसरी तरफ़ असम आन्दोलन भी ज़ोरों पर था। बाद में मुझे एहसास हुआ कि जगह-जगह घूमकर इंकलाब ज़िन्दाबाद का नारा लगाने से शायद बेहतर हो कि कहीं एक जगह टिककर कुछ ज़मीनी काम किया जाए। उन दिनों मेरे घर के आसपास के इलाक़ों में कोई भी Middle English (ME) या हाई स्कूल नहीं था। प्राथमिक कक्षाओं के बाद की कक्षाओं के लिए एक अच्छा स्कूल खोलने की दरकार थी। सरकारी नौकरी के प्रति मेरा आग्रह नहीं था। गाँव में मेरे परिवार की दी गई ज़मीन पर एक लोअर प्राइमरी स्कूल चल रहा था। उसी स्कूल की ख़ाली पड़ी ज़मीन पर मैंने इस स्कूल की शुरुआत की।

अगर मैं स्कूल की प्रतिष्ठा के समय होने वाली परेशानियों के बारे में बात करूँ तो जब मैंने अपना स्कूल शुरू किया, तब पढ़ाने से लेकर, स्कूल प्रबन्धन, शिक्षकों की भर्ती– ऐसे सभी काम मैं अकेले ही कर रहा था। जब अन्य शिक्षक भी स्कूल से जुड़े तो लगभग शुरुआती 8 सालों तक, मैं न तो अपने-आपको और न ही बाक़ी शिक्षकों को कोई भी वेतन दे पाया था। हम जिन बच्चों के साथ काम कर रहे थे, उन बच्चों के माँ-बाप दिहाड़ी कामगार होने के चलते सरकारी स्कूल में होने वाले थोड़े से ख़र्चे तक को वहन करने में सक्षम नहीं थे, तो उनसे फ़ीस मिलने की बात नामुमकिन-सी थी। साथ ही स्कूल में बच्चों का दाख़िला करवाने के लिए भी घर-घर जाकर समझाना पड़ता था। ऐसे कई परिवार थे जिनमें कभी किसी ने स्कूल ही नहीं देखा था और कई परिवारों के बच्चे एक ही कक्षा में कई दफ़े फ़ेल होकर घर पर बैठ गए थे। हम चाहते थे कि उन बच्चों को एक और मौक़ा मिले, लेकिन उनको स्कूल में लाने में बहुत दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा। कई बच्चे जिनके घरों की आर्थिक स्थिति ख़राब थी वे अकसर ही खेतों या अन्य कामों में अपने माँ-बाप का हाथ बँटाते थे। बच्चों के स्कूल में आने से उन घरों की कमाई पर असर पड़ता था। माँ-बाप को यह भी डर रहता था कि स्कूल की संस्कृति में ढलकर बच्चे अपने संस्कारों को नहीं मानेंगे। उदाहरण के तौर पर, यहाँ के मुस्लिम

समुदाय के पुरुषों में बैठकर पेशाब करने का रिवाज है। माँ-बाप हमसे कहते थे कि स्कूल में जाकर बच्चे ऐसा नहीं करेंगे, ग़लत बातें सीखेंगे। फिर उन्हें यह भी डर था कि बच्चे उनकी बात नहीं मानेंगे और उनका सम्मान नहीं करेंगे।

सवाल : आपके जवाब से एक प्रश्न उठता है कि अगर स्कूल प्रतिष्ठा के समय छात्रों से कोई भी फ़ीस नहीं ली जाती थी तो स्कूल से जुड़े ख़र्चों का प्रबन्ध कैसे होता था ?

तबीबुल्ला खान : 1997 से पहले मैं परिवार से मिले अपने जेब ख़र्च और आसपास के कुछ परिवारों से मिली आर्थिक मदद से स्कूल के ख़र्च निकाल रहा था। उन दिनों मैं और मेरे साथी शिक्षक सभी युवा थे। पैसों की इतनी फ़िक्र नहीं करते थे। बच्चों के साथ अच्छा लगता था तो स्कूल में और स्कूल ख़त्म होने के बाद उनके घरों में जाकर भी उनके साथ समय बिताया करते थे। पर धीरे-धीरे जब हम साथियों पर अपने-अपने परिवारों की ज़िम्मेदारी बढ़ी तो 1997 में स्कूल ख़र्च, जिसमें शिक्षकों के लिए भी कुछ थोड़े मेहनताने की गुंजाइश थी, को ध्यान में रखकर समुदाय की एक मीटिंग स्कूल में बुलवाई गई। उसमें यह तय हुआ कि हर बच्चे से महीने का तीन रुपए फ़ीस के तौर पर लिया जाएगा। इस थोड़ी-सी कोशिश के चलते यह सम्भव हो पाया कि हम शिक्षकों को सालाना एक-दो हज़ार रुपए दे पाए।

सवाल : अपने स्कूल के शुरुआती दिनों के बारे में कुछ बताइए। शुरुआत में कितने बच्चे आए ? उनको स्कूल में लाने के लिए आपने क्या-क्या किया ? बच्चों को स्कूल के प्रति आकर्षित करने के लिए आप क्या तरीक़े अपनाते थे ?

तबीबुल्ला खान : जैसा कि मैंने आपको बताया जिस जगह पर मैंने स्कूल शुरू किया वहाँ पहले से ही एक लोअर प्राइमरी स्कूल चल रहा था। मैंने उस स्कूल के एक कमरे और साथ की ख़ाली पड़ी ज़मीन पर मिडिल इंग्लिश स्कूल की शुरुआत की। स्कूल खोलने की प्रक्रिया में मैंने आसपास के लोगों को साथ में लाने की कोशिश की और इस प्रयास में 10-15 लोग जुड़े भी, जिनके साथ चर्चा करके मिडिल इंग्लिश स्कूल खोला गया। इस प्रयास में लोअर प्राइमरी स्कूल के एक शिक्षक ने ख़ास योगदान दिया और इस तरह 1991 में कक्षा 5 के साथ स्कूल शुरू हुआ, फिर 1992 में कक्षा 6 और फिर अगले वर्ष कक्षा सातवीं। आसपास के लोअर प्राइमरी स्कूलों के कमज़ोर कहे जाने वाले बच्चों के साथ पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला शुरू हुआ।

जब 1994 में बच्चों के कक्षा 8 में जाने का प्रश्न सामने आया, तब फिर से स्थानीय लोगों को बुलाकर हाई स्कूल शुरू करने के बारे में भी बात की गई। और तब उनकी रज़ामन्दी के साथ यह स्कूल शुरू हुआ। मेरे ही स्कूल के उन कमज़ोर कहे जाने वाले बच्चों में से दस बच्चों के साथ आठवीं कक्षा की शुरुआत हुई। उनमें से चार बच्चों ने 1997 में मैट्रिक बोर्ड की परीक्षा दी जिनमें से दो थर्ड डिवीजन में पास हुए।

पहले तो बच्चे काफ़ी कम थे। लेकिन 1994 में एक घटना के चलते लड़कियों की संख्या ज़्यादा होने लगी। स्कूल में एक लड़का किसी लड़की से बदतमीज़ी से बात करते हुए उसे गालियाँ दे रहा था। मैंने वे बातें सुन लीं। मैंने उस लड़के को सभी के सामने डाँट-फटकार भी लगाई और उसे ऐसा न करने की चेतावनी दी। हालाँकि उस लड़के के घर वाले मुझसे नाराज़ हो गए, लेकिन जब लोगों को समझ आया कि मैं अपने स्कूल में ऐसी बातों के लिए सख़्त हूँ, तो वे ज़्यादा संख्या में अपनी बच्चियों को स्कूल भेजने लगे। इसके अलावा, स्थानीय लोगों के साथ मिल कर मैंने स्कूल आने वाली बच्चियों को रास्ते में लड़कों द्वारा परेशान करने की घटनाओं पर भी रोक लगाने की कोशिश की।

दूसरी ओर हमारी कोशिश होती थी कि बच्चों को उनकी ज़रूरतों का सारा सामान मिले। जिन बच्चों को स्कूल ड्रेस की दरकार होती थी, उन्हें ड्रेस मुहैया करवाई जाती थी।

इसी तरह हमारी कोशिश होती थी कि पेंसिल, कॉपी, पुस्तक जैसी दूसरी चीज़ें भी ज़रूरतमन्द बच्चों को मिलें।

सवाल : आपने बताया कि ऐसे कई परिवार थे जिनके बच्चे पहली बार स्कूल आ रहे थे उन परिवारों के बच्चों को आप कैसे सिखाते थे ?

तबीबुल्ला खान : उन दिनों हमारे स्कूल में ज़्यादातर बच्चे मुस्लिम समुदाय के थे। मुस्लिम घरों से आने वाले बच्चों को अरबी भाषा की तालीम मिली होती थी, तो इसलिए ऐसे बच्चे स्कूल के अनुशासन से वाक़िफ़ थे, जिसके चलते हमें उनका अलग से ध्यान नहीं रखना पड़ता था। कक्षा के अनुशासन से वे वाक़िफ़ होते थे। जो बच्चे कक्षा में सीखने के बाद भी अच्छा नहीं कर पाते थे उन्हें एक्स्ट्रा क्लास दी जाती थी।

सवाल : आप अपने स्कूल की भौगोलिक स्थिति के बारे में कुछ बतलाइए ?

तबीबुल्ला खान : असम में बाढ़ एक समस्या है। हमारा स्कूल और उसके आसपास का इलाक़ा जिया भराली नदी के पास होने के चलते हर साल बाढ़ से प्रभावित होता है। इस दौरान कई परिवार विस्थापित होते हैं और उनके साथ हमारे स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे भी। कई बार ऐसा भी हुआ है कि बाढ़ का पानी हमारी कक्षाओं में घुस गया और हमें स्कूल उसी अवस्था में चलाना पड़ा।

सवाल : आपके स्कूल में किन समुदायों के बच्चे पढ़ते हैं ?

तबीबुल्ला खान : हमारे स्कूल में मुस्लिम, बोरो, आदीबासी और कलिता, डेका जैसे असमिया भाषी परिवारों के बच्चे पढ़ने आते हैं। पहले मिसिंग समुदाय के बच्चे भी काफ़ी दूर से आया करते थे, लेकिन फिर उनके घरों के पास स्कूल खुल जाने से अब वे वहीं पढ़ते हैं।

सवाल : इस अंचल में एक शिक्षक होने के नाते आप और कैसी समस्याओं से रूबरू होते हैं ?

तबीबुल्ला खान : मूल समस्या है– धार्मिक कट्टरता, जिसके चलते जितना विकास होना चाहिए था, नहीं हुआ। मुस्लिम समुदाय की लड़कियों को स्कूल न भेजकर बनात में भेज दिया जाता है, जहाँ उन्हें धार्मिक शिक्षा दी जाती है। यह बात भी है कि इस समुदाय में लड़कियों की शादी बहुत कम उम्र में ही कर दी जाती है। यहाँ तक कि लड़कियों की ख़ुद की इच्छा को भी दरकिनार कर दिया जाता है। ऐसी बहुत-सी लड़कियाँ हैं जिन्हें दसवीं कक्षा में प्रथम श्रेणी मिली थी और वे आगे पढ़ना चाहती थीं, लेकिन वे ऐसा कर नहीं पाईं।

सवाल : बनात क्या है ?

तबीबुल्ला खान : बनात शब्द अरबी के शब्द बैंतून से आया है, जिसका मतलब है बहन। बनात इस्लाम धर्म की युवतियों को धार्मिक शिक्षा देने की एक व्यवस्था है। कुछ अंचलों में बनात अलग से बनाते हैं, लेकिन हमारे यहाँ यह मदरसे के किसी एक कमरे में ही चलाया जाता है। बनात में पढ़ाने वाले पुरुष होते हैं जो सभी बच्चियों को एक साथ एक कक्षा में बैठाकर पढ़ाते हैं। बच्चियों को उस कक्षा से बाहर आने की अनुमति नहीं होती है।

सवाल : Provincialisation क्या है ? क्या यह सिर्फ़ असम में ही है ?

तबीबुल्ला खान : एक स्कूल के provincialised होने का मतलब हुआ कि स्कूल के शिक्षकों व अन्य स्टॉफ़ तथा अधोसंरचना (infrastructure) का ख़र्च सरकार वहन करेगी। लेकिन वर्तमान में सरकारी नियमों के चलते मात्र शिक्षकों का ही provincialisation हो रहा है। अधोसंरचना से जुड़े ख़र्चों की ज़िम्मेदारियों को सर्व शिक्षा अभियान (SSA) व राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (RMSA) जैसी स्वतंत्र संस्थाओं को दिया गया है। हमारे स्कूल का तो सिर्फ़ शिक्षक ही provincialised हुआ है। और ऐसी व्यवस्था बिहार में भी देखने को मिलती है। शिक्षकों के provincialisation का असर हमारे स्कूल पर यह

हुआ कि शिक्षक काफ़ी नियमित व अपने काम को लेकर उत्साहित महसूस करने लगे। ऐसा कहा जाता है कि provincialisation के बाद स्कूलों का स्तर गिर जाता है। लेकिन हमारे स्कूल का स्तर तो पहले से और भी अच्छा हो गया, जो हमारे स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों की संख्या व परीक्षाओं में आने वाले उनके नतीजों में साफ़ दिखता है।

सवाल : क्या आप अपने रोज़मर्रा के प्रशासनिक कामों के बीच कक्षाएँ पढ़ा पाते हैं? एक प्रशासक के नाते आप शिक्षण के कार्य को कैसे देखते हैं?

तबीबुल्ला खान : प्रधान शिक्षक होने के बावजूद मैं दिन की शुरुआती चार कक्षाएँ पढ़ाता हूँ। लेकिन स्कूल के दायित्वों के चलते पहले पीरियड के शुरुआती दस से पन्द्रह मिनट व्यवस्था बनाने में निकल जाते हैं, क्योंकि मुझपर पढ़ाने के साथ-साथ प्रशासन की भी ज़िम्मेदारी है तो प्रशासनिक काम स्कूल के बाद रात में करता हूँ। इसके अलावा, स्कूली व्यवस्था से जुड़े अन्य दफ़्तरों जैसे कि स्कूल इंस्पेक्टर का ऑफ़िस, कलेक्टर ऑफ़िस वग़ैरह से जुड़े काम स्कूल की छुट्टी के बाद ही हो पाते हैं। उन दफ़्तरों में भी मेरी यही छवि है कि मैं अपना पढ़ाने का काम ख़त्म करके ही वहाँ जाता हूँ। अगर कभी वहाँ पहले पहुँच जाऊँ तो उन लोगों को हैरानी होती है।

सवाल : आपकी नज़र में एक अच्छे शिक्षक में कैसी ख़ूबियाँ होनी चाहिए?

तबीबुल्ला खान : मेरी समझ में एक अच्छा शिक्षक वह होता है जो समाज से जुड़ा हुआ होता है और साफ़-सफ़ाई पर ज़ोर देता हो। स्कूल के अलावा स्कूल के आसपास की समस्याओं पर भी ध्यान देता हो। जो शिक्षक अपने ही काम में व्यस्त रहता है, आसपास के परिवेश के प्रति ध्यान नहीं देता, तो मेरी नज़र में वह एक अच्छा शिक्षक नहीं हो सकता।

सवाल : आपके नज़रिए में कौन एक अच्छा छात्र है? और वह बाक़ी छात्रों से कैसे अलग होता है?

तबीबुल्ला खान : ऐसा बच्चा जो कक्षा में नियमित हो, पढ़ने पर ध्यान दे, अनुशासन माने और अपने ज्ञान पर घमण्ड न करते हुए लगातार सीखने की कोशिश में हो– मेरी समझ से वही एक अच्छा छात्र है। यही ख़ूबियाँ उसे दूसरों से अलग बनाती हैं।

सवाल : बच्चों के माँ-बाप के साथ आपके सम्बन्ध कैसे हैं? शिक्षकों व अभिभावकों की बैठकें कितने अन्तराल में होती हैं और उनमें किन विषयों पर चर्चा होती है?

तबीबुल्ला खान : शिक्षकों व अभिभावकों की बैठकें हर साल तीन से चार दफ़े होती हैं। इन बैठकों में स्कूली प्रशासन व आर्थिक मसलों से जुड़ी मूल बातों पर चर्चा के साथ-साथ अभिभावकों की परेशानियों पर बातचीत होती है, जिसमें अकसर ही उनके घरों के आर्थिक हालातों और बच्चियों की सुरक्षा जैसी बातें निकलकर आती हैं।

सवाल : स्कूल का प्रिंसिपल होने के चलते आप किन समस्याओं से जूझते हैं? क्या आप मानते हैं कि छात्रों की शिक्षकों द्वारा की जाने वाली पिटाई ज़रूरी है?

तबीबुल्ला खान : अनुशासन को बनाए रखने के लिए डाँट-फटकार और पिटाई ज़रूरी है, ऐसा मुझे लगता है। कुछ बच्चे इतना परेशान कर देते हैं कि उनके माँ-बाप भी उनको नहीं सँभाल पाते। स्कूल में अनुशासन है, इसीलिए ऐसे बच्चे नियमों को मानते हैं। पिटाई नहीं की जाए तो बच्चे शिक्षकों का मज़ाक बनाते हैं। हमारे यहाँ एक शिक्षक हैं जो कि मार-पिटाई पर बिल्कुल यक़ीन नहीं करते, लेकिन उन्हें अपनी कक्षा सँभालने में बहुत दिक़्क़त होती है। पिटाई न की जाए तो ऐसे बदमाश बच्चे अच्छे पढ़ने वाले दूसरे बच्चों को पढ़ने नहीं देते। ऐसे में परिस्थिति के अनुसार अनुशासन बनाए रखने के लिए कभी-कभी पिटाई ज़रूरी हो जाती है। हमारी एक-एक कक्षा में 70-80 बच्चे हैं। इतनी बड़ी कक्षा को बिना छड़ी के सँभालना मुश्किल होता है। वहीं मुझे यह भी लगता है कि अगर

कक्षा में बच्चे कम हों, तो डाँट-फटकार या मार-पिटाई के बिना भी काम हो सकता है।

सवाल : ऐसे बच्चे जिनकी आपने पिटाई की है, उनके साथ आप अपने सम्बन्ध सुधारने के लिए क्या करते हैं ?

तबीबुल्ला खान : देखिए, मेरी बच्चों से दुश्मनी तो है नहीं। कभी-कभी कक्षा का अनुशासन बनाए रखने के लिए मैं कुछ बच्चों को पीट देता हूँ, लेकिन ऐसा नहीं है कि कक्षा में जो भी हुआ उसके लिए मैं उन्हें हमेशा दोषी मानता रहता हूँ। कक्षा की बात कक्षा में ही ख़त्म। फिर सब कुछ सामान्य हो जाता है, जैसे— उनके साथ बातचीत, उन्हें प्यार से थपकी देना आदि कभी-कभी कक्षा के बाहर प्यार से समझाने की कोशिश भी करता हूँ। रास्ते में वे कहीं भी कभी भी मिल जाएँ, तो भी प्यार से बातचीत होती है। उनके माँ-बाप से भी उनके बारे में पूछता रहता हूँ। ऐसा व्यवहार होने के चलते वे बच्चे मुझे अपने पिता की तरह ही मानते हैं और मेरे द्वारा की गई पिटाई का ग़लत मतलब नहीं निकालते।

सवाल : आपके स्कूल से निकल कर गए छात्र कहाँ-कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं ?

तबीबुल्ला खान : उनमें से बहुत सारे अभी TET teacher जूनियर इंजीनियर (Junior Engineer) और असम के बाहर भी अलग-अलग कामों में लगे हुए हैं।

सवाल : वे बच्चे जो ऐसे परिवारों से आते हैं जिनमें उनसे पहले कोई भी बच्चा स्कूल न गया हो, ऐसे बच्चों के घरेलू, सामाजिक व स्कूली परिवेश के बीच आप कैसे तालमेल बैठाते हैं ?

तबीबुल्ला खान : ऐसे परिवारों के बीच एक प्रधान समस्या धार्मिक कट्टरता भी है। हम जो स्कूल में सिखाते हैं, बच्चे उसका उल्टा बाहर सीखते हैं। जैसे कि स्कूल में बुरक़ा पहनने पर मेरा रुख़ बहुत कड़ा है लेकिन घरों व समाज में बुरक़ा पहनने पर ज़ोर है। धार्मिक कट्टरता व प्रगतिशील सोच के बीच का द्वन्द्व लगातार चल रहा है।

सवाल : आप बच्चों को अँग्रेज़ी भी पढ़ाते हैं। अकसर ही अँग्रेज़ी भाषा की पुस्तकों में देखा जाता है कि यह पुस्तकें उस सन्दर्भ या परिवेश से मेल नहीं खातीं, जिसमें वे पढ़ी जा रही हैं। ऐसे में अँग्रेज़ी की शिक्षा से आप बच्चों को कैसे जोड़ पाते हैं ?

तबीबुल्ला खान : क्लास ख़त्म होने के बाद भी अँग्रेज़ी की अतिरिक्त कक्षाएँ ली जाती हैं। इसके अलावा, छुट्टियों के दौरान बच्चों का सम्पर्क इस भाषा से न टूटे, इसलिए शिक्षकों को अतिरिक्त पैसा देकर स्कूल में ही कोचिंग क्लास चलाई जाती है। वैसे तो हमारे स्कूल में कम्प्यूटर नहीं है, लेकिन कक्षा में मोबाइल फ़ोन के माध्यम से ही इस विषय को पढ़ाने में मदद ली जाती है। जैसे कि अँग्रेज़ी rhymes और poems बच्चों को मोबाइल पर सुनवाई जाती हैं।

सवाल : एक प्रधान शिक्षक होने के नाते शिक्षा विभाग की नीतियों व शिक्षा का अधिकार क़ानून पर आपकी क्या राय है ?

तबीबुल्ला खान : शिक्षा विभाग ने जो गुणोत्सव कार्यक्रम लिया है, उसकी वजह से काफ़ी सकारात्मक बदलाव आए हैं। स्कूलों की अधोसंरचना (infrastructure) व शिक्षण गुणवत्ता (teaching quality) बेहतर हुई है। इसके अलावा अगर पाठ्येतर कार्यक्रम (extracurricular program) जैसे कि गीत-संगीत, खेलकूद के लिए अलग से नियुक्तियाँ हों तो स्कूल के लिए और बेहतर होगा। शिक्षा का अधिकार क़ानून के तहत किताबें व यूनिफ़ॉर्म के मुफ़्त वितरण से बच्चों की उपस्थिति पहले से बेहतर हुई है। मिड-डे मील की वजह से भी बच्चों के स्वास्थ्य व उनकी स्कूल में उपस्थिति पर काफ़ी सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। लेकिन इस सबके बीच जो सबसे बड़ी समस्या है, वह है शिक्षकों की कमी, जिसपर शिक्षा विभाग को गम्भीरता से ध्यान देने की ज़रूरत है।

सवाल : शिक्षा के विकास के लिए सरकारी नीतियों में आप किस तरह के बदलावों की ज़रूरत महसूस करते हैं ?

तबीबुल्ला खान : कस्बाई क्षेत्रों में कई ऐसे स्कूल हैं जिनमें शिक्षक-छात्र अनुपात काफ़ी ज़्यादा है, वहीं हमारे जैसे स्कूलों में यह काफ़ी कम है। अगर उन स्कूलों से कुछ शिक्षकों को हमारे जैसे स्कूलों में भेज दिया जाए तो काफ़ी मदद होगी। सरकार अकसर ही बेहतर अधोसंरचना वाले स्कूलों में ज़्यादा पैसा डालती है। अगर सरकार उन स्कूलों पर भी ज़्यादा ध्यान दे, जिनका अधोसंरचना कमज़ोर है तो यह शिक्षण में काफ़ी मददगार होगा।

बेदांगो कोटोकी ने स्नातक तक नृविज्ञान पढ़ा हैं तथा फिर तेजपुर विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर किया है। उनकी रूचि के क्षेत्र में शामिल हैं होमोसेपियंस और एक प्रजाति के तौर पर उनका सांस्कृतिक उद्विकास और शिक्षा प्रक्रिया। वे अपने वातावरण के प्रति भी एक मानवोचित नज़रिया रखती हैं।

सम्पर्क : bedangokotoki93@gmail.com

प्रियांकू हजारिका, तेजपुर विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में शोधार्थी हैं। उन्होंने स्नातक राजनीति विज्ञान में और स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विषय में किया है। उनकी रूचि के क्षेत्र हैं पहचान की राजनीति, भूमि, और सामाजिक आंदोलन, शहरीकरण और शिक्षा का समाजशास्त्र।

सम्पर्क : priyanku36@gmail.com

यह साक्षात्कार आसामीज में किया गया था। इसे हिन्दी में अनुवाद और सम्पादित करने में विवेक मेहता ने मदद की। वे तेजपुर विश्वविद्यालय के मेकेनिकल इंजीनियरिंग विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

सम्पर्क : vivekmehta7481@gmail.com

शिक्षा से जीवन के टूटे पुलों को जोड़ती किताब

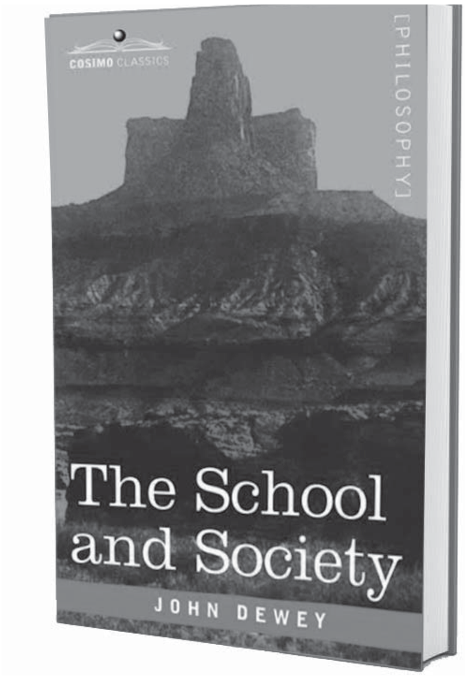
The School and Society : John Dewey

पल्लवी चतुर्वेदी

जॉन ड्युई का शिक्षा दर्शन
सामुदायिक जीवन के अनुभवों से रची शिक्षा व्यवस्था की रूपरेखा

जॉन ड्युई का शिक्षा दर्शन उन तीन व्याख्यानों के माध्यम से समझा जा सकता है जो उन्होंने अप्रैल, 1899 में university elementary school में पढ़ रहे छात्रों के अभिभावकों और इस स्कूल में रूचि रखने वाले अन्य लोगों की उपस्थिति में दिए। ये व्याख्यान आगे वर्णित विषयवस्तुओं के बारे में व्याख्याता के विचारों को श्रोताओं के समक्ष रखते हैं। ये हैं– स्कूल और सामाजिक प्रगति, स्कूल और बच्चे का जीवन, स्कूली जीवन के विभिन्न अंगों के मध्य सुसंगति का अभाव और University elementary स्कूल के तीन वर्ष।

प्रस्तुत लेख इन्हीं व्याख्यानों के विषय में लेखक की समझ का सार है। सं.



द स्कूल एंड सोसाइटी
जॉन ड्युई

यदि विश्व के बड़े शहरों में रहने वाले किसी आम इंसान से पूछा जाए कि आज की दुनिया की सबसे बड़ी समस्या क्या हैं तो शायद वो ज़िक्र करे पर्यावरण पर गहराते संकट का या बढ़ती असुरक्षा का या फिर शहरों में बढ़ती आबादी और आर्थिक दबावों और सतत चलने वाली प्रतिस्पर्धा के कारण होने वाली शारीरिक व मानसिक तकलीफों का। हममें से शायद कम ही लोग ऐसे होंगे, जिन्हें बढ़ती असमानता और करोड़ों लोगों की बदहाली को गम्भीरता से न लेने के खतरनाक परिणाम नज़र आते हों। इसके अलावा उससे भी कम वे लोग होंगे, जो असन्तुलित व्यक्तिवाद की जड़ें प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था और उससे पनपे जीवन लक्ष्यों में देखते हों। ऐसे ही अनोखे व्यक्तियों में एक थे जॉन ड्युई, जिन्होंने पिछली सदी के प्रारम्भ में ही विश्व का ध्यान ऐसे विषयों की ओर दिलाया और एक बेहतर दुनिया के लिए ज़रूरी प्रगतिवादी शिक्षा की अवधारणा को प्रस्तुत किया, जो ज्ञान और कर्म के एकीकरण और शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों को केन्द्र में रखती है, क्योंकि ड्युई का मानना था कि जो शिक्षा हालात नहीं बदल सकती, वो सही अर्थों

में शिक्षा है ही नहीं। उनकी दृष्टि में विचार भी एक प्रकार के औज़ार हैं, जिनसे लोगों की समस्याएँ सुलझनी चाहिए अन्यथा उनका कोई महत्त्व नहीं है।

ड्युई के शिक्षा सम्बन्धी ये विचार उनके और विलियम जेम्स द्वारा प्रतिपादित Pragmatism पर आधारित थे। ये एक नया दार्शनिक विचार था, जो ज्ञान को आम लोगों के लिए उपयोगी बनाने की वकालत करता था और उसे विश्वविद्यालयों के वर्चस्व से मुक्त करने की बात भी करता था। ऐसा ज्ञान गूढ़ और अमूर्त्त नहीं हो सकता। उसे तो लोगों के लिए उपयोगी होना होगा, क्योंकि उपयोगी ज्ञान ही समाज के काम आ सकता है और समानतापरक शिक्षा का आधार बन सकता है।

इन्हीं विचारों के आलोक में लैब स्कूल की नींव पड़ी। सन 1896 में इसकी दूसरी पारी में 1917-20 के दौरान इसे न्यू स्कूल नाम दिया गया। इस स्कूल की स्थापना ड्युई ने अपने विचारों की वैधता सिद्ध करने के लिए की थी। इसे पहले एक शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान की तरह देखा जा रहा था, जिसे ड्युई ने एक demonstration स्कूल में बदल दिया, जहाँ बच्चों को सिर्फ ज्ञान प्राप्त ही नहीं करना था, बल्कि उसका उपयोग करना भी सीखना था।

आज ऐसे ही स्कूल हमें देखने को मिलते हैं, जो डाइट का अभिन्न अंग हैं। हालाँकि, उनमें चलने वाले शैक्षिक कर्म को किसी प्रयोग या शोध की तरह ही देखा जाता है, न कि स्कूलों में सतत चलने वाली कक्षा–कक्ष प्रक्रियायों के रूप में। ज़ाहिर है, हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था को ड्युई के विचारों के साथ मूर्त्त रूप में परिणत करने के लिए डाइट को एक लम्बी यात्रा करनी होगी।

ड्युई का लैब स्कूल कुछ ऐसा था

कल्पना कीजिए एक ऐसे स्कूल की, जो कभी एक कारखाने जैसा लगता हो, कभी प्रयोगशाला, कभी संगोष्ठी का मंच और कभी घुमंतुओं के एक दल जैसा और जहाँ ये सब एक अद्भुत कर्म की तरह ना देखा जा रहा हो, बल्कि समाज के ताने-बाने से रचे एक शैक्षिक कर्म की तरह समझा जा रहा हो। यही था ड्युई का university elementary स्कूल या लैब स्कूल, जिसके सैद्धांतिक आधारों की व्याख्या ड्युई अपनी व्याख्यानमाला के ज़रिए करते हैं। ये व्याख्यान उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय में काम करते हुए लैब स्कूल के प्रयोग के लिए आवश्यक सहयोग राशि इकट्ठा करने के उद्देश्य से दिए थे, जिनको The school and society नामक इस पुस्तक में संकलित किया गया है।

ड्युई यहाँ जानकारी आधारित, सामाजिक निष्क्रियता और प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देने वाली परम्परागत शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए वास्तविक सामाजिक और आर्थिक क्रियाकलापों से रची–बसी शैक्षणिक व्यवस्था की व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। इस व्यवस्था में शैक्षिक कर्म का मतलब छात्रों को पंक्तियों में बैठाकर ज्ञान देना या अमूर्त्त सिद्धान्तों की व्याख्या करना नहीं है, बल्कि उसे विभिन्न प्रकार के जीवनोपयोगी क्रियाकलापों जैसे कपड़े सिलना, सूत, ऊन आदि से कपड़े तैयार करना, विभिन्न धातुओं से वस्तुओं को बनाना, लकड़ी का काम, कपड़े की रंगाई आदि में शामिल कर विषयों से जुड़ी अवधारणाओं को समझने के अवसर देना था। उदाहरण के लिए, खाना बनाने की प्रक्रिया के दौरान छात्रों को विभिन्न खाद्य पदार्थों में निहित

ड्युई यहाँ जानकारी आधारित, सामाजिक निष्क्रियता और प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देने वाली परम्परागत शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए वास्तविक सामाजिक और आर्थिक क्रियाकलापों से रची–बसी शैक्षणिक व्यवस्था की व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं

पोषक तत्वों, तापमान परिवर्तन से उन पर पड़ने वाले प्रभावों, तथा सभ्यताओं के विकास क्रम में विभिन्न समाजों द्वारा खान पान के तरीकों व रुचियों में आए परिवर्तनों को समझने के अवसर देना। इसी प्रकार, कपडा बुनने की प्रक्रिया को सीखने के दौरान, सूती, ऊनी या अन्य प्रकार के फैब्रिक के रेशों की विशेषताओं का अध्ययन करना और उसी के आधार पर यह समझ विकसित कर पाना की मानव सभ्यता के विकास क्रम में फैब्रिक के चयन को किन कारकों ने प्रभावित किया होगा। इस तरह की शैक्षिक प्रक्रियाओं के माध्यम से छात्र विज्ञान और सामाजिक अध्ययन की विभिन्न शाखाओं जैसे रसायनशास्त्र, भौगोलिक विज्ञान, अर्थशास्त्र और समाज शास्त्र आदि की ठोस समझ विकसित कर पाते हैं और इसी प्रक्रिया में विकसित होता है स्व-अनुशासन, चरित्र, दायित्व भाव, तथा व्यवस्था कायम करने की क्षमता।

ड्युई इन सबको भविष्य में अर्थोपार्जन के उद्देश्य से जोड़कर नहीं देखते, बल्कि मानव समाज द्वारा ज्ञान के उपयोग को बेहतर ढंग से समझने तथा मानवीय गुणों और मूल्यों के विकास से जोड़कर देखते हैं, क्योकि यही मूल्य इंसानी समाज की प्रगति को सुनिश्चित करते हैं और उनके बीच आपसी सहयोग की भावना का विकास करते हुए मानव जीवन को सार्थकता प्रदान करते हैं।

इसके साथ ही, ऐसी शिक्षा व्यवस्था समाज को बौद्धिक और कामगार वर्गों में विभाजित नहीं करती, बल्कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम की परस्पर निर्भरता का विचार प्रस्तुत करती है, जिसमें श्रम को एक मशीनी प्रक्रिया की तरह नहीं बल्कि एक नैतिक कर्म के रूप में देखा जाता है और ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करने वाला स्कूल छात्रों को सिर्फ़ कुछ पाठ पढ़ाने की ज़िम्मेदारी नहीं लेता, बल्कि उन्हें एक सक्रिय एवं वास्तविक सामुदायिक जीवन का अनुभव कराता है।

ड्युई का मानना था कि ऐसी शिक्षा, जिसकी प्रक्रियाओं में वास्तविक उद्देश्यों के लिए कुछ ना कुछ करना या बनाना शामिल है, अधिकांश वर्गों और रुचियों के लोगों को आकर्षित कर सकती है, क्योंकि अमूर्त्तता में अवस्थित बौद्धिक प्रक्रियाओं में रुचि रखने वाले वर्ग की संख्या बहुत ही सीमित है।

इसी सिलसिले में ड्युई, फ्रेडरिक फ्रोएबेल, जो किंडरगार्टन स्कूल पद्धति के प्रणेता रहे हैं, के विचारों और बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में उनके द्वारा सुझाए गए सिद्धान्तों का हवाला देते हुए बच्चों की शुरुआती शिक्षा के दौरान स्कूल की भूमिका को परस्पर निर्भरता और सहयोगपूर्ण व्यवहार की नींव तैयार करने तक देखते हैं। साथ ही इस बात को भी रेखांकित करते हैं कि बच्चों की शिक्षा उनकी मूल प्रकृति, आवेगो और स्वाभाविक क्रियाओं में ही केन्द्रित होनी चाहिए। इसीलिए अब बच्चों के खेलों, गीतों और काल्पनिक जगत में चलने वाली उनकी बातचीत और इसी तरह के अन्य क्रियाकलापों के शैक्षिक महत्त्व को समझा जाने लगा है। इसी सन्दर्भ में फ्रोएबेल और ड्युई दोनों ही सृजनात्मक और उत्पादक कार्यों में उन्हें शामिल करने की पुरजोर वकालत करते हैं। इस तरह के कामों में बच्चों के योगदान को रोज़गार के लिए किए जाने वाले कामों से अलग करके देखने की ज़रुरत है, क्योंकि ये काम जीवन के कारोबार को चलाने के लिए नहीं, बल्कि

ड्युई का मानना था कि ऐसी शिक्षा, जिसकी प्रक्रियाओं में वास्तविक उद्देश्यों के लिए कुछ ना कुछ करना या बनाना शामिल है, अधिकांश वर्गों और रुचियों के लोगों को आकर्षित कर सकती है, क्योंकि अमूर्त्तता में अवस्थित बौद्धिक प्रक्रियाओं में रुचि रखने वाले वर्ग की संख्या बहुत ही सीमित है।

मानव जीवन को उसके सामुदायिक अर्थों में समझने और उसके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण के निर्माण के लिए बेहद ज़रूरी हैं।

ड्युई इस स्कूल की शैक्षिक प्रक्रियाओं के माध्यम से प्रजातान्त्रिक मूल्यों से युक्त एक समाज की नीव निर्मित करने का प्रयास करते नज़र आते हैं, जिसमें शिक्षक की भूमिका में अधिकार, सत्ता और अनुशासन की बजाय मार्गदर्शन, सहयोग और प्रेरणा जैसे मूल्यों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ऐसे स्कूल में शिक्षक को विद्यार्थियों के साथ मिलकर ही पाठ्यचर्या बनानी होती है, स्कूल चलाने सम्बन्धी निर्णय लेने होते हैं और उन्हीं के साथ मिलकर विषय सम्बन्धी व अन्य समस्याओं के समाधान निकालने होते हैं। यह सतत भागीदारी ही एक समानतापरक समाज का आधार बनती है, जहाँ ज्ञान की सत्ता भी साझी हो। हालाँकि, सैद्धान्तिक रूप में इतनी सम्भावनाएँ खोलने वाला ये प्रयोग अपनी तीन साल की यात्रा के दौरान ही एक यूटोपियन विचार जैसा लगने लगा था, क्योंकि समस्या-समाधान आधारित और विद्यार्थियों की रुचियों के अनुसार चलने वाली ये शिक्षण व्यवस्था विद्यार्थियों और शिक्षकों दोनों के लिए चुनौती पूर्ण थी। अन्तत: इस प्रयोगधर्मी स्कूल में भी परम्परागत शिक्षण प्रणालियाँ वापस लौटने लगीं। तो क्या इससे ये नतीजा निकाला जाए कि ड्युई का समाजोपयोगी, उदारवादी और प्रगतिगामी शिक्षा का विचार ज़मीनी हकीक़त को बदलने में असफल रहा। या फिर यह कि ड्युई के इस शिक्षादर्शन ने विश्व के सामने उदारवादी और प्रजातान्त्रिक मूल्यों पर आधारित शिक्षा व्यवस्था का एक आदर्श रूप प्रस्तुत किया और साथ ही शिक्षा और शिक्षार्थी की एक गहरी समझ संसार को दी, जो तार्किक दृष्टि से सही लगती है। आज के भारत में ही आपको कुछ प्रजातान्त्रिक स्कूल मिल जाएँगे, जो ड्युई के शिक्षा दर्शन को वास्तविकता के धरातल पर उतारने की कोशिशों में लगे हैं।

हमारे देश में भी स्कूल शिक्षा में सुधार लाने के लिए तैयार किए गए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के आधार पत्र, विशेषकर NCF 2005, ड्युई के शिक्षा दर्शन में निहित सामाजिक चेतना और जीवन के लिए और उससे जुड़ी शैक्षिक प्रक्रियाओं के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। NCF 2005 की कई अनुशंसाओं में ड्युई के विचारों की स्पष्ट झलक मिलती है।

इसके साथ ही, ड्युई के इस शैक्षिक दर्शन ने, जो आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए अध्ययनों, उनसे उपजी समझ और हमारी दुनिया के भौतिक और सामाजिक पहलुओं की बेहतर समझ से विकसित विमर्श पर आधारित हैं, दुनियाभर में शिक्षा के क्षेत्र में हुए महत्त्वपूर्ण बदलावों को दिशा दी। हमारे देश में भी स्कूल शिक्षा में सुधार लाने के लिए तैयार किए गए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के आधार पत्र, विशेषकर NCF 2005, ड्युई के शिक्षा दर्शन में निहित सामाजिक चेतना और जीवन के लिए और उससे जुड़ी शैक्षिक प्रक्रियाओं के महत्व को रेखांकित करते हैं। NCF 2005 की कई अनुशंसाओं में ड्युई के विचारों की स्पष्ट झलक मिलती है। उदाहरण के लिए, स्कूल में दी जाने वाली शिक्षा और बच्चों के वास्तविक जीवन के कार्यकलापों के बीच के फ़र्क को दूर करना, विश्वविद्यालयों को स्कूली शिक्षा से जोड़ने, स्कूली जीवन के शुरुआती वर्षों में बच्चों की अवलोकन क्षमता विकसित करने के लिए उनके जीवन के अनुभवों और उनके आसपास के जगत से प्राप्त सामग्री का शिक्षण प्रक्रियाओं में उपयोग करना, स्कूली शिक्षा में समझ और कौशल विकास पर ज़ोर देना, भाषा-शिक्षण के दौरान छात्रों को स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन व अभिव्यक्ति के मौके देना आदि।

ड्युई के व्याख्यानों का यह संग्रह न सिर्फ़ उनके विचारों को समझने में मदद करता है, बल्कि शिक्षा और जीवन के सामंजस्य पर

केन्द्रित आधुनिक, प्रगतिगामी विमर्श के धागों को भी खोलता है। शिक्षा के लिए काम कर रहे हर व्यक्ति के लिए पढ़ने योग्य कुछ बेहद अहम् पुस्तकों में से एक है।

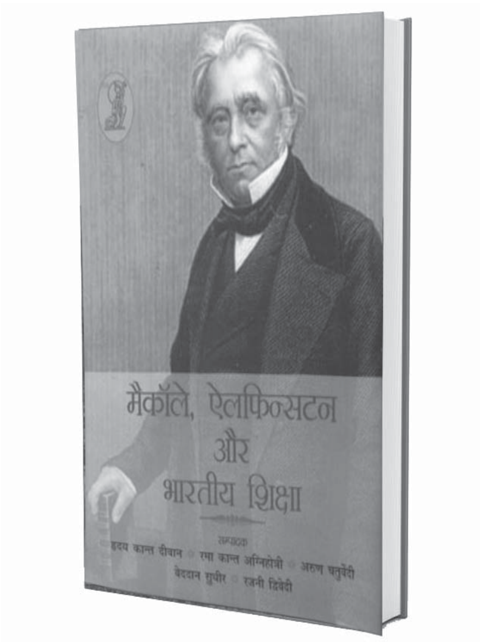
पल्लवी चतुर्वेदी पेशे से शिक्षक हैं। आप अंग्रेजी साहित्य की अध्येता हैं। पिछले डेढ़ दशक से शिक्षण व प्रशिक्षण के कार्य में जुटी हुई हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन भोपाल में अंग्रेजी भाषा की रिसोर्स पर्सन के रूप में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : pallvi.chaturvedi@azimpremjifoundation.org

मैकॉले का भूत और स्कूली शिक्षा का भविष्य

(पुस्तक समीक्षा : मैकॉले, ऐलफिन्सटन और भारतीय शिक्षा)

अमित कोहली

आज भी मैकॉले का ज़िक्र किए बिना स्कूली शिक्षा की आलोचना या उसके सुधार पर विमर्श पूरा नहीं होता। किसी-न-किसी बहाने मैकॉले का भूत हमारे सामने आकर खड़ा हो ही जाता है। पाठ्यक्रम संशोधन का मसला हो या शिक्षा की गुणवत्ता का विषय, विद्यार्थियों के शालात्याग का सवाल हो या स्कूली संस्कृति के बेगानेपन की चर्चा, समावेशीकरण की पहल हो या सामाजिक पुनरुत्पादन की बहस... मैकॉले को हम भूले नहीं भुला पाते।



मैकॉले, ऐलफिन्सटन और भारतीय शिक्षा

सम्पादक

हृदय कान्त दीवान, रमा कान्त अग्निहोत्री, अरुण चतुर्वेदी, वेददान सुधीर और रजनी द्विवेदी

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

शिक्षा के विद्यार्थी, शिक्षक, शिक्षक-प्रशिक्षक, शिक्षाविद् और शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सरकारी व ग़ैर-सरकारी कार्यकर्ता, सभी का वास्ता मैकॉले से पड़ता है और बहुदा स्कूली शिक्षा के बारे में मैकॉले के योगदान (सकारात्मक या नकारात्मक) पर उनकी एक राय भी होती है, भले ही उन्होंने मैकॉले के मिनट्स पढ़ें हों या न पढ़े हों।

चूँकि मैकॉले आज भी जीवन्त और प्रासंगिक है– भले ही आलोचना करने, अपनी ज़िम्मेदारी से मुँह मोड़ने या इसके विपरीत अँग्रेज़ों को बेहतरीन व दूरदर्शी प्रशासक साबित करने के लिए ही सही– लिहाज़ा यह ज़रूरी हो जाता है कि हम उस दौर को, उस दौर की बहसों को, तत्कालीन जन-आकांक्षाओं को और अँग्रेज़ शासकों की परिस्थिति को समझते हुए मैकॉले के कहे और अनकहे से सीधे तौर पर रूबरू हों।

वाणी प्रकाशन द्वारा हाल ही में प्रकाशित पुस्तक मैकॉले, ऐलफिन्सटन और भारतीय शिक्षा (सम्पादक- हृदय कान्त दीवान, रमा कान्त अग्निहोत्री, अरुण चतुर्वेदी, वेददान सुधीर और रजनी द्विवेदी) न सिर्फ़ इस ज़रूरत को पूरा करने का एक समीचीन प्रयास है, बल्कि यह पुस्तक हमें मैकॉले के समय से शिक्षा को लेकर चली आ रही बहस के बीच ले जाकर खड़ा

कर देती है ताकि हम उस बहस की तमाम बारीक़ियों और पहलुओं से वाक़िफ़ होते हुए अपनी समझ को पुख़्ता कर सकें और फिर यह तय कर सकें कि शिक्षा के स्वरूप को लेकर चली आ रही इस बहस में हम ख़ुद को कहाँ खड़ा करें।

360 पन्नों की इस किताब में कुल 19 लेख और परिशिष्ट के रूप में 3 अनूदित दस्तावेज़ हैं। लगभग सभी लेखक ऐसे हैं जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में लम्बे समय ज़मीनी काम किया है और साथ ही अधिकांश लेखकों का शिक्षा के इतिहास, समाजशास्त्र व दर्शन पर गहन अध्ययन भी है। विविध अकादमिक-शैक्षिक पत्रिकाओं में ये लेखक लगातार लिखते भी रहे हैं। इस दृष्टि से

इस किताब में जो विश्लेषण, विवेचना और तथ्य पेश किए गए हैं , वे न सिर्फ़ ऐतिहासिक रूप से जाँचे–परखे और विश्वसनीय हैं, वरन् तमाम तर्क, सन्दर्भ और व्याख्याएँ शैक्षिक–अकादमिक अनुभव की ज़मीन से उपजी हुई हैं।

इस किताब में जो विश्लेषण, विवेचना और तथ्य पेश किए गए हैं वे न सिर्फ़ ऐतिहासिक रूप से जाँचे-परखे और विश्वसनीय हैं, वरन् तमाम तर्क, सन्दर्भ और व्याख्याएँ शैक्षिक-अकादमिक अनुभव की ज़मीन से उपजी हुई हैं। इसलिए यह किताब पढ़ना शिक्षा, इतिहास और शिक्षा के इतिहास में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए निहायत ज़रूरी हो जाती है। हालाँकि, इस किताब की कुछ कमियाँ भी हैं जिनका ज़िक्र हम प्रसंगानुसार आगे करेंगे।

पुस्तक के लेखों की सूची (अनुक्रम) देखें तो पता चलता है कि इसमें मैकॉले और ऐलफिन्सटन को केन्द्र में रखकर विविध आयामों पर विद्वान लेखकों ने अपनी बात रखी है, जैसे– अनिल सद्‌गोपाल का एक लेख 'मैकॉले बनाम फुले-अम्बेडकर' पर केन्द्रित है, दयाल चन्द्र सोनी ने गाँधी-मैकॉले द्वन्द्व की विवेचना की है, सी एन सुब्रमण्यम ने तत्कालीन मध्यम वर्ग की अपेक्षाओं-आकांक्षाओं के बरअक्स मैकॉले को देखने की कोशिश की है... आदि। इस तरह यह किताब मैकॉले प्रसंग की बहुआयामी और बहुस्तरीय पड़ताल करती है।

ख़ैर, प्रस्तावना में काफ़ी विस्तार से ऐलफिन्सटन और मैकॉले के काम की ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को पेश किया गया है। उद्योगीकरण और पूँजीवाद के विकास के साथ सामाजिक रूपान्तरण व लोकतन्त्र के विचार को प्रसारित करने में आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा की भूमिका के महत्त्व को भी रेखांकित किया गया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित उद्धरण देखें–

> *"...यह पूरा प्रयास सामाजिक रूपान्तरण व ज़्यादा लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ बनाने की तरफ बढ़ने का पहला कदम भी साबित हुआ।" (पृष्ठ 9)*

प्रस्तावना में भारत की स्कूली शिक्षा की हर कमी (या कभी-कभी ख़ूबी भी) को अँग्रेज़ों, ख़ासतौर पर मैकॉले, के सिर मढ़ दिए जाने के रिवाज की आलोचना करते हुए उस रवैये पर गहन सवाल उठाए गए हैं और पाठकों को तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के बरअक्स वस्तुस्थिति को देखने के लिए तथ्य व जानकारियाँ दी गई हैं, जैसे–

> *"हमें यह भी समझना होगा कि जिस बड़ी लहर ने इंग्लैण्ड व यूरोप को ऐसे राजनीतिक व सामाजिक बदलाव की ओर धकेला, जिससे उत्पादन व व्यापार, अन्धा-धुन्ध बढ़ने लगे और उससे कोई देश भी अछूता नहीं रहा वह थमी नहीं है। औद्योगिक फैलाव की यह लहर अब*

टैक्नॉलॉजी के लगातार विकसित होने व बढ़ने के कारण बढ़ी है। यह सवाल महत्त्वपूर्ण है कि वह राजनीतिक व सामाजिक बदलाव जिसने हमें बेपनाह व्यापार, अन्धा-धुन्ध उत्पादन, संचय व उपभोग की ओर धकेला है और जो हमें अन्ततः आज भूमण्डलीकरण व वैश्वीकरण की कगार पर ले आया है, क्या वह मैकॉले द्वारा निर्मित था? क्या जाति, सत्ता, शिक्षा, भूमि, पानी, लिंग आदि से जुड़ी खाईयों को मैकॉले ने बनाया था और गहरा कर दिया या फिर उसका कुछ और ही कारण है?" (पृष्ठ 12)

प्रस्तावना के बाद का लेख, 'ऐलफिन्सटन और मैकॉले के निहितार्थ', जिसे सम्पादक मण्डल के दो प्रबुद्ध व अनुभवी विद्वानों– रमा कान्त अग्निहोत्री और हृदय कान्त दीवान ने लिखा है, भी एक तरह से इस किताब की प्रस्तावना का विस्तार ही है। एक उदाहरण देखें–

इस किताब के लेख विभिन्न परिप्रेक्ष्य के लोगों द्वारा लिखे गए। सभी ने सन्दर्भित दस्तावेज़ों को देखा व समझा, किन्तु किसी भी लेख से ऐसा नहीं लगता कि मैकॉले व ऐलफिन्सटन को लेकर सामान्य तौर पर प्रसारित समझ में कुछ सत्यता है।

"...इस किताब के लेख विभिन्न परिप्रेक्ष्य के लोगों द्वारा लिखे गए। सभी ने सन्दर्भित दस्तावेज़ों को देखा व समझा, किन्तु किसी भी लेख से ऐसा नहीं लगता कि मैकॉले व ऐलफिन्सटन को लेकर सामान्य तौर पर प्रसारित समझ में कुछ सत्यता है।" (पृष्ठ 45)

इस लेख में लेखकद्वय शिक्षा व्यवस्था की दुर्दशा के लिए ऐलफिन्सटन और मैकॉले को ज़िम्मेदार मानने तथा उस दुर्दशा के वास्तविक कारणों को छिपाने की कोशिश की आलोचना करते हैं। साथ ही वे ऐलफिन्सटन और मैकॉले को ऐतिहासिक, राजनीतिक और कुछ हद तक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। सम्पादकों द्वारा इसी लेख को पुस्तक की औपचारिक प्रस्तावना बनाना पाठकों के लिए शायद अधिक सुविधाजनक होता।

इस लेख में लम्बे इतिहास के विस्तार में न जाते हुए सिर्फ़ ऐलफिन्सटन और मैकॉले के मिनट्स और उनकी पृष्ठभूमि की चर्चा है। शिक्षा के विद्यार्थियों और शिक्षा के क्षेत्र में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए यह जानना रोचक और उपयोगी हो सकता है कि ऐलफिन्सटन और मैकॉले की वैचारिक पृष्ठभूमि क्या थी, कम्पनी शासन में उनकी भूमिका क्या थी और किन सीमाओं में रहते हुए उन्होंने अपनी भूमिकाएँ निभाईं। इस जानकारी का कुछ अंश कुछ लेखों के अन्तराल के बाद शरद चन्द्र बेहार के लेख 'शिक्षा नीति निर्माता की खोज : मैकॉले के बहाने' तथा फिर वरदराजन नारायण के लेख 'ओरियंटलिस्ट : एंग्लिसिस्ट बहस; समृद्धता की पड़ताल' में कुछ अधिक विस्तार से है।

लेख में ऐलफिन्सटन के मिनट्स (1824) को मील का पत्थर बताया गया है। पाठकों को शायद यह नई जानकारी रोचक लग सकती है कि ऐलफिन्सटन के विचार में सरकार को शिक्षा के मसलों पर पहल तो करनी चाहिए लेकिन उसके हर पहलू को संचालित और नियन्त्रित नहीं करना चाहिए। शिक्षा के विमर्श व संचालन में व्यापक भागीदारी पर ऐलफिन्सटन ने ज़ोर दिया (पृष्ठ 45)। यानी, उसकी नज़र में स्कूलों का संचालन करने में जन भागीदारी ज़रूरी है। आज भी लगातार यह बात उठती रहती है।

हालाँकि, भागीदारी की वह योजना कम्पनी के ख़र्चों में कटौती के लिहाज़ से उपयुक्त

थी लेकिन साथ ही इसने स्थानीय जनता को जोड़ने में ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। ज़ाहिर है कि शुरुआत में सम्भ्रान्त वर्ग ही इस योजना का हिस्सा बना लेकिन आगे चलकर, जैसा कि सी एन सुब्रमण्यम के लेख में ज़िक्र है, इस पहल से मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को भी पंख मिले। ज्योतिराव फुले और बी आर अम्बेडकर तो अँग्रेज़ों को बहुजनों-दलितों के उद्धारकर्ता के रूप में देखते हैं। ज़ाहिर है कि ऐलफिन्सटन का सचेत प्रयास तो कम्पनी का खर्च बचाना और स्थानीय वर्गों के विरोध को सीमित करने का था लेकिन परोक्ष रूप से सभी वर्गों के लोगों ने इस आधुनिक शिक्षा में अपने लिए कुछ-न-कुछ पाया। कुछ ने प्रभुत्वशाली वर्ग की नज़दीकी पाने के माध्यम के रूप में, कुछ ने नौकरी और सम्मानजनक पद पाने की आकांक्षा में तो कुछ ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के ज़रिए अन्धविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और दमन का प्रतिकार करने के एक औज़ार के रूप में आधुनिक अँग्रेज़ी शिक्षा में सहभागी होना चाहा।

ऐलफिन्सटन ने एक और मज़ेदार तजवीज़ की–

> *"बच्चों को स्कूल भेजने के लिए स्थानीय लोगों को प्रेरित करने के लिए घर-घर जाकर टीका लगाने वाले कर्मचारियों की अहम भूमिका हो सकती है। ये लोग हर परिवार को इस बात के लिए प्रेरित कर सकते हैं कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। यह काम स्थानीय टीका लगाने वाले और अन्य स्थानीय लोगों की मदद के बिना आगे नहीं बढ़ सकता।" (पृष्ठ46)*[1]

हाल ही में प्रकाशित राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019 में 'सामाजिक कार्यकर्ताओं' की नियुक्ति का प्रस्ताव है; ऐलफिन्सटन के मिनट्स के बरअक्स इसे देखें–

> *"स्कूल कॉम्पलेक्स में उस भौगोलिक क्षेत्र के विद्यार्थियों एवं प्रौढ़ शिक्षार्थियों की संख्या के आधार पर पर्याप्त संख्या में सामाजिक कार्यकर्ता नियुक्त किये जायेंगे।*
>
> *स्कूल कॉम्पलेक्स द्वारा सेवित क्षेत्र के साथ सामाजिक कार्यकर्ता एक गहरा जुड़ाव बनाएँगे। वे पूर्व नियोजित ढंग से माता-पिता और बच्चों के साथ काम करेंगे जिससे नामांकन और उपस्थिति सुनिश्चित हो और बच्चों का स्कूल से ड्रॉपआउट होना बन्द हो।"*[2]

शिक्षा में ख़र्च की कटौती का यह 'नवाचारी' विचार 1824 से लेकर 2019 तक लगभग दो शताब्दियों की लम्बी यात्रा कर चुका है, फिर भी

स्कूल कॉम्पलेक्स द्वारा सेवित क्षेत्र के साथ सामाजिक कार्यकर्ता एक गहरा जुड़ाव बनाएँगे। वे पूर्व नियोजित ढंग से माता–पिता और बच्चों के साथ काम करेंगे जिससे नामांकन और उपस्थिति सुनिश्चित हो और बच्चों का स्कूल से ड्रॉपआउट होना बन्द हो।

समस्या और उसका प्रस्तावित समाधान अपने मौलिक स्वरूप में यथावत है। घर-घर जाकर टीका लगाने वालों को स्कूली शिक्षा के लिए 'प्रेरक' बनाने का ऐलफिन्सटन का सुझाव किसी बहुरूपिए की तरह रूप बदलकर एनजीओ कार्यकर्ता या फ़ैलोशिप पर आए नौजवानों को सशक्तिकरण के नाम पर शालाओं में या शाला के बाहर अतिरिक्त समय में बच्चों को पढ़ाने के लिए भेजने जैसी पहलों में भी प्रकट हुआ है।

कुल मिलाकर ऐलफिन्सटन ने एक कुशल

1. साथ ही देखें इसी पुस्तक के पृष्ठ 270-271.

2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019; मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार; पृष्ठ 224.

प्रशासक के रूप में किफ़ायत बरतते हुए आधुनिक शिक्षा के प्रसार की पहल की। स्कूलों को चलाने, किताबें लिखने, अधीक्षण करने आदि की एक प्रशासकीय व्यवस्था बनाने का प्रस्ताव दिया और इसके चुनिन्दा पहलुओं में जन भागीदारी की पैरवी की।

भारत में शिक्षा और साहित्य के उत्थान के लिए एक लाख रुपए की अनुदान राशि दिए जाने की मंज़ूरी हुई थी। उसका इस्तेमाल अधिकांशतया पुजारियों और मौलवियों को वज़ीफ़ा देने, प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद आदि पर किया जाता था। ऐलफिन्सटन ने उस अनुदान राशि के पुनर्वितरण की बात कही और उसे पाठशालाओं और अध्यापकों को पर्याप्त पैसा

"यह स्पष्ट है कि मैकॉले की मंशा भारतीयों को शिक्षा रहित और पिछड़ा रखने की नहीं थी" और आगे— "अँग्रेज़ी शिक्षा से गुज़रा वर्ग ही यहाँ की स्थानीय बोलियों को समृद्ध कर उनमें ज्ञान का विकास करेगा और इन भाषाओं में नया ज्ञान आ सकेगा।"

मुहैया कराने के लिए ख़र्च करने का प्रस्ताव दिया। लेख में ब्राह्मणवाद व जाति संकीर्णता की मुखर मुख़ालफ़त करने तथा बराबरी के सिद्धान्त पर अमल करने में ऐलफिन्सटन के मिनट्स में परिलक्षित होने वाली प्रशासकीय हिचकिचाहट को समकालीन भारत की प्रशासकीय अकर्मण्यता के बरअक्स खड़ा करते हुए सही कहा गया है—

"ऐलफिन्सटन बाहरी था। वह एक कच्चे प्रतीत होने वाले शासन को पक्का करने का रास्ता खोज रहा था, उसका सशंकित होना जायज तो नहीं है किन्तु फिर भी उतना निन्दनीय नहीं है जितना स्वतंत्रता के बाद और खासकर नव उदारवाद के बाद हमारी स्वतंत्र सरकार व उसके प्रशासन का इन मसलों पर चुप्पी साधे रहना था।" (पृष्ठ 47)

इस लेख का उत्तरार्ध मैकॉले को एक विशिष्ट सन्दर्भ, जो कि ज़ाहिर है लेखकों की नज़र में सही सन्दर्भ है, में देखने की बात करता है; जैसे— इसमें कहा गया है

"यह स्पष्ट है कि मैकॉले की मंशा भारतीयों को शिक्षा रहित और पिछड़ा रखने की नहीं थी (पृष्ठ 46)।" और आगे— "अंग्रेजी शिक्षा से गुजरा वर्ग ही यहाँ की स्थानीय बोलियों को समृद्ध कर उनमें ज्ञान का विकास करेगा और इन भाषाओं में नया ज्ञान आ सकेगा (पृष्ठ 47)।"

मैकॉले के कथन के निहितार्थ पर बात करने से पहले इसी पुस्तक में अनिल सद्‌गोपाल के लेख— 'मैकॉले बनाम फुले-गाँधी-अम्बेडकर का मुक्तिदायी शैक्षिक विमर्श' में फुले का एक उद्धरण देखें—

"...हमें तो ऐसे शिक्षक चाहिए, जो अपने हाथों में हल पकड़ सकेंगे या बढ़ई या सुतार की आरी को अपने हाथों में पकड़ कर इस्तेमाल कर सकें। उनमें यह भी क्षमता हो कि वे समाज के निचले तबके के साथ दोस्ती कर सकें इज्जत के साथ उनसे मिलजुल सकें।... आज शिक्षा विभाग में जितने शिक्षक नौकरी पा रहे हैं, वे सब उच्च वर्गों, उच्च वर्णों के हैं।" (पृष्ठ 87)

आज यह दावा करना बहुत ही मुश्किल है कि मैकॉले की मंशा के अनुरूप परिणाम आए या नहीं, या यह कि उसकी मंशा क्या सच में वही थी जो लेखकों की राय है? क्योंकि आज भी हम अपने आसपास देख सकते हैं कि अँग्रेज़ी पढ़ा-लिखा व्यक्ति ब्राह्मण हो या दलित या आदिवासी— आमतौर पर वह अपनी संस्कृति, भाषा, पारम्परिक ज्ञान और कौशल से दूर हो

जाता है, बेगानेपन की दर तक... बहुत दूर। लेकिन साथ ही इस सच्चाई से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ही देश में राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता जैसे मूल्यों और विचारों का आगमन व प्रसार हुआ। स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय आन्दोलन एवं सामाजिक पुनर्जागरण या समाज सुधार आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले नेता अँग्रेज़ी शिक्षा से होकर गुज़रे थे और / या उसके पुरज़ोर हिमायती थे। यह भी सच्चाई है कि भारत का आधुनिक औद्योगिक विश्व में प्रवेश का रास्ता आधुनिक शिक्षा से ही होकर गुज़रा है।

इसके बाद किताब में लगभग 30 पन्नों का एक बड़ा लेख ऐतिहासिक लेखन पर मनन करता है– 'मैकॉले और उसके बाद : ऐतिहासिक लेखन पर मनन'। इसमें लेखक विकास गुप्ता ने महात्मा गाँधी, जोसेफ़ डी बोना, राबर्ट ई फ्रायकेन्बर्ग, जॉन रोस्सेली, वी जी कुरकेन, माइकल एडस, विलियम एच प्रीचर्ड, कृष्ण कुमार, सी एस घोष जैसे विद्वानों की मैकॉले व भारतीय शिक्षा के सन्दर्भ में की गई टिप्पणियों की विस्तृत विवेचना है। विविध पहलुओं से मैकॉले को देखने में यह लेख मदद करता है ताकि हम उसका छद्म महिमा मण्डन और अतार्किक-निरर्थक आलोचना– दोनों करने से बच सकें। यह लेख स्रोत सामग्री के कुछ सिरे भी देता है, जिन्हें थामकर कुछ जिज्ञासु पाठक और किताबें भी पढ़ सकते हैं और इस तरह विषय की गहराई में उतर सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ स्थानों पर फुटनोट / एण्डनोट की कमी अखरती है, ख़ासतौर पर विकास गुप्ता के इस लेख में। फुटनोट आदि के ज़रिए उपयोगितावाद, प्राच्यवाद, बरतानवी इवेंजलिकवाद, सांस्कृतिक उपनिवेशवाद आदि पदों को समझने में कुछ पाठकों को सहज और तत्काल मदद मिल सकती थी।

सी एन सुब्रमण्यम अपने लेख 'थॉमस बेबिंग्टन मैकॉले और भारतीय मध्यम वर्ग' की शुरुआत में ही भारत के मध्यम वर्ग की उत्पत्ति के उद्देश्य को दो टूक रूप से हमारे सामने रखते हैं–

"भारतीय मध्यम वर्ग का जन्म औपनिवेशिक व्यवस्था को चलाने के लिए हुआ था और उसने बखूबी औपनिवेशिक मानसिकता को अपनी जीवन पहचान के रूप में अपनाया हुआ है।" (पृष्ठ 96)

मध्यम वर्ग की उत्पत्ति के स्रोत और उसके द्वन्द्व को पेश करते हुए सुब्रमण्यम बताते हैं–

"इस आधुनिक मध्यम वर्ग के सृष्टिकर्ताओं ने इस नए वर्ग की रचना में उत्तर मुगल काल के कुलीन ब्राह्मण व अशरफ़ी पुरुषों का उपयोग किया। इन महानुभावों ने अपने पारम्परिक ज्ञान और साहित्य को पारिवारिक मार्गों से जारी रखना उचित समझा और सार्वजनिक जीवन में आधुनिक अंग्रेजी ज्ञान को प्रभुत्व देने की रणनीति से अपनाया। इस दुविधापूर्ण अस्तित्व ने कई विसंगतियों को पैदा किया– ब्राह्मणवाद और आधुनिकतावाद के बीच तथा आधुनिकतावाद के ही अन्दर राष्ट्रवाद और औपनिवेशिक वफादारी के बीच आदि। इन्हीं दुविधाओं और विसंगतियों के साथ इस मध्यम वर्ग ने

इस सच्चाई से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि आधुनिक अँग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से ही देश में राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता जैसे मूल्यों और विचारों का आगमन व प्रसार हुआ।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया।" (पृष्ठ 97)

अंग्रेजी शिक्षा में दीक्षित मध्यम वर्ग की यह विसंगति हम आज भी विविध रूपों में देख सकते हैं। आधुनिक मूल्य और ब्राह्मणवादी मान्यताओं के असंगत मिश्रण की वजह से हमारे आज के स्कूलों में एक अजीब संस्कृति का विकास हुआ है। इसे हम शिक्षकों को प्रणाम करने या पैर छूने, दीवारों को देवी-देवताओं की तस्वीरों से सजाने से लेकर ख़ास प्रकार की भाषा-शैली को 'स्वीकार्य' और 'सही' मानने और अनुकरण करने, रटने, किताबों से नक़ल उतारकर कॉपियों में लिखने जैसी व्यवहारवादी शिक्षण पद्धतियों में देख सकते हैं। शालाओं में कम्प्यूटरों पर रोली-सिन्दूर का टीका लगाने से लेकर इसरो (ISRO) में चन्द्रयान की पूजा-अर्चना कर प्रक्षेपित करने तक में हम आधुनिक ज्ञान और ब्राह्मणवादी मूल्यों की विसंगति को देख सकते हैं।

"मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा मध्यम वर्ग जो अपने आपको अंग्रेजी हुकूमत का उत्तराधिकारी मानता है, वही औपनिवेशिक सोच लेकर भारत के अन्य हाशियाकृत और वंचित समुदायों की शिक्षा की बात करता है।"

भारत में आदिवासी शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित आवासीय विद्यालयों (आश्रमशाला) की तुलना अमरीकी आदिवासियों की शिक्षा के प्रयासों के साथ करते हुए सुब्रमण्यम कहते हैं—

"मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा मध्यम वर्ग जो अपने आपको अँग्रेज़ी हुकूमत का उत्तराधिकारी मानता है, वही औपनिवेशिक सोच लेकर भारत के अन्य हाशियाकृत और वंचित समुदायों की शिक्षा की बात करता है।" (पृष्ठ 100)

सुब्रमण्यम की भाषा सरल है और लेख पढ़ते हुए हमें कोई रोचक कहानी पढ़ने जैसा अहसास होता है। मैकॉले के बहाने वह भाषाई और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद की चर्चा करते हैं और आगे चलकर भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में स्थानीय भाषा, स्थानीय ज्ञान के स्थान जैसे राजनीतिक रूप से संवेदनशील प्रश्न को शिद्दत से उठाते हैं। अन्त में वह इस औपनिवेशिक शिक्षा का विकल्प रचने की चुनौती भी देते प्रतीत होते हैं। लेकिन वह इस बात का कोई संकेत या अनुमान नहीं देते कि वह विकल्प कहाँ से आएगा और कौन-सा सामाजिक वर्ग उसका वाहक बन सकता है? इस अर्थ में यह छोटा-सा आलेख किसी प्रकार का मार्गदर्शन न करते हुए एक सदाशा के साथ समाप्त हो जाता है।

इसके बाद के लेख का शीर्षक सुब्रमण्यम के लेख की विषयवस्तु से निकला हुआ प्रतीत होता है— 'मैकॉले की शिक्षा : भारतीय मानस का द्वन्द्व'। इस लेख की शुरुआत में विश्वम्भर अँग्रेज़ों के आने से पूर्व देशज शिक्षा व्यवस्था की बात करते हुए पाठशालाओं और मकतबों की शैक्षिक व प्रशासकीय व्यवस्था का उल्लेख करते हैं। हालाँकि, लेखक (या सम्पादक-मण्डल) ने किसी स्रोत का उल्लेख नहीं किया है, देशज शिक्षा— यह ज़िक्र धर्मपाल और पोरमेश आचार्य के उसी बात से सहमत नज़र आता है, जिसे सम्पादक-मण्डल ने प्रस्तावना में ही ख़ारिज कर दिया था।

कालू राम शर्मा अपने लेख 'मैकॉले पर फ़तह कैसे पाएँ?' में मैकॉले की परम्परागत आलोचना करते हैं और मैकॉले बनाम गाँधी को अँग्रेज़ी बनाम मातृभाषा में शिक्षा के रूप में तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का सतही प्रयास करते हैं।

'थॉमस बैबिंग्टन मैकॉले' शीर्षक से अपने लेख में अमन मदान भारतीय मानस में मैकॉले

की प्रचलित नकारात्मक छवि को रेखांकित करते हुए उसे उसके समय में देखने का आग्रह करते हैं। मैकॉले ने अपने आरम्भिक जीवन में जो सामाजिक-राजनीतिक बदलाव देखे, उनका असर उसके व्यक्तित्व और विचारों पर होना स्वाभाविक ही था।

अमन मदान की इसी बात को शरद चन्द्र बेहार ने अपने लेख 'शिक्षा नीति निर्माता की खोज : मैकॉले के बहाने' में प्रकारान्तर से पर्याप्त विस्तार से लिखा है। यद्यपि अमन मदान मैकॉले को उस काल की सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं के बीच से गुज़रते और वैचारिक आकार ग्रहण करते एक प्रशासक के रूप में चित्रित करते हैं, जबकि बेहार अपने लेख में उसके निजी-पारिवारिक इतिहास को पेश करते हैं। और फिर मैकॉले को नीति निर्माता के रूप में समझने के क्रम में वह "समूचे प्रसंग में, सम्पूर्ण पार्श्वभूमि और समकालीन (तत्कालीन?) प्रवृत्तियों से समझने का गम्भीर प्रयत्न" (पृष्ठ 108) की विवेचना करते हैं। इस प्रक्रिया में बेहार सटीक शब्दों में एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं जो शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले हर व्यक्ति को जानना ज़रूरी है–

"शिक्षा की नीति चाहे कुछ भी हो, शिक्षा की उत्पत्ति और उपयोगिता ही शिक्षा प्राप्त करने वालों को प्रभावित करने, बदलने और नियंत्रित करने में निहित है। शिक्षा को परिवर्तन के माध्यम के रूप में स्वीकार करते समय हम इस बात को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि परिवर्तन का मतलब ही शिक्षित होने वाले को शिक्षा देने वाले की इच्छा के अनुरूप बदलना है, जिसमें प्रभावित करने और किसी सीमा तक नियंत्रित करने की इच्छा शामिल है।"

बेहार की टिप्पणी को पाओलो फ्रेरे के उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र के समानान्तर देखना शिक्षा के अध्येताओं के लिए रोचक हो सकता है। वह कहते हैं–

"उत्पीड़न– अर्थात् अत्यधिक नियंत्रण– मृत्यु से प्रेम करना है। वह जीवन-प्रेम से नहीं, बल्कि मृत्यु-प्रेम से पोषित होता है। शिक्षा की बैंकीय अवधारणा भी, जो उत्पीड़न का हित साधन करती है, मृत्यु-प्रेमी होती है।... वह चिन्तन और कर्म को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, और उनकी सृजनात्मक शक्ति को अवरुद्ध करती है।"[3]

यद्यपि बेहार समूचे शिक्षा तन्त्र की प्रकृति के नियन्त्रणकारी होने की बात कर रहे हैं, जबकि फ्रेरे शिक्षाशास्त्र में अन्तर्निहित नियन्त्रणकारी तत्त्वों की। लेकिन ज़ाहिर है कि दोनों ही माध्यमों से स्कूली शिक्षा व्यक्ति के मानस और विचारों को और इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार और कर्मों के साथ-साथ सपनों और आकांक्षाओं को भी नियन्त्रित तो करती ही है।

"उत्पीड़न— अर्थात् अत्यधिक नियंत्रण— मृत्यु से प्रेम करना है। वह जीवन–प्रेम से नहीं, बल्कि मृत्यु–प्रेम से पोषित होता है। शिक्षा की बैंकीय अवधारणा भी, जो उत्पीड़न का हित साधन करती है, मृत्यु–प्रेमी होती है।... वह चिन्तन और कर्म को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, और उनकी सृजनात्मक शक्ति को अवरुद्ध करती है।"

सी एन सुब्रमण्यम अपने लेख में जिस प्रकार के विकल्प को खड़ा करने का इशारा करते हैं, उसके टिक न पाने का एक बड़ा कारण शायद बेहार की टिप्पणी में ही निहित है। साथ ही कालू राम शर्मा अपने लेख का उपसंहार करते हुए होशंगाबाद विज्ञान और प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम जैसे नवाचारों के 'सरकार द्वारा कुचल दिए जाने' (पृष्ठ 142) की जो रोषभरी पीड़ा ज़ाहिर कर रहे हैं, उसका जवाब भी काफ़ी हद

3. पाओलो फ्रेरे, उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र, ग्रन्थ शिल्पी, 1996, पृष्ठ 58.

तक उक्त टिप्पणी में खोजा जा सकता है।

शिक्षा को उत्पादक कौशलों के साथ जोड़कर आर्थिक स्वावलम्बन के ज़रिए स्वराज यानी नियन्त्रण से मुक्ति हासिल करने वाली शिक्षा की योजना, मोहनदास करमचन्द गाँधी की नई तालीम का एक उदात्त विचार था। ज्योतिराव फुले और भीमराव अम्बेडकर ने आधुनिक अँग्रेज़ी शिक्षा को ब्राह्मणवाद के शोषणकारी नियन्त्रण से मुक्त होने के अनिवार्य माध्यम के रूप में स्वीकार किया। इस लिहाज़ से यह दुविधा बनी ही रहती है कि स्कूली शिक्षा के ज़रिए होने वाले नियन्त्रण या मुक्ति को हम वस्तुपरक (objective) ढंग से देखें या फिर व्यक्तिपरक (subjective) नज़रिए से।

शिक्षा को उत्पादक कौशलों के साथ जोड़कर आर्थिक स्वावलम्बन के ज़रिए स्वराज यानी नियन्त्रण से मुक्ति हासिल करने वाली शिक्षा की योजना, मोहनदास करमचन्द गाँधी की नई तालीम का एक उदात्त विचार था।

मैकॉले का एक व्यक्ति, एक विद्वान और एक प्रशासक के रूप में विकास, उसके समय में ब्रिटेन और भारत की परिस्थितियाँ और चल रही बहसें और फिर उसके मिनट्स को एक व्यापक और सिलसिलेवार ऐतिहासिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखकर मैकॉले के बारे में अपनी एक व्यवस्थित समझ बनाने के लिए पाठकों के लिए यह उपयोगी होगा कि वे शरद चन्द्र बेहार, अमन मदान और सी एन सुब्रमण्यम के लेखों को एक साथ रखकर पढ़ें।

'भारतीय शिक्षा में ऐलफिन्सटन का दख़ल' (लेखक– हृदय कान्त दीवान और रमा कान्त अग्निहोत्री) प्रकारान्तर से लेखकद्वय के पिछले आलेख 'ऐलफिन्सटन एवं मैकॉले के निहितार्थ' का ही विस्तार है। आलेख के आरम्भ में ही वे एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभासी परिस्थिति पाठकों के सामने पेश करते हैं–

"शिक्षा के ढाँचे व उसकी प्राथमिकताओं की जो दिशा ऐलफिन्सटन के विचारों में दिखती है और जिसके बारे में हम कहते हैं कि उसी ने, उन्हें तय किया वे आज भी जारी हैं। वैसे तो उनके सिद्धान्तों से आज के ढाँचे का शाब्दिक विरोध है, किन्तु व्यवहार में नहीं।... फर्क सिर्फ यह है कि ऐलफिन्सटन जिन पारम्परिक, धार्मिक व रीति-रिवाजों के प्रतीक व उनकी मान्यताओं की जड़ को धीरे-धीरे हटाना चाहता था वह और सुदृढ़ ही हुई हैं। आज भी देश के शिक्षा महाविद्यालय हिन्दू उच्च जाति के प्रतीकों से ओतप्रोत हैं और उनमें काम करने वाले अधिकांश प्राध्यापक ऊँची जातियों से ही हैं।" (पृष्ठ 149)

लेखकद्वय ऐलफिन्सटन के सिद्धान्तों के शाब्दिक विरोध और व्यावहारिक स्वीकार्यता की बात कर रहे हैं। यह शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए वाक़ई विचारणीय मसला है। उसमें दो बातें और जोड़ देनी चाहिए– एक तो यह कि बात सिर्फ़ शिक्षा महाविद्यालयों की नहीं, बल्कि समूचे शिक्षा तन्त्र में, ख़ासतौर पर निर्णयकारी पदों पर हिन्दू उच्चजातीय पुरुषों का वर्चस्व है, और दूसरी यह कि पिछले 2-3 दशकों में दक्षिणपन्थी राजनीति के क्रमिक उभार का एक असर 'संस्कृतिकरण'? के रूप में सामने आया है। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्मग्रन्थों में शूद्र और अस्पृश्य मानी जाने वाली जातियों के साथ-साथ अनुसूचित जनजाति के भी कई शिक्षक-प्राध्यापक हिन्दू सवर्णों के रीति-रिवाजों का बढ़-चढ़ कर न सिर्फ़ शिक्षा संस्थानों में पालन करते हुए नज़र आते हैं, बल्कि अपने सजातीय विद्यार्थियों से भी उसे अपनाने का आग्रह करते हैं।

ऐलफिन्सटन के मिनट्स में सुझाए शिक्षा के ढाँचे की तुलना आज के शिक्षा तन्त्र से करते हुए लेखकद्वय कहते हैं–

"जिस तरह का दृष्टिकोण शिक्षा के ढाँचे में शामिल अलग-अलग व्यक्तियों के प्रति ऐलफिन्सटन का था वही आज भी दिखाई देता है। ऐसी व्यवस्थाएँ बनाने की कल्पना बढ़ ही रही है, जिसमें स्कूली स्तर पर किए गए कार्य का निरीक्षण व मॉनिटरिंग हो। गौर से देखें तो आज के ढाँचों की संरचना व कार्यपद्धति, पहल, अपने सोच, कार्य विधि पद्धति व लक्ष्य निर्धारण ऐलफिन्सटन की कल्पना से भी बहुत ज़्यादा बन्धन लगाने वाली है। ऐलफिन्सटन को तो शायद अविश्वास ही था, पर आज के संचालकों में शिक्षकों व अन्य छोटे स्तर के अधिकारियों की निष्क्रियता, गैर-काबिलियत, उद्देश्यहीनता और हर स्तर की गैर-ईमानदारी पर पक्का यकीन है।" (पृष्ठ 150-151)

आज सरकारी और ग़ैर सरकारी शालाओं तथा अन्य शिक्षा संस्थानों में हाज़िरी के लिए अँगूठे की छाप लेने वाली मशीनों और क्लोज़ सर्किट कैमरे से लेकर निरीक्षण-मॉनिटरिंग के बढ़ते प्रचलन के पीछे अधीनस्थों के प्रति यक़ीन न होने का भाव ही झलकता है। नियमित अन्तराल पर आँकड़े, तालिकाएँ और विवरणात्मक रिपोर्ट भेजा जाना वस्तुस्थिति पता करने और प्रगति को दर्ज करने का एक तरीक़ा बेशक हो सकता है, पर कहीं-न-कहीं शिक्षा प्रशासकों के मानस में यह 'नज़र रखने' और 'नियन्त्रित करने' का माध्यम भी है।

हम जानते हैं कि कोई भी केन्द्रीय तंत्र किन्हीं भी प्रशासकीय ढाँचों के बग़ैर चल नहीं सकता। शिक्षा का आमूल विकेन्द्रीकरण करना यानी शिक्षा को सरकार का विषय न मानकर उसे स्थानीय समाज के हाथों में सौंप देना अपने-आप में एक क्रान्तिकारी विचार है। यह एक विकल्प हो सकता है लेकिन प्रश्न यही है कि हम इस विकेन्द्रीकरण से क्या हासिल करना चाहेंगे?

प्रस्तुत किताब में यह लेख अपनी सहज भाषा और इतिहास-वर्तमान को साथ-साथ लेकर चलने की लेखन शैली की वजह से तुलनात्मक रूप से अधिक पठनीय और सुगम है। इसलिए पाठक इससे जुड़ा रह सकता / सकती है और अपने काम और परिवेश को देखने के लिए इसे एक सन्दर्भ बिन्दु या आईने के रूप में इस्तेमाल कर सकता / सकती है। जैसे– शिक्षा के सार्वजनीकरण (समाज के ग़रीब और वंचित तबक़ों तक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की पहुँच के विशेष सन्दर्भ में) पर विमर्श के बारे में लेखक कहते हैं–

आज सरकारी और ग़ैर सरकारी शालाओं तथा अन्य शिक्षा संस्थानों में हाज़िरी के लिए अँगूठे की छाप लेने वाली मशीनों और क्लोज़ सर्किट कैमरे से लेकर निरीक्षण–मॉनिटरिंग के बढ़ते प्रचलन के पीछे अधीनस्थों के प्रति यक़ीन न होने का भाव ही झलकता है।

"...वह (ऐलफिन्सटन) यह भी कहता है कि गरीब लोगों की खुशी उनको प्राप्त शिक्षा पर निर्भर है और शिक्षा उन्हें समझदारी, स्वतंत्रता और आत्म सम्मान देती है। उनको यह भी लगता है कि बाल विवाह, बढ़ती जनसंख्या, बचत का दुरुपयोग व साहूकारों के सामने असहायता का अहसास, सभी कुछ शिक्षा से दूर किए जा सकते हैं।... इसीलिए उनको शिक्षा की जरूरत है। यह तर्क पिछले बीस साल में तो कई बार दिया ही गया होगा ही शायद आज भी यह तर्क सभी के लिए शिक्षा क्यों

ज़रूरी है पर बहस के दौरान दिया जा सकता है।" (पृष्ठ 154)

लेख में ऐलफिन्सटन के विचारों की सीमाओं और उलझनों को भी दर्ज किया गया है, जैसे– स्थानीय भाषा और स्थानीय ज्ञान के मसले पर उसकी राय उलझी हुई नज़र आती है। अन्त में लेखकद्वय ऐलफिन्सटन को उसकी ऐतिहासिक परिस्थिति में रखकर देखने-जाँचने का सुझाव देते हैं (यह किताब ही इस भूमिका से प्रस्तुत की गई है), न कि एक षड्यन्त्रकारी के रूप में।

वरदराजन नारायण का शोधपरक और विद्वत्तापूर्ण आलेख 'ओरियंटलिस्ट : एंग्लिसिस्ट बहस; समृद्धता की पड़ताल' अगर पुस्तक की शुरुआत में दिया जाता तो भारत में शिक्षा कैसी होनी चाहिए, किस भाषा में होनी चाहिए, शिक्षा देने का दायित्व किसका होना चाहिए...? जैसे मूलभूत प्रश्नों पर जो ऐतिहासिक विमर्श हुआ है, उसका वृहद परिचय पाठकों को आरम्भ में ही हो जाता। इससे उन्हें शेष लेखों को भी उचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने में मदद मिल सकती थी।

पुस्तक में दलित विमर्श का प्रतिनिधि स्वर डॉ वेददान सुधीर का आलेख 'मैकॉले और भारतीय शिक्षा : एक विश्लेषण' है, जिसमें वह ब्राह्मणवाद की कठोर आलोचना करते हुए दलितों के उत्पीड़न से मुक्ति के एक सफल माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी शिक्षा को देखते हैं।

पुस्तक में दलित विमर्श का प्रतिनिधि स्वर डॉ वेददान सुधीर का आलेख 'मैकॉले और भारतीय शिक्षा : एक विश्लेषण' है, जिसमें वह ब्राह्मणवाद की कठोर आलोचना करते हुए दलितों के उत्पीड़न से मुक्ति के एक सफल माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी शिक्षा को देखते हैं।

अपूर्वानन्द अपने लेख 'मैकॉले बाधा और हिन्दी' में लीक से हटकर हिन्दी की बात करते हैं, वह भी उस हिन्दी की जो अन्य भारतीय भाषाओं को निगल जाने वाली औपनिवेशिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। वह कहते हैं–

"हिन्दी और भावना के सम्बन्ध के पीछे गलतफहमी यह रही है कि इस क्षेत्र की बहुलांश आबादी की मातृभाषा हिन्दी है। खड़ी बोली हिन्दी उन लोगों के लिए अभी भी सीखी जाने वाली और कामकाजी भाषा है जो घरों और गाँवों या मोहल्लों में ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, बुन्देली, राजस्थानी, हो, मुण्डारी, संथाली आदि बोलते हैं। हिन्दीवासी मन ही मन इन सारी भाषाओं की मृत्यु की कामना करते आए हैं, जिससे हिन्दी का मार्ग निष्कंटक हो जाए लेकिन वह अब तक नहीं हो पाया है।... एक लम्बे समय तक शिक्षा और ज्ञान की निगाहों से ओझल आदिवासी भाषाएँ भी राजकीय साधनों पर अपना दावा पेश करने लगी हैं।" (पृष्ठ 252)

यह सिर्फ़ हिन्दी की बात नहीं। गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी, कर्नाटक में कन्नड़... ऐसी तमाम 'प्रादेशिक भाषाओं' ने भी अपने-अपने इलाक़े की स्थानीय भाषाओं को निगल जाने वाली उस औपनिवेशिक प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है। राजस्थान में मेवाड़ी, मारवाड़ी आदि भाषाओं को 'समेकित' करके 'राजस्थानी' नामक भाषा गढ़ने की क़वायद जारी है। छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश में स्कूलों की 'माध्यम भाषा' हिन्दी होने से गोण्डी, हलबी आदि भाषा बोलने वाले बच्चों का प्राथमिक शिक्षण काफ़ी प्रभावित हो रहा है। व्यावहारिक विकल्प के अभाव में यह सब देखकर भी अनदेखी करना शायद शिक्षाविदों की लाचारी है।

आगे अपूर्वानन्द कहते हैं–

हिन्दी प्रेमियों के लिए शायद

उपरोक्त दोनों टिप्पणियाँ भावनात्मक चोट पहुँचाने वाली हो सकती हैं, किन्तु त्रासद वस्तुस्थिति यही है। अपूर्वानन्द सही कहते हैं कि हिन्दी की लड़ाई स्थानीय भाषाओं से नहीं, अँग्रेज़ी से है। हिन्दी को अकादमिक भाषा और ज्ञान निर्माण की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित न हो पाने की पीड़ा इस लेख में नज़र आती है।

पाठक इससे वाक़िफ़ होंगे कि शालाओं की 'माध्यम भाषा' का विमर्श विकसित होकर अब बहुभाषिता के महत्त्व, कक्षा के बहुभाषीय स्वरूप की मान्यता और स्वीकार्यता एवं शिक्षण प्रक्रिया में बहुभाषी तत्त्वों के समावेश तक पहुँच गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019 में इसे सैद्धान्तिक रूप से अपनाया गया है और उससे आगे बढ़कर व्यवहार में लाने का संकल्प भी नज़र आता है।

"...जहाँ तक संभव हो– कम से कम ग्रेड 5 तक लेकिन वांछनीय तो यह है कि यह ग्रेड 8 तक हो– सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में होने वाले संवाद का माध्यम मातृ भाषा / घर की भाषा/ स्थानीय भाषा में होंगे। इसके बाद, घर की भाषा / मातृ भाषा को लगातार एक भाषा के रूप में जहाँ तक संभव हो सिखाना चाहिए। इसी प्रकार उच्च दर्जे की पाठ्य-पुस्तकें, जिसमें विज्ञान भी शामिल है, जरूरत के मुताबिक और जितना संभव है स्थानीय भाषा / मातृ भाषा में मुहैया करवाई जाएँगी।"[4]

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019 में आगे कहा गया है–

"शिक्षाक्रम एक लचीली-भाषा एप्रोच को बढ़ावा देगा। कक्षा में इसे प्रोत्साहित करेगा। शिक्षकों को प्रोत्साहित किया जाएगा कि वे द्विभाषी एप्रोच को अपनाएँ ना केवल संवाद में बल्कि सीखने-सिखाने की सामग्री भी द्विभाषी हो, ताकि जिन विद्यार्थियों की घर की भाषा और स्कूल की भाषा अलग है उन्हें स्कूल की भाषा में पारंगत होने में सहायता मिले।"[5]

ऐलफिन्सटन और मैकॉले भी भारत में अँग्रेज़ी शिक्षा के ज़रिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार हेतु जिस तरह के सुझाव दे रहे थे, लगभग उसी तरह के सुझाव आपको प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2019) के प्रारूप में भी नज़र आएँगे, जैसे– स्थानीय शिक्षित युवकों को शिक्षक बनाना, स्थानीय भाषाओं में आधुनिक ज्ञान का अनुवाद करके उसका प्रसार करना, स्थानीय समुदाय को शाला प्रशासन के कुछ हिस्सों में शामिल करना, वग़ैरह। कहा जा सकता है कि लगभग दो सदियों पहले ऐलफिन्सटन और मैकॉले के दिए प्रस्ताव भारत के वर्तमान शिक्षा नीति निर्माताओं को आज भी प्रासंगिक लगते हैं और भावी शिक्षा की रूपरेखा बनाते वक़्त भी वे इन्हीं प्रस्तावों के इर्दगिर्द घूमते नज़र आते हैं।

"हिन्दी का यह दावा कि वह करोड़ों लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है, व्यर्थ है क्योंकि उसमें ज्ञान का कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं होता।"

किताब की प्रस्तावना बहुत ही लम्बी है (37 पृष्ठ) और कहीं-कहीं अप्रासंगिक, इसलिए पढ़ते हुए उबाऊ लगने लगती है। प्रस्तावना की शुरुआत में ही इस मत का खण्डन कर दिया

4. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019; मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार; पृष्ठ 107.

5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019; मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार; पृष्ठ 107.

गया है कि अँग्रेज़ों के आगमन से पहले देशज शिक्षा की कोई वृहद और समावेशी व्यवस्था थी। देखें–

> *“बात को आगे बढ़ाने से पहले एक छोटी टिप्पणी उस समय की शिक्षा व्यवस्था के बारे में अति आवश्यक है, क्योंकि बहस का आरम्भ तो वहीं से है। ऐसा बहुत बार सुनने में आता है कि उस समय भी बहुत से स्कूल थे या कई बार यह भी कहा जाता है कि आज जैसे स्कूल तो नहीं थे, किन्तु तब शिक्षक गाँव-गाँव में जाते और वहाँ पढ़ाते थे। इन सबके बारे में शायद और गहरी पड़ताल की आवश्यकता है फिर भी यह तो प्रतीत होता है कि शिक्षा के मौके सबके लिए नहीं थे। जहाँ ज़्यादा बच्चों के लिए यह मौक़े उपलब्ध थे भी वहाँ सभी को इस तरह से शिक्षित नहीं किया जाता था। यह भी कहा जा सकता है कि ज़्यादातर बच्चों को पढ़ने के अवसर मन्दिरों और मदरसों में ही मिलते थे। यहाँ जाहिर है कि स्कूल के समय का एक बड़ा हिस्सा धर्म सम्बन्धी जानकारी व कर्मकाण्ड के लिए था।” (पृष्ठ 8-9)*

कुल मिलाकर, शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों, विद्यार्थियों और आम जिज्ञासु पाठकों के लिए यह पुस्तक काफ़ी उपयोगी है। लेखकों और शोधकर्ताओं के लिए यह पुस्तक नि:सन्देह एक उपयोगी स्रोत सामग्री सिद्ध होगी।

उपरोक्त कथन में दावे किए गए हैं कि अँग्रेज़ों से पहले कोई व्यापक देशज शिक्षा व्यवस्था नहीं थी या अगर थी भी तो वह काफ़ी सीमित थी। आश्चर्य है कि “प्रतीत होता है...”, “कहा जा सकता है...” जैसी अनिश्चयकारी शब्दावली का उपयोग करते हुए और बग़ैर किसी स्रोत का हवाला दिए ये एकपक्षीय दावे कर दिए गए हैं। “शिक्षा के मौक़े सबके लिए” होना भी एक अबूझ पहेली है, या यह एक ऐसा जुमला है जिसे विविध अर्थों और उद्देश्यों के साथ विविध मौक़ों पर कभी तलवार तो कभी ढाल की तरह इस्तेमाल किया जाता है। क्या आज इक्कीसवीं सदी के भारत में भी “शिक्षा के मौक़े सबके लिए”– यह दावा किया जा सकता है?

इस सन्दर्भ में बेहतर होता कि धर्मपाल व पोरमेश आचार्य के शोधपरक कार्य के साथ-साथ विलियम एडम, लिटनर जैसे अँग्रेज़ अधिकारियों की रिपोर्टों में दिए गए तथ्यों और आँकड़ों को भी एक नज़र देख लिया गया होता और उनका उल्लेख करते हुए यथोचित तथ्यात्मक व तार्किक खण्डन किया गया होता।

पुस्तक के शेष लेख भी कुछ हद तक पाठकों के लिए उपयोगी और ज्ञानवर्धन करने वाले हैं, लेकिन अधिकांश जगह पर विषय, विषय-वस्तु और प्रस्तुति में दोहराव करते नज़र आते हैं। सम्पादकों द्वारा अधिकाधिक लेखकों को स्थान देने का लोभ संवरण करते हुए पुस्तक का आकार कुछ छोटा रखना पुस्तक की पठनीयता की दृष्टि से शायद बेहतर होता।

पुस्तक के अन्त में दिए गए चारों अनूदित दस्तावेज़ बहुत ही उपयोगी हैं। बेहतर होता कि पुस्तक की रूढ़िवादी रचना में नवाचारी बदलाव करते हुए दस्तावेज़ों को सबसे पहले भाग के रूप में दिया जाता, फिर क्रमशः आलेख होते, और जो विस्तृत प्रस्तावना है वह सम्पादित रूप में उपसंहार के रूप में पुस्तक के अन्त में दी जाती। परिशिष्ट के रूप में भारत में शिक्षा के विकास क्रम की प्रमुख घटनाओं को एक कालानुक्रम (chronology) के रूप में दिया जाना

पाठकों के लिए मददगार होता।

कुल मिलाकर, शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों, विद्यार्थियों और आम जिज्ञासु पाठकों के लिए यह पुस्तक काफ़ी उपयोगी है। लेखकों और शोधकर्ताओं के लिए यह पुस्तक निःसन्देह एक उपयोगी स्रोत सामग्री सिद्ध होगी।

अमित कोहली घुमक्कड़ी करने और पढ़ने के शौकीन हैं। तकरीबन 15 साल एकलव्य फाउण्डेशन के साथ विविध स्तरों पर काम किया है। शिक्षा के इतिहास, डिस्कूलिंग एवं वैकल्पिक शिक्षा में विशेष रुचि है। अमित स्वयं को वैचारिक रूप से मो.क. गाँधीजी के करीब पाते हैं।
सम्पर्क : amit1205@gmail.com

अल्प जानकारी के माहौल में स्कूल चयन

प्रचलित अवधारणा एवं चार राज्यों में इसकी ज़मीनी हक़ीक़त का अध्ययन

रिसर्च ग्रुप | अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन

शिक्षा के क्षेत्र में ज़मीनी अध्ययन

स्कूली शिक्षा के बाज़ार-आधारित नज़रिए में स्कूल चयन अथवा स्कूल च्वॉइस का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। मोटेतौर पर स्कूल चयन का मतलब होता है– स्कूल व्यवस्था को सुधारने के प्राथमिक ज़रिए के तौर पर सार्वजनिक पैसे से चलने वाले स्कूलों के विकल्पों की व्यवस्था करना व उनको आगे बढ़ाना। अध्ययनों ने दिखाया है कि इस तरह के बाज़ार-आधारित उपाय अमरीका जैसे देश में कारगर नहीं हुए हैं (राविच, 2010, 2013) और जिन स्कूल प्रणालियों में ग़ैर बराबरियाँ देखने को मिलती हैं वहाँ तो और भी नहीं (ओईसीडी, 2016: 123-127)।

स्कूल चयन के विचार में यह धारणा निहित है कि निजी स्कूल सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के व्यावहारिक और बेहतर विकल्प हो सकते हैं। लेकिन निजी स्कूलों से होने वाले लाभ का जो दावा किया जाता रहा है वह पीसा (PISA) की हाल की रिपोर्ट में ग़लत साबित हो चुका है और इसका ज़िक्र दुनिया भर की तमाम स्कूल प्रणालियों में सीखने की स्थिति के बारे में आई विश्व बैंक की रिपोर्ट में भी है (ओईसीडी, 2016: 126; विश्व बैंक, 2018: 176)। इन रिपोर्टों से जो आनुभविक निष्कर्ष सामने निकलकर आते हैं वे शिक्षा के बुनियादी दार्शनिक विचारों से भी मेल खाते हैं, ख़ासतौर से इस विचार से कि शिक्षा कोई बिकने वाली चीज़ नहीं है (विंच, 1996)।

भारत में 1990 के दशक से स्कूली व्यवस्था का ख़ासा विस्तार हुआ है। पिछले 15 सालों में कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूलों के दाख़िलों में तेज़ बढ़ोतरी हुई है जबकि सार्वजनिक (सरकारी) स्कूलों में भी पहुँच बढ़ी है, ख़ासकर वंचित तबकों के बच्चों की। स्कूलों के इस तरह के बहुत ही तेज़ और अकसर अनियमित विस्तार के चलते अभिभावकों के सामने चयन के ज़्यादा विकल्प ज़रूर हैं, लेकिन यह एक ऐसे माहौल में हैं जहाँ स्कूलों और स्कूली शिक्षा के बारे में जानकारी का अभाव है। इसके साथ ही दुनिया भर में इससे जुड़े तमाम अनुभवों को नज़रअन्दाज़ करते हुए भारत में स्कूली शिक्षा को लेकर होने वाली बहसों में स्कूल चयन और गरीबों के लिए कम फ़ीस वसूलने वाले निजी स्कूल जैसे बाज़ार-आधारित उपायों को निर्णायक भूमिका में पेश किया जाता है।

इन तमाम मुद्दों ने हमें तीन स्तरीय ज़मीनी अध्ययन के लिए प्रेरित किया। ख़ासतौर से ग्रामीण भारत के सन्दर्भ में अभिभावक स्कूलों का चयन कैसे करते हैं, इसे थोड़ा गहराई से समझने के लिए चार राज्यों के 10 ज़िलों में 121 सरकारी व कम फ़ीस वाले निजी स्कूलों का अध्ययन किया गया जिसमें 1210 परिवार शामिल थे।

इस अध्ययन से यह पता चलता है कि स्कूल चयन एक जटिल प्रक्रिया है। अभिभावक द्वारा स्कूल के चुनाव को तमाम किस्म के कारक प्रभावित करते हैं। सीखने-सिखाने को लेकर उनके विचार, अनुशासन व स्कूलों में बच्चों की सुरक्षा जैसे तत्त्व सभी अभिभावकों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। जो अभिभावक अपने बच्चों

को सरकारी स्कूलों में भेजते हैं वे ख़र्च को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, वहीं जो अभिभावक अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजते हैं वे 'अंग्रेज़ी माध्यम' को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

इस अध्ययन से यह भी पता चलता है कि अभिभावकों द्वारा कम फ़ीस लेने वाले स्कूलों का चुनाव अकसर सटीक जानकारी पर आधारित नहीं होता। बहुत सारे अभिभावक यह मानते हैं कि वे अपने बच्चों को अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल में भेज रहे हैं, जबकि हक़ीक़त में ऐसे ज़्यादातर स्कूल अंग्रेज़ी माध्यम नहीं होते। इसी तरह, अकसर शिक्षकों की योग्यता को महत्त्वपूर्ण मानने वाले अभिभावक अपने बच्चों को ऐसे स्कूलों में भेज बैठते हैं जहाँ शिक्षक अल्प प्रशिक्षित होते हैं।

शैक्षणिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण लेकिन लोगों की आकांक्षाओं से जुड़े कारकों पर अभिभावकों के ज़ोर देने और उससे जुड़ी सूचनाओं की कमी के पीछे कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूलों द्वारा की जाने वाली मार्केटिंग की भूमिका दिखाई देती है। इस अध्ययन से यह पता चलता है कि स्कूलों द्वारा अपनी मार्केटिंग के लिए किए जाने वाले प्रयास और अभिभावकों की सांस्कृतिक आकांक्षाएँ एक-दूसरे को मजबूत करती हैं और एक ऐसी परिस्थिति बनाती हैं जिसमें वास्तविक शैक्षणिक परिणामों को कम महत्त्व दिया जा सकता है या उससे भी बुरा यह कि उनको बिल्कुल दरकिनार किया जा सकता है।

इस अध्ययन से यह पता चलता है कि स्कूलों द्वारा अपनी मार्केटिंग के लिए किए जाने वाले प्रयास और अभिभावकों की सांस्कृतिक आकाँक्षाएँ एक-दूसरे को मजबूत करती हैं और एक ऐसी परिस्थिति बनाती हैं जिसमें वास्तविक शैक्षणिक परिणामों को कम महत्त्व दिया जा सकता है या उससे भी बुरा यह कि उनको बिल्कुल दरकिनार किया जा सकता है।

मोटे तौर पर यह अध्ययन दुनिया भर में हुए दूसरे अध्ययनों को सही साबित करता है जिनमें यह दिखाया गया है कि स्कूल व्यवस्था में सुधार के लिए बाज़ार-आधारित तरीक़ों को बग़ैर किसी आलोचनात्मक समझ के सरलीकृत ढंग से स्वीकार कर लेना न सिर्फ़ अपर्याप्त है, बल्कि इसका स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता पर नकारात्मक प्रभाव भी पड़ सकता है।

1. प्रस्तावना

भारत में प्रारम्भिक स्कूल व्यवस्था का 1990 के दशक से ख़ासा विस्तार हुआ है। यह विस्तार सरकारी स्कूल व्यवस्था की पहुँच में हुई बढ़ोतरी और उसके समानान्तर निजी स्कूलों की संख्या में हुई बढ़ोतरी में देखने को मिलता है। इसके बावजूद सरकारी स्कूल व्यवस्था अभी भी स्कूली शिक्षा प्रदान करने का प्रमुख ज़रिया है, ख़ासतौर से ऐतिहासिक रूप से हाशियाकृत जनसमूहों के लिए और उन इलाक़ों के लिए जहाँ अब तक स्कूली शिक्षा की पहुँच नहीं थी। निजी स्कूल व्यवस्था में होने वाली ज़्यादातर बढ़ोतरी के पीछे कम फ़ीस लेने वाले स्कूलों की संख्या में हुई बढ़ोतरी है[1]— जो पहले शहरों और उनके आसपास के इलाक़ों में और उसके बाद ग्रामीण इलाक़ों में भी कई जगहों पर हुई है। इस तेज़ और अकसर अपर्याप्त नियन्त्रण में होने वाले स्कूल विस्तार के चलते अभिभावकों के सामने चयन के विकल्प तो बढ़े हैं, लेकिन एक ऐसे माहौल में जहाँ सूचनाओं का अभाव है।

यही वह सन्दर्भ है जिसमें शैक्षणिक नीति सम्बन्धी बहसों में स्कूल चयन को लेकर तमाम विरोधी नज़रिए व तर्क सामने आए हैं। इनमें से एक किस्म के तर्कों में स्कूली शिक्षा को लेकर बाज़ार-आधारित नज़रिए पर ज़ोर डाला जाता है

1. कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूलों को 'बजट निजी स्कूल' या 'सस्ते निजी स्कूल' भी कहते हैं। इस अध्ययन में निजी स्कूलों में ऐसे स्कूल भी शामिल हैं।

जिसमें अलग-अलग स्कूलों के बीच अभिभावकों द्वारा चयन से स्कूलों के बीच आगे बढ़ने की होड़ सुनिश्चित होगी जिससे अप्रभावी स्कूल ख़त्म हो जाएँगे। इस विमर्श में अप्रभावी स्कूलों का निहितार्थ असल में सरकारी स्कूल ही हैं (मिसाल के लिए, शाह व मिरांडा, 2013)। लेकिन कई अन्य लोगों ने इस विचार की आलोचना की है कि अभिभावकों द्वारा चयन से स्कूली शिक्षा के परिणामों में उत्कृष्टता आएगी। इनके अध्ययनों में यह कहा गया है कि अभिभावकों के स्कूल चयन को लेकर यह जो सरलीकृत समझ है उसमें इस बात को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है कि वंचित समुदायों के सन्दर्भ में चयन की प्रक्रिया किस तरह काम करती है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात जो इनमें दरकिनार की जाती है वह यह है कि पहले से ही स्तरीकृत स्कूली व्यवस्था के सन्दर्भ में इस तरह के प्रयास समतामूलक शिक्षा प्रदान करने की दिशा में नकारात्मकता लाते हुए दिखते हैं (हरमा, 2011; श्रीवास्तव, 2007)। इसके अलावा इस मामले में सबसे भरोसेमन्द साक्ष्य बताते हैं कि जहाँ तक नतीजों का सवाल है– सरकारी स्कूलों और कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूलों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है (चुडगर व क्विन, 2012; करोपाडी, 2014; मुरलीधरन व सुंदररामन, 2015)।

> इस अध्ययन के लिए उन जगहों का सोद्देश्यपूर्ण चयन किया गया जिनके आसपास कई सरकारी व निजी स्कूल हों। हालाँकि यह सर्वेक्षण उन ज़िलों, राज्यों या पूरे देश का प्रतिनिधि नहीं है लेकिन इससे इसकी झलक तो मिलती ही है कि ग्रामीण अंचलों में अभिभावकों का एक बड़ा हिस्सा स्कूल की गुणवत्ता को किस तरह से देखता है।

इस सन्दर्भ में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का रिसर्च ग्रुप (शोध समूह) कुछ अध्ययन कर रहा है जो सरकारी व निजी स्कूलों के बारे में जारी हालिया बहसों के लिए प्रासंगिक हैं। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि अभिभावक स्कूलों का चयन किस तरह से करते हैं, स्कूल के चयन में कौन-से कारक महत्त्वपूर्ण होते हैं, और इनका स्कूलों की वास्तविकता से क्या सम्बन्ध है।

यह करने के लिए हमने तीन चरणों का ज़मीनी अध्ययन किया। पहले हमने भारत के चार राज्यों में 10 ज़िलों के 25 अलग-अलग ग्रामीण इलाक़ों में रहने वाले 1210 परिवारों का अध्ययन किया ताकि स्कूल चयन के कारकों को और अभिभावक स्कूलों का मूल्यांकन किस तरह करते हैं, यह समझा जा सके। दूसरे चरण में हमने इन्हीं जगहों में स्थित 121 सरकारी व निजी स्कूलों के प्रधानाचार्यों और शिक्षक-शिक्षिकाओं का सर्वेक्षण किया। इसमें हमने स्कूलों की प्रक्रियाओं का अवलोकन किया ताकि स्कूलों के बारे में अभिभावकों के नज़रिए और स्कूलों में शिक्षा की हक़ीक़त के बीच कितना मेल है, इसका पता लगाया जा सके। इन आँकड़ों के विश्लेषण से हमें स्कूल चयन के स्वरूप और निजी स्कूलों की प्रक्रियाओं से जुड़ी कुछ दिलचस्प प्रवृत्तियाँ देखने को मिलीं। अन्तिम चरण में हमने विस्तृत गुणात्मक साक्षात्कारों का इस्तेमाल किया और कुछ विशिष्ट मसलों का परीक्षण किया। इन साक्षात्कारों के लिए अलग-अलग आय-समूहों में बच्चों को निजी व सरकारी स्कूल भेजने वाले अभिभावकों के नमूने लिए गए। साथ ही विभिन्न जगहों पर पहले दो चरणों में जिन निजी स्कूलों का अध्ययन किया गया था, उनमें से उन प्रधानाचार्यों व शिक्षकों का नमूना भी लिया गया जिनसे यह साक्षात्कार किए गए।

इस अध्ययन के लिए उन जगहों का सोद्‌देश्यपूर्ण चयन किया गया जिनके आसपास कई सरकारी व निजी स्कूल हों। हालाँकि यह सर्वेक्षण उन ज़िलों, राज्यों या पूरे देश का प्रतिनिधि नहीं है लेकिन इससे इसकी झलक तो

मिलती ही है कि ग्रामीण अंचलों में अभिभावकों का एक बड़ा हिस्सा स्कूल की गुणवत्ता को किस तरह से देखता है। साथ ही यह भी कि वह स्कूल चयन के बारे में क्या सोचता है और स्कूलों का चयन वह किस तरह से करता है।

इस अध्ययन से यह पता चलता है कि स्कूल चयन एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न अभिभावकों के लिए अलग-अलग कारक महत्त्वपूर्ण होते हैं। सीखने-सिखाने की गुणवत्ता अमूमन हर प्रकार के अभिभावकों के लिए महत्त्वपूर्ण कारक है। इसके अलावा कई अभिभावक अनुशासन और सुरक्षा को भी स्कूल चयन में महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं। जिन अभिभावकों ने निजी स्कूलों का चुनाव किया उनके लिए अंग्रेज़ी माध्यम ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था जबकि सरकारी स्कूलों का चयन करने वाले अभिभावकों के लिए ख़र्च ज़्यादा महत्त्वपूर्ण कारक था।

जहाँ तक आस-पड़ोस स्थित निजी व सरकारी स्कूल के बीच चुनाव का मामला है, इस अध्ययन में यह पाया गया कि अभिभावकों का चयन किसी एक तरह के स्कूल के पक्ष में नहीं है, चाहे वह निजी हो या सरकारी। पच्चीस गाँवों में यह देखा गया कि अभिभावकों द्वारा आस-पड़ोस के सरकारी स्कूल को पसन्द करने की उतनी ही सम्भावना थी जितनी कि निजी स्कूल को पसन्द करने की।

सर्वे के नतीजों के विश्लेषण से यह बात सामने आई कि कम फ़ीस वसूलने वाले निजी स्कूलों के मामले में स्कूल के बारे में अभिभावकों के नज़रिए और स्कूल की हक़ीक़त के बीच बड़ा अन्तर था। हालाँकि, अभिभावक यह बताते थे कि उनके बच्चे अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल में जा रहे हैं लेकिन असलियत में ऐसे ज़्यादातर बच्चे अंग्रेज़ी में पढ़ाई नहीं कर रहे थे। इसी तरह, हालाँकि अभिभावक यह बताते थे कि स्कूल का चयन करते समय वे शिक्षकों की योग्यता का ध्यान रखते थे लेकिन आमतौर पर वे ऐसे स्कूलों का चयन करते थे जहाँ के शिक्षक बाक़ी स्कूलों की तुलना में कम योग्यता रखते थे।

सर्वे के नतीजों के विश्लेषण से यह बात सामने आई कि कम फ़ीस वसूलने वाले निजी स्कूलों के मामले में स्कूल के बारे में अभिभावकों के नज़रिए और स्कूल की हक़ीक़त के बीच बड़ा अन्तर था। हालाँकि, अभिभावक यह बताते थे कि उनके बच्चे अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल में जा रहे हैं लेकिन असलियत में ऐसे ज़्यादातर बच्चे अंग्रेज़ी में पढ़ाई नहीं कर रहे थे।

गुणात्मक साक्षात्कारों से मिले आँकड़े स्कूलों के चयन की प्रक्रिया की जटिलता को पुष्ट करते हैं। तमाम ऐसी बातों के अलावा, अभिभावकों द्वारा शुरुआती चुनाव पर पुनर्विचार कर उसे बदलने, और एक ही श्रेणी के स्कूलों के बीच (यानी एक निजी स्कूल से दूसरे में) व अलग-अलग श्रेणी के स्कूलों (यानी निजी स्कूल से सरकारी स्कूल) के बीच अपने चयन में बदलाव लाना इन जटिलताओं को और भी उजागर करता है। यह भी देखने में आया कि कुछ अभिभावक अपने द्वारा चुने गए निजी स्कूल के बारे में राय बदलने के बावजूद सांस्कृतिक पूँजी जुटाने की इच्छा से उसी में बने रहते हैं।

इन गुणात्मक साक्षात्कारों से स्कूलों के प्रति अभिभावकों के नज़रिए और स्कूलों की वास्तविकता के बीच के अन्तर के सम्भावित कारणों का भी पता चलता है। एक तरफ़ यह

2. इस अध्ययन में शिक्षा की गुणवत्ता से आशय एक ऐसी निर्देशात्मक व बहुआयामी अवधारणा से है जिसमें शिक्षा व्यवस्था के बुनियादी तत्त्व शामिल हैं, जैसे कि उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षा पद्धति, मूल्यांकन, और स्कूली प्रक्रियाएँ (देखें, धनकर, 2002; विंच, 1996)। इन्हीं मानदण्डों के सन्दर्भ में जब गुणवत्ता के बारे में अभिभावकों की राय इन तत्त्वों से मेल नहीं खाती तो हम उनको ग़ैर-शैक्षणिक कहते हैं।

देखने को मिलता है कि निजी स्कूलों को लेकर अभिभावकों की आकांक्षा पर बच्चों के थोड़ा-बहुत अंग्रेज़ी और उचित ड्रेस व आचरण सीखने जैसे आकांक्षामूलक मापदण्डों का भारी प्रभाव होता है। इन मापदण्डों के बारे में माना जाता है कि इनसे सरकारी स्कूल जाने वाले ग़रीब परिवारों से सामाजिक दूरी बनेगी। दूसरी तरफ़ कम फ़ीस वसूलने वाले निजी स्कूल आस-पड़ोस के गाँवों से दाख़िले करवाने के लिए बड़े व्यवस्थित तरीक़े से अपनी मार्केटिंग और छवि बनाने का काम करते हैं। इन मार्केटिंग गतिविधियों में उन्हीं मापदण्डों को उभारा जाता है जिनकी आकांक्षा अभिभावक करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक पूँजी जमा करने की अभिभावकों की आकांक्षा और निजी स्कूलों की बाज़ार-केन्द्रित परिपाटियों, दोनों से ही साफ़ तौर पर गुणवत्ता के ग़ैर शैक्षणिक मापदण्डों की पुष्टि होती है।

2. पद्धति

यह अध्ययन चार राज्यों (छत्तीसगढ़, कर्नाटक, राजस्थान व उत्तराखण्ड) के दस जिलों में किया गया। यह वे जगहें हैं जहाँ अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की सक्रिय उपस्थिति है।[3] हर जिले से एक ब्लॉक का चयन किया गया और ज़्यादातर ब्लॉक वे हैं जिनमें उस जिले का मुख्यालय भी है। हर ब्लॉक में अध्ययन के लिए एक सीमित भौगोलिक दायरे के कुछ गाँवों को (आम तौर पर आस-पड़ोस के 2-3 गाँवों का समूह) पूर्व निर्धारित मानदण्डों के आधार पर चुना गया।[4] सर्वे में कुल 1210 परिवार और 121

तालिका-1 : अध्ययन में शामिल परिवार, बच्चे व स्कूल (जिलेवार)

जिले*	बलोदा बाज़ार	धमतरी	जाँजगीर-चाँपा	रायगढ़	रायपुर	यादगीर	टोंक	देहरादून	उधम सिंह नगर	बागेश्वर	कुल
गाँव	3	3	3	2	2	2	2	4	2	2	25
परिवार	120	120	121	120	120	121	120	120	128	120	1209
बच्चे	248	226	250	219	274	255	214	289	272	217	2464
सरकारी स्कूल	6	8	9	6	5	5	5	5	6	6	61
निजी स्कूल	2	5	9	4	3	7	12	6	4	8	60
सरकारी स्कूलों के शिक्षक	34	41	36	35	34	32	52	19	35	25	343
निजी स्कूलों के शिक्षक	28	53	74	50	55	57	147	63	29	116	672

* सभी जिलों में अध्ययन के लिए निश्चित किए गए इलाक़े ग्रामीण थे

3. अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन इन इलाक़ों में मुख्य रूप से सरकारी स्कूलों के शिक्षकों के सतत पेशेवर विकास के लिए आमतौर पर ऐसी प्रक्रियाओं व मंचों के माध्यम से काम करता है जिनमें शिक्षक स्वेच्छा से जुड़ सकते हैं। इन इलाक़ों में स्कूलों या परिवारों के साथ कोई ख़ास प्रत्यक्ष काम नहीं किया जाता।

4. इन मापदण्डों का उपयोग किया गया : (1) सरकारी व निजी स्कूलों का एक सन्तुलित मिश्रण जिसमें अमूमन 10 स्कूल थे, ताकि अध्ययन में सरकारी व निजी स्कूलों के विकल्पों में विविधता बनी रहे; (2) अध्ययन के लिए प्रासंगिक ग्रामीण समुदाय की आवागमन के साधनों तक पहुँच, ताकि ऐसे विशिष्ट दूर-दराज़ के गाँव नमूने में न शामिल हों जहाँ स्कूलों के ज़्यादा विकल्प न हों; (3) अमूमन 1500-1800 परिवारों की आबादी, ताकि हर इलाक़े में उपलब्ध संसाधनों और 120 परिवारों के नमूने के लक्ष्य के बीच एक सन्तुलन बन सके।

सरकारी व निजी स्कूल शामिल किए गए (देखें तालिका 1)।

अध्ययन के पहले भाग के लिए 'परिवार सर्वे टूल' (Family Survey Tool) का इस्तेमाल किया गया। यह सर्वे टूल इस तरह से बनाया गया था कि शोध के मुख्य सवालों के बारे में परिवार जो सोच रहे थे उसकी बारीक़ समझ इसके ज़रिए बनाई जा सके। स्थानीय स्कूलों और उनके चयन के बारे में लोगों की राय को लेकर महत्त्वपूर्ण सवाल पूछे गए ताकि अभिभावकों की बृहत प्रतिक्रियाओं के साथ ही उनकी प्राथमिक प्रतिक्रियाएँ भी जानी जा सकें। मिसाल के लिए, अपने बच्चों के लिए आस-पड़ोस के पसन्दीदा स्कूल के बारे में सवाल करते समय अभिभावकों से कहा गया कि, वे अपने चयन के जो कारण हैं, उनमें से सबसे ज़रूरी तीन कारण और एक मुख्य कारण बताएँ। इस तरह के सवालों के जवाबों का कोई तयशुदा ख़ाक़ा नहीं था और सर्वे टीम ने सभी जवाबों को बाद में 15 श्रेणियों में बाँट दिया। मिसाल के लिए, जब अभिभावकों से उनके चयन का कारण पूछा जाता था तो वे कह सकते थे कि स्कूल चुनने की उनकी वजह है 'शिक्षक'। अब सर्वे टीम को इस बात के लिए प्रशिक्षित किया गया था कि वह और पूछताछ करके यह पता लगाएँ कि 'शिक्षक' से अभिभावकों का क्या मतलब था– यानी वे शिक्षकों की योग्यता की बात कर रहे थे या सीखने-सिखाने की प्रक्रिया या किसी और ही चीज़, जैसे कि अनुशासन, आदि की बात कर रहे थे। इस तरह की पड़ताल के बाद जो जवाब मिलते थे उनकी कोडिंग और विश्लेषण किया जाता था।

परिवार सर्वे टूल के आँकड़ों के विश्लेषण के बाद स्कूल सूचना टूल का निर्माण कर उसको इस्तेमाल में लाया गया। इसमें आँकड़ों को जुटाने के मापदण्ड परिवार सम्बन्धी आँकड़ों के विश्लेषण से निकले प्राथमिक नतीजों पर आधारित थे। इसका उद्देश्य था अभिभावकों की प्रतिक्रियाओं से मिले सहायक अतिरिक्त आँकड़ों (Secondary Data) से तुलना करते हुए स्कूलों के बारे में मिले प्राथमिक आँकड़ों का विश्लेषण करना।

मात्रात्मक आँकड़ों के प्राथमिक विश्लेषण से स्कूल चयन के स्वरूप, निजी स्कूलों की प्रक्रियाओं, और अंग्रेज़ी माध्यम जैसे मुद्दों के बारे में दिलचस्प पैटर्न देखने को मिले। इनमें से कुछ पैटर्न की और गहराई से पड़ताल करने के लिए गुणात्मक पड़ताल का हिस्सा भी इसमें जोड़ा गया। मात्रात्मक आँकड़ों का इस्तेमाल कर विभिन्न आय वर्गों के अभिभावकों का एक नमूना निकाला गया जिनमें बच्चों को निजी और सरकारी दोनों तरह के स्कूलों में भेजने वाले अभिभावक शामिल थे। इसी तरह विभिन्न जगहों पर स्थित निजी स्कूलों से प्रधान पाठकों व शिक्षकों का एक नमूना भी निकाला गया। इन नमूनों में 50 अभिभावक, 12 हेड टीचर और 24 शिक्षक शामिल थे। इनसे आँकड़े इकट्ठा करने के लिए अर्ध-संरचित (Semi-structured) गुणात्मक साक्षात्कार किए गए और विषयवार विश्लेषण पद्धति का इस्तेमाल कर उन आँकड़ों का विश्लेषण किया गया।

3. नतीजे

3.1 स्कूल चयन का जटिल स्वरूप

इस विषय से जुड़े मौजूदा साहित्य में अभिभावकों के चयन को प्रभावित करने वाले जो तमाम कारक दिखाए गए हैं, उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण कारक इस प्रकार हैं : आपूर्ति (स्कूलों के उपलब्ध विकल्प), शिक्षा की गुणवत्ता, शिक्षा का माध्यम, उनका ख़र्च वहन करने की क्षमता या क़ीमत, ग़ैर शैक्षणिक फ़ायदे, सामाजिक बाधाएँ, और बच्चे का जेंडर (यानी लड़का या लड़की) (स्ट्रयूली, वेनम, वूडहेड, 2011; हिल, सैमसन और दासगुप्ता, 2011; हार्मा, 2010)। इसके अलावा यह भी देखा गया है कि अभिभावकों के लिए शिक्षा की गुणवत्ता की एक अस्पष्ट श्रेणी रही है जिसका मतलब कई अलग-अलग चीज़ें हो सकती हैं, जैसे कि स्कूल में बुनियादी

सुविधाएँ, परीक्षाओं के नतीजे, अनुशासन, और अपेक्षा के बिल्कुल विपरीत ऊँचा विद्यार्थी-शिक्षक अनुपात भी (हिल, सैमसन और दासगुप्ता, 2011; कौर, 2017; श्रीवास्तव, 2007)। परिवारों के सर्वे में हमने इसकी पड़ताल की विभिन्न प्रकार के खुले सवाल पूछकर जिससे स्कूलों को लेकर अभिभावकों की पसन्द और स्कूल चयन की प्रक्रिया के बारे में जानकारी हाथ लग सके। अभिभावकों से चयन को लेकर दो अलग-अलग तरह के सवाल पूछे गए। पहला सवाल उनके आस-पड़ोस स्थित उनके पसन्दीदा स्कूल से जुड़ा था, यानी 'वह स्कूल विशेष जिसमें वे अपने बच्चे को पढ़ने भेजना पसन्द करेंगे'; और दूसरा सवाल उस स्कूल के बारे में था 'जहाँ वे अपने बच्चे को असल में भेजते हैं'।

3.1.1 अभिभावक अपने आस-पड़ोस के किन स्कूलों को पसन्द करते हैं ?

आस-पड़ोस के स्कूलों के बारे में अभिभावकों की पसन्द के विश्लेषण से पता चला कि अभिभावक निजी या सरकारी किसी ख़ास तरह के ही स्कूल को पसन्द कर रहे हों, ऐसा नहीं है। इसके विश्लेषण के लिए हमने ऐसे स्कूलों के विकल्प को हटा दिया जो उनके आस-पड़ोस में नहीं थे और फिर बचे हुए आस-पड़ोस के स्कूलों के प्रति पसन्द का इज़हार करने वाले अभिभावकों का प्रतिशत निकाल लिया। अध्ययन के हर इलाक़े में औसतन 20 प्रतिशत अभिभावक ऐसे थे जिनको अपने बच्चों को आस-पड़ोस के स्कूल में भेजना पसन्द था। इसके अलावा, अध्ययन के सभी 10 इलाक़ों के 25 में से 14 गाँवों में आस-पड़ोस का सबसे पसन्दीदा स्कूल निजी स्कूल था जबकि 11 गाँवों में सरकारी स्कूल सबसे ज़्यादा पसन्द किया गया। दो इलाक़ों में 4 गाँव ऐसे थे जहाँ सबसे ज़्यादा पसन्द किए गए सभी तीन स्कूल निजी स्कूल थे। इनको छोड़कर बाक़ी सभी 21 गाँवों में तीन सबसे पसन्दीदा स्कूल सरकारी स्कूल ही थे। तेरह गाँवों में सबसे ज़्यादा पसन्द के तीन स्कूलों में सरकारी स्कूलों का नाम ज़्यादा था जबकि 12 गाँव ऐसे थे जहाँ तीन सबसे पसन्दीदा स्कूलों में निजी स्कूलों का नाम ज़्यादा आया।

स्कूल चयन की जो वजहें अभिभावकों ने बताईं, उनका विश्लेषण करने से पता चला कि इसके पीछे कई कारक काम करते हैं जो हर अभिभावक के लिए अलग-अलग हैं। हमें यह भी पता चला कि कुछ कारक ऐसे भी हैं जो हर तरह के अभिभावकों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं; जबकि कुछ कारक उन अभिभावकों के लिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं जो अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजते हैं वहीं कुछ कारक उन अभिभावकों के लिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं जो अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजते हैं।

तालिका 2 में अपने आस-पड़ोस के स्कूल विशेष के चयन की मुख्य वजहें दिखाई गई हैं। 'सीखने-सिखाने' को लेकर अभिभावकों का नज़रिया स्कूल विशेष के चयन की सबसे ज़रूरी वजह बनकर सामने आया (33 प्रतिशत)। 'अनुशासन' को लेकर उनका नज़रिया (11 प्रतिशत) और स्कूल में 'सुरक्षा' (9 प्रतिशत) जैसी वजहें भी सभी अभिभावकों के लिए महत्त्वपूर्ण थीं।

इन तीन के अलावा स्कूल चयन की जो दूसरी महत्त्वपूर्ण वजहें थीं, उनमें निजी स्कूल व सरकारी स्कूल चुनने वाले अभिभावकों के बीच अन्तर पाया गया। वे अभिभावक जिन्होंने नज़दीक का सरकारी स्कूल चुना उनके लिए 'ख़र्च' निजी स्कूल चुनने वाले अभिभावकों की तुलना में ज़्यादा महत्त्वपूर्ण वजह थी (16 प्रतिशत बनाम 2 प्रतिशत)। दूसरी तरफ़, जिन अभिभावकों ने निजी स्कूल चुना उनके लिए स्कूल का 'अंग्रेज़ी माध्यम' होना सरकारी स्कूल चुनने वाले अभिभावकों की तुलना में कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण वजह रही (18 प्रतिशत बनाम 3 प्रतिशत)।

तालिका–2 : आस–पड़ोस के स्कूल के चयन की प्रमुख वजहें (% में)

	सरकारी स्कूल	निजी स्कूल	कुल
बुनियादी ढाँचा	2	3	3
सुविधाएँ	3	1	2
स्कूल की प्रतिष्ठा	5	3	4
सुरक्षा	12	8	9
समावेशी	5	1	3
प्रोत्साहन व सहयोग	3	0	2
ख़र्च	16	2	8
स्कूली शिक्षा का प्रकार	2	2	2
स्कूल प्रशासन	2	4	3
शिक्षकों की योग्यता	10	6	8
सीखना–सिखाना	28	36	33
अनुशासन	8	12	11
अंग्रेज़ी माध्यम	3	18	11
ग़ैर-अंग्रेज़ी माध्यम	0	1	1
अन्य	2	2	2

आँकड़े पूर्णांकित हैं।

उपरोक्त मुख्य वजहों से अलग, आस–पड़ोस का स्कूल विशेष जहाँ अभिभावक अपने बच्चों को भेजना पसन्द करेंगे, उसको पसन्द करने की तीन सबसे बड़ी वजहों के विश्लेषण से तालिका 2 जैसी ही स्थिति देखने को मिली।

3.1.2 अभिभावक असल में कौन–से स्कूल चुनते हैं ?

अब यह जानना भी ज़रूरी होगा कि अभिभावक अपने बच्चों को असल में किन स्कूलों में भेजते हैं और क्यों। कुल मिलाकर, हमारे नमूने में आधे से थोड़े अधिक बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते हैं (51 प्रतिशत) जबकि बाक़ी निजी स्कूलों में। बच्चे जिन स्कूलों में जाते हैं उनमें परिवार की सम्पत्ति के आधार पर जो अन्तर आता है, उसका पता इस बात से चलता है कि सबसे कम सम्पत्ति वाले परिवारों से आने वाले 71 प्रतिशत बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते हैं, जबकि सबसे ज़्यादा सम्पत्ति वाले परिवारों से मात्र 17 प्रतिशत बच्चे ही सरकारी स्कूलों में जाते हैं।

अभिभावक असल में जो स्कूल चुनते हैं उसके चयन के कारण आस–पड़ोस के पसन्दीदा स्कूल के चयन के कारणों से मिलते-जुलते हैं। जिन स्कूलों को अभिभावकों ने अपने बच्चों के लिए असल में चुना है, उनको चुनने के कारणों का अनुपात तालिका 3 में दिखाया गया है। सरकारी और निजी दोनों प्रकार के स्कूलों के चयन में 'सीखने–सिखाने' के माहौल के बारे में अभिभावकों की राय स्कूल चयन का एक महत्त्वपूर्ण कारण दिखा।

इसी तरह, दोनों ही तरह के स्कूलों के चयन में 'सुरक्षा', 'अनुशासन', और 'शिक्षक योग्यता' जैसे कारण महत्त्वपूर्ण दिखाई दिए। जैसी कि उम्मीद थी, सरकारी स्कूलों का चयन करने वाले अभिभावकों के लिए ख़र्च चयन का कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण कारक रहा, जबकि निजी स्कूलों का चयन करने वाले अभिभावकों के लिए 'अंग्रेज़ी माध्यम' ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था। अभिभावकों से उनके चयन के कारणों के बारे में और ज़्यादा बातचीत करने पर पता चला कि 'ख़र्च' का कारक पसन्दीदा स्कूल के चयन की तुलना में तब ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब अभिभावक उस स्कूल का चयन करते हैं, जहाँ वे वाकई अपने बच्चों को भेजते हैं।

तालिका–3: अभिभावकों द्वारा सरकारी और निजी स्कूल के चयन के मुख्य कारण (% में)

चयन के मुख्य कारण	सरकारी स्कूल	निजी स्कूल
बुनियादी ढाँचा	2	2
सुविधाएँ	6	1

स्कूल की प्रतिष्ठा	2	4
सुरक्षा	12	12
समावेशी	6	1
प्रोत्साहन व सहयोग	4	1
ख़र्च	26	2
स्कूली शिक्षा का प्रकार	2	1
स्कूल प्रशासन	1	3
शिक्षकों की योग्यता	6	5
सीखने-सिखाने का माहौल	23	37
अनुशासन	6	11
अंग्रेज़ी माध्यम	1	16
ग़ैर-अंग्रेज़ी माध्यम	1	1
अन्य	3	3

गुणात्मक साक्षात्कारों से मिले आँकड़ों के विश्लेषण से इसी प्रकार के नतीजे सामने आए। ज़्यादातर ग़रीब परिवार जिनके बच्चे सरकारी स्कूलों में जा रहे थे, उनके लिए पढ़ाई का ख़र्च उठा पाने की उनकी क्षमता के मद्देनज़र सरकारी स्कूल एक स्वाभाविक चयन था। जैसा कि टोंक जिले में पाँच बच्चों के एक पिता ने बताया, "हम बहुत ही ग़रीब हैं; इसलिए हमने दूसरे स्कूलों के बारे में सोचे बिना सरकारी स्कूल को चुना। ग़रीब बच्चे सरकारी स्कूलों में ही पढ़ते हैं।" इनमें से कई परिवारों के लिए सरकारी स्कूल इनके घर के पास थे इसलिए बच्चों की सुरक्षा के लिहाज़ से वे उपयुक्त थे। इसके अलावा, चूँकि उनको रोज़ी-रोटी कमाने के लिए दिन भर घर से बाहर रहना होता था तो इस लिहाज़ से भी सरकारी स्कूल उनके लिए ठीक था।

इसके विपरीत, निजी स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने वाले अभिभावकों से हुई बातचीत में यह बात सामने आई कि निजी स्कूलों के मामले में अंग्रेज़ी माध्यम और अनुशासन अभिभावकों के लिए स्कूल चयन का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था। रायगढ़ में एक बच्चे के पिता का इस बारे में यह कहना था, "किताबें अंग्रेज़ी में हैं और टीचर अंग्रेज़ी में पढ़ाते हैं जिससे बच्चों को बेहतर ढंग से सीखने में मदद मिलती है। स्कूल ऐसी गतिविधियाँ करवाता है जिसमें बच्चे भाग लेते हैं और उनमें अंग्रेज़ी में बोलने की ज़रूरत होती है। अभिभावक-शिक्षक मीटिंग में मैंने देखा है कि टीचर बच्चों से क्लास के बाहर अंग्रेज़ी में बात करते हैं और आपस में भी अंग्रेज़ी में ही बात करते हैं।" निजी स्कूलों से जो प्रतिक्रियाएँ मिलीं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि अनुशासन, अभिभावकों और निजी स्कूलों दोनों के लिए ज़रूरी था। "एक और चीज़ जिसपर हम ज़ोर देते हैं, वह है अनुशासन। हमारा मानना है कि इससे बच्चों को अच्छे परिणाम लाने में मदद मिलती है। लेकिन हम लड़कियों के ड्रेस और स्कूल के समय के मामले में भी अनुशासन बरतते हैं; हमारा स्कूल अनुशासन के लिए जाना जाता है। हालाँकि कुछ लोग तो शिकायत करते हैं कि हम कुछ ज़्यादा ही सख़्ती बरतते हैं।" (रायपुर के एक निजी स्कूल के निदेशक का कथन)।

3.1.3 अस्पष्ट चयन, बदलती प्राथमिकताएँ

गुणात्मक साक्षात्कारों से मिले आँकड़ों के विश्लेषण से सरकारी या निजी दोनों में से किसी भी एक प्रकार के स्कूलों के पक्ष में अभिभावकों की स्पष्ट प्राथमिकता का संकेत नहीं मिलता है। इसकी बजाय यह देखने में आ रहा है कि अभिभावक अपने शुरुआती चयन पर दोबारा विचार करने और इस पुनर्विचार के बाद स्कूल बदलने, दोनों के लिए तैयार हैं। हमें कुछ ऐसे मामले भी देखने को मिले जहाँ अभिभावक सांस्कृतिक पूँजी की लालसा में कमतर स्कूलों में भी बने रहते हैं।

विभिन्न सम्पत्ति वर्गों से लिए गए परिवारों के नमूने जिनको गुणात्मक साक्षात्कार के लिए चुना गया, निजी स्कूल के चयन के लिए उन्होंने

अलग-अलग कारण बताए। तुलनात्मक रूप से कम आर्थिक तंगी का सामना कर रहे अनेक ऐसे परिवार जो अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेज रहे थे, उन्होंने फ़ीस में मिली छूट और शिक्षा का अधिकार क़ानून 2009 के 25 प्रतिशत के प्रावधान को कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूल को चुनने का कारण बताया। हालाँकि, 'अच्छी पढ़ाई' स्कूल चयन का घोषित मापदण्ड था लेकिन असल में जो चयन किए गए वे इस मापदण्ड पर उतने खरे नहीं पाए गए। ऐसे ही एक अभिभावक, जो अपने दो बच्चों को कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूल और एक बच्चे को सरकारी स्कूल में भेजते थे, का कहना था, "दोनों ही स्कूलों में पढ़ाई-लिखाई अच्छी होती है। यही वजह है कि जब मेरे दो बच्चों ने निजी स्कूल में दाख़िला लेने को कहा तो मैंने उनको वहाँ भेज दिया और तीसरे ने कहा कि वो सरकारी स्कूल जाना चाहता है तो मैंने उसे वहाँ भेज दिया।" (तीन बच्चों के पिता, बलोदा बाज़ार)। जब उनसे यह पूछा गया कि बच्चों ने अपनी पसन्द के लिए क्या वजहें बताई थीं तो उनका कहना था, "अब भला बच्चों से कोई इतना कहाँ पूछता है?" इसके अलावा सभी अभिभावक अपनी पसन्द से खुश नहीं थे। एक अभिभावक ऐसे भी थे जिन्होंने स्कूल चुनने का फैसला अपने बड़े भाई पर छोड़ दिया था जो परिवार में इस तरह के फैसले लेते थे और अपने दोनों बच्चों को उसी कम फ़ीस वाले निजी स्कूल में भेज दिया था जहाँ बड़े भाई के बच्चे जाते थे। उनका इस मामले में यह कहना था, "वह (बड़ी बेटी) दूसरी क्लास में है। लेकिन उसे न तो पहाड़े पता हैं और न ही वह ढंग से पढ़ पाती है, जबकि सरकारी स्कूल जाने वाले दूसरे बच्चे ठीक से पढ़ रहे हैं। इसलिए मैं अपने बच्चों को अगले साल से सरकारी स्कूल भेजने की सोच रहा हूँ। इस समय ये जिस स्कूल में हैं उसमें तो कुछ सीख नहीं रहे हैं और स्कूल की फ़ीस भी हमारी जेब पर भारी है।" (दो बच्चों के पिता, टोंक)

तुलनात्मक रूप से कम आर्थिक तंगी का सामना कर रहे अनेक ऐसे परिवार जो अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेज रहे थे, उन्होंने फ़ीस में मिली छूट और शिक्षा का अधिकार क़ानून 2009 के 25 प्रतिशत के प्रावधान को कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूल को चुनने का कारण बताया।

इसी तरह, अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजने वाले तुलनात्मक रूप से समृद्ध परिवार उन स्कूलों की पढ़ाई-लिखाई की गुणवत्ता से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं दिख रहे थे जहाँ उन्होंने अपने बच्चों का दाख़िला करवाया था। उन्होंने जानकारी दी कि उन्हें अपने बच्चों को एक निजी स्कूल से निकालकर आस-पड़ोस या दूरदराज़ के दूसरे स्कूल में दाख़िला कराना पड़ा क्योंकि पहले स्कूल से उनकी अपेक्षाएँ पूरी नहीं हुईं। कुछ दूसरे अभिभावकों ने निजी स्कूल से असन्तुष्ट होने के बावजूद अपने बच्चों को उसी स्कूल में रखा क्योंकि ये स्कूल सम्भवतः सांस्कृतिक पूँजी की उनकी अपेक्षाओं को पूरा कर रहे थे। मिसाल के लिए, अपने तीन बच्चों को निजी स्कूल भेजने वाले एक अभिभावक का कहना था, "हमने अपने बच्चों के लिए यह स्कूल चुना ताकि वे अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों सीख और बोल सकें। दाख़िले के समय प्रिंसिपल ने बताया था कि यह अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल है और यहाँ पढ़ाई-लिखाई ज़्यादातर अंग्रेज़ी में ही होती है। हमने सोचा कि यहाँ बच्चे अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों बोलना सीख जाएँगे जो गाँव में रहकर सीखना सम्भव नहीं है। लेकिन अंग्रेज़ी तो छोड़िए, आप भरोसा नहीं करेंगे कि चौथी में पढ़ रहा हमारा एक बच्चा तो हिन्दी भी नहीं पढ़ पाता। हमने (यह और दूसरे अभिभावक) स्कूल में सीखने-सिखाने के इस स्तर को लेकर शिक्षकों से कई बार शिकायत की है।" (तीन बच्चों के पिता, धमतरी)। लेकिन जब यह पूछा गया कि ऐसी स्थिति में क्या अपने बच्चे को

पास ही स्थित सरकारी स्कूल में भेजना ज़्यादा बेहतर नहीं होगा, तब अभिभावक ने रहन-सहन के ढंग, अंग्रेज़ी बोलने आदि जैसी बातों का हवाला दिया।

3.2 अभिभावकों की राय और स्कूलों की हक़ीक़त

स्कूल की दो ख़ास विशेषताओं-शिक्षा का माध्यम और शिक्षक योग्यता-के बारे में अभिभावकों की जो राय थी हमने उसकी तुलना इन स्कूलों में ये विशेषताएँ वास्तव में जिस तरह से अभिव्यक्त होती थीं, उससे की। स्कूलों की ये विशेषताएँ एक स्वतन्त्र स्कूल सूचना टूल से इकट्ठी की गईं जिसमें दोनों शामिल थे– स्कूलों के मुख्य व्यक्तियों से बातचीत और स्कूल की विशिष्ट प्रक्रियाओं पर केन्द्रित स्कूल अवलोकन। हमने यह पाया कि इन चुनी हुई विशेषताओं के मामले में अभिभावकों की राय स्कूल की वास्तविकता से नहीं मिलती थी। हम यहाँ इन दोनों विशेषताओं के लिए जो नतीजे निकले, उन्हें दर्शा रहे हैं।

3.2.1 शिक्षा का माध्यम

निश्चित रूप से अंग्रेज़ी माध्यम एक महत्त्वपूर्ण व मूल्यवान विशेषता के रूप में उभरा, ख़ासकर उन अभिभावकों के लिए जो अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजते हैं। लेकिन इस अध्ययन में यह बात सामने आई कि अभिभावकों द्वारा स्कूल के अंग्रेज़ी माध्यम होने की जानकारी, स्कूल द्वारा आधिकारिक तौर पर अंग्रेज़ी माध्यम होने की घोषणा और स्कूल में असल में जिस माध्यम का इस्तेमाल होता है इन दोनों में बड़ा अन्तर है। निजी स्कूल जाने वाले बच्चों में से 39 प्रतिशत के बारे में उनके अभिभावकों ने यह जानकारी दी कि उनके बच्चे अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल में जाते हैं। लेकिन असल में महज़ 22 प्रतिशत बच्चे ही ऐसे स्कूलों में जाते हैं जहाँ अंग्रेज़ी आधिकारिक तौर पर (यानी जैसा कि स्कूल के अधिकारियों ने बताया) शिक्षा का माध्यम है। और स्कूलों के अवलोकन से पता चला कि ऐसे स्कूल जहाँ अंग्रेज़ी वाकई शिक्षा का माध्यम है उनमें महज़ 10 प्रतिशत बच्चे ही जाते हैं।

दूसरे शब्दों में कहें तो जैसा कि तालिका 4 में दिखता है, महज़ 25 प्रतिशत मामलों में ही अभिभावकों की यह राय कि उनके बच्चे का स्कूल अंग्रेज़ी माध्यम है, स्कूल की वास्तविकता से मेल खाती है। आधे से भी ज़्यादा बच्चे (57 प्रतिशत) जो कहने को अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल में जाते हैं, वे असल में हिन्दी या कन्नड़ जैसी किसी प्रधान क्षेत्रीय भाषा के माध्यम वाले स्कूल में पढ़ाई करते हैं। इनमें से लगभग 18 प्रतिशत बच्चे ऐसे स्कूल में जाते हैं जहाँ किताबें अंग्रेज़ी में होती हैं लेकिन शिक्षक उनको पढ़ाते समय वहाँ की प्रधान क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद करते हैं (इनको तालिका 4 में 'मिश्रित' की श्रेणी में रखा गया है)।

तालिका–4 : जिन बच्चों के अभिभावक मानते हैं कि उनके बच्चे अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल में पढ़ते हैं उनके स्कूल का आधिकारिक दावा और वास्तव में इस्तेमाल होने वाला शिक्षा का माध्यम (% में)

शिक्षा का माध्यम	शिक्षा का आधिकारिक माध्यम	शिक्षा का वास्तविक माध्यम
हिन्दी	43	52
कन्नड़	5	5
अंग्रेज़ी	52	25
मिश्रित	0	18

यहाँ तक कि जब हमने 'सिर्फ़' उन अभिभावकों के जवाब लिए जिन्होंने यह कहा था कि अंग्रेज़ी माध्यम, स्कूल चुनने के सबसे बड़े तीन कारणों में से एक था (ऐसे अभिभावकों की संख्या बच्चों को निजी स्कूल भेजने वाले कुल अभिभावकों का 25 प्रतिशत थी), तब भी उनकी राय और वास्तविकता के बीच ऐसा ही अन्तर देखने को मिला। स्कूलों के अवलोकन से पता चला कि ऐसे अभिभावकों के बच्चों का महज़ एक-चौथाई ही ऐसे स्कूलों में जाता था

जहाँ अंग्रेज़ी वास्तव में शिक्षा का माध्यम थी।

इस अन्तर के बारे में और जानकारी गुणात्मक साक्षात्कारों से मिले आँकड़ों से मिल सकती है। अभिभावकों को इस बात की साफ़ समझ नहीं थी कि अंग्रेज़ी माध्यम के मायने क्या होते हैं या स्कूलों के चयन के मामले में यह महत्त्वपूर्ण क्यों है? कुछ अभिभावकों के मामले में ऐसा दिखा कि वे महज़ सरकारी स्कूलों की तुलना में अंग्रेज़ी माध्यम के निजी स्कूलों की लोकप्रियता की आम धारणा के दबाव में अपने बच्चों को ऐसे स्कूलों में भेजते हैं। जैसा कि यादगीर, कर्नाटक में बसे एक राजस्थानी परिवार में पिता ने बताया, "हाल ही में मेरे एक दोस्त ने पूछा, 'तुम्हारे बच्चे किस स्कूल में पढ़ते हैं?' जब मैंने जवाब दिया कि वे एक नामी अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल में पढ़ते हैं तो वे फूले नहीं समाए और मुझे शाबाशी दी कि मैंने उस स्कूल में अपने बच्चों को भेजकर बढ़िया काम किया है। इस वजह से हमारी बिरादरी में मेरी तारीफ़ हुई और इज़्ज़त भी मिली, इसलिए अपने बच्चों को निजी स्कूल भेजना मेरे लिए इज़्ज़त का मसला है।"

ज़्यादातर अभिभावक निजी स्कूलों को ऐसी प्रक्रियाओं से जोड़कर देखते थे जो उनकी नज़र में उनके बच्चों के व्यक्तित्व को कुछ विशिष्ट आयाम देते थे, चाहे वह अनुशासन के रूप में हो, या अच्छे आचरण के रूप में (पहनावा और बोलने के तौर-तरीक़े), या ऐसे माहौल में रहने के रूप में हो जहाँ अंग्रेज़ी का इस्तेमाल पाठ्यपुस्तकों में होता हो या जहाँ अंग्रेज़ी बोली जाती हो।

ऐसा देखा गया कि ज़्यादातर अभिभावक निजी स्कूलों को ऐसी प्रक्रियाओं से जोड़कर देखते थे जो उनकी नज़र में उनके बच्चों के व्यक्तित्व को कुछ विशिष्ट आयाम देते थे, चाहे वह अनुशासन के रूप में हो, या अच्छे आचरण के रूप में (पहनावा और बोलने के तौर-तरीक़े), या ऐसे माहौल में रहने के रूप में हो जहाँ अंग्रेज़ी का इस्तेमाल पाठ्यपुस्तकों में होता हो या जहाँ अंग्रेज़ी बोली जाती हो। मिसाल के लिए, ऐसे ही एक अभिभावक ने आस-पड़ोस के सरकारी स्कूलों के बारे में कुछ इस तरह की राय व्यक्त की, "अंग्रेज़ी की बात तो जाने दीजिए, सरकारी स्कूलों के मास्टर तो ज़्यादातर छत्तीसगढ़ी में बोलते हैं। हिन्दी भी कम ही बोली जाती है और वह भी कक्षा में पढ़ाई के समय। और वहाँ ज़्यादातर बच्चे ठीक से ड्रेस यानी स्कूल यूनिफार्म भी नहीं पहनते। अकसर वे बच्चे गाली-गलौज करते हुए भी देखे जाते हैं। आप समझ ही सकते हैं कि मेरे बच्चों के विकास में इसका कितना ख़राब असर हो सकता है?" (दो बच्चों के पिता, धमतरी)। आर्थिक रूप से सम्पन्न अभिभावकों की नज़र में सरकारी स्कूलों का जो माहौल था उससे एक तरह की अव्यक्त दूरी बनाने की मानसिकता का पता इन स्कूलों के बारे में इस तरह के वाक्यों से चलता है—'गाली-गलौज करने वाले और गन्दे बच्चों से भरे स्कूल', 'अच्छे परिवारों के बच्चे इन स्कूलों में नहीं जाते', और 'वहाँ के बच्चे न तो क़ायदे का ड्रेस पहनते हैं न ही साफ़-सफ़ाई रखते हैं'।

दूसरी तरफ़, स्कूल की परिपाटियाँ व प्रक्रियाएँ निजी स्कूलों द्वारा अंग्रेज़ी माध्यम होने के दावों से बमुश्किल ही मेल खाती थीं। ज़्यादातर स्कूलों ने यह बताया कि योग्य अंग्रेज़ी शिक्षक या फिर किसी भी विषय के अच्छे शिक्षक मिल पाना कितना कठिन था! कुछ स्कूल दूरदराज़ के इलाक़ों (मसलन, केरल व पश्चिम बंगाल) से शिक्षक नियुक्त करते थे मगर उनको हमेशा यह अनिश्चितता रहती थी कि छुट्टियों में घर जाने के बाद ऐसे शिक्षक वापस लौटेंगे कि नहीं। कई स्कूल आसपास के गाँवों के बेरोज़गार युवकों से काम चला रहे थे। अंग्रेज़ी माध्यम होने के दावे को पूरा कर पाने की इन स्कूलों की असमर्थता इन स्कूलों में सीखने-सिखाने के तौर-तरीक़ों में भी ज़ाहिर थी। जैसा कि यादगीर के एक स्कूल के शिक्षक ने बताया कि उनके लिए बच्चों से अंग्रेज़ी में संवाद कर

पाना बहुत ही कठिन था, ख़ासतौर से पहली से चौथी कक्षा तक के बच्चों के साथ। शिक्षकों ने बताया कि वे उन बच्चों को जिन्हें अंग्रेज़ी समझने में दिक़्क़त आती थी ज़्यादा होमवर्क दे देते थे और उनके लिए अतिरिक्त कक्षाएँ भी लगाते थे। ऐसा देखने को मिला कि ज़्यादा होमवर्क देने की इस परिपाटी से वे अभिभावक सन्तुष्ट थे जो बच्चों को घर में कोई सहयोग नहीं दे पाते थे। ऐसे अभिभावक बच्चों को ज़्यादा होमवर्क दिए जाने पर ज़ोर डालते थे। लेकिन साथ ही, इन सभी स्कूलों में शिक्षकों की यह आम शिकायत थी कि अभिभावक बच्चों को घर पर समुचित सहयोग नहीं दे पाते थे क्योंकि वे ख़ुद भी अंग्रेज़ी से अनभिज्ञ थे। और यह भी कि कई अभिभावक अपने बच्चों को ट्यूशन भेजते थे जबकि, इन शिक्षकों की राय में, स्कूल में बच्चों को अच्छी शिक्षा मिल रही थी।

3.2.2 शिक्षकों की योग्यता

स्कूल सर्वे में हमने इन स्कूलों में नियुक्त शिक्षकों की अकादमिक व पेशेवर योग्यता और अनुभव के बारे में जानकारियाँ इकट्ठी कीं। इसमें सबसे पहली बात तो यह है कि जहाँ तक व्यक्तिगत शिक्षक का सवाल है सरकारी और निजी स्कूलों के बीच हमें भारी अन्तर दिखाई दिए। तालिका 5 में दिखाया गया है कि निजी स्कूलों के शिक्षकों की तुलना में सरकारी स्कूलों के शिक्षक ज़्यादा योग्यता रखते हैं चाहे वह अकादमिक योग्यता हो (44 प्रतिशत निजी शिक्षकों की तुलना में 64 प्रतिशत सरकारी शिक्षकों के पास स्नातकोत्तर उपाधि है), पेशेवर योग्यता हो (अमूमन हर सरकारी शिक्षक के पास कोई-न-कोई पेशेवर योग्यता है, जबकि 29 प्रतिशत निजी शिक्षकों के पास कोई पेशेवर योग्यता नहीं है), या शिक्षण के अनुभव का मामला हो (एक औसत सरकारी शिक्षक के पास 14 साल का अनुभव था जबकि निजी स्कूल शिक्षक के पास यह अनुभव महज़ 5 साल का था)।

तालिका-5 : शिक्षकों की योग्यता–सरकारी बनाम निजी स्कूल

योग्यता	सरकारी स्कूल	निजी स्कूल
अकादमिक योग्यता		
स्नातक से कम	7	15
स्नातक	30	40
स्नातकोत्तर व उससे अधिक	64	44
पेशेवर योग्यता		
शिक्षण का अनुभव (कोई भी)	99	71
1 साल या कम	2	20
1 से 2 साल	2	18
2 से 5 साल	9	35
5 से अधिक	87	27

दूसरी बात यह है कि जब शिक्षकों की योग्यता के बारे में अभिभावकों की राय की तुलना स्कूल के स्तर पर व्यक्तिगत शिक्षकों से की गई तो निजी स्कूलों के मामले में इन दोनों में अन्तर देखने को मिला। शिक्षक की योग्यता को जितना महत्त्व अभिभावक देते हैं, उसमें और स्कूलों में पढ़ा रहे असल शिक्षकों की योग्यता में अन्तर है। वे अभिभावक जो शिक्षक की योग्यता को महत्त्वपूर्ण विशेषता मानते हैं, यानी जिन्होंने इस विशेषता को स्कूल चयन के तीन प्रमुख कारणों में से एक बताया, ऐसे अभिभावकों के बच्चे बेहतर योग्यता वाले शिक्षकों के स्कूल में ही जाते हों यह ज़रूरी नहीं।

जैसा कि तालिका 6 में दिखाया गया है, जहाँ सरकारी स्कूलों के मामले में शिक्षकों की योग्यता को लेकर अभिभावकों की राय और

शिक्षकों की वास्तविक योग्यता, जैसे कि उनकी अकादमिक व पेशेवर योग्यता और अनुभव में कोई अन्तर नहीं है, वहीं बच्चों को निजी स्कूल भेजने वाले अभिभावकों के मामले में इसमें बड़ा अन्तर है। इस विश्लेषण के लिए अभिभावकों को दो श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया, एक– वे जो स्कूल चयन में शिक्षक योग्यता को महत्त्वपूर्ण मानते थे और दूसरे, वे जो ऐसा नहीं मानते थे। शिक्षक योग्यता को महत्त्वपूर्ण मानने वाले समूह ने जो स्कूल चुने उनमें इस विशेषता को उतना महत्त्व नहीं देने वाले समूह द्वारा चुने स्कूलों की तुलना में अकादमिक रूप से योग्य शिक्षकों का अनुपात कम था (76 बनाम 87 प्रतिशत), पेशेवर योग्यता वाले शिक्षकों का अनुपात भी कम था (64 बनाम 74 प्रतिशत) और शिक्षण का अनुभव भी कम था (74 महीने बनाम 79 महीने)। दूसरे शब्दों में कहें तो शिक्षक योग्यता को स्कूल चयन में उतना महत्त्व नहीं देने वाले अभिभावकों की तुलना में जो अभिभावक शिक्षक योग्यता को महत्त्व देते थे उन्होंने ऐसे स्कूल नहीं चुने जहाँ शिक्षकों की योग्यता वाकई बेहतर हो। यह अनुपात निजी स्कूलों में शिक्षकों की जो औसत योग्यता थी–84 प्रतिशत स्नातक योग्यताधारी और 71 प्रतिशत पेशेवर योग्यताधारी शिक्षक– उससे भी कम थी।

तालिका-6 : शिक्षक योग्यता–अभिभावकों की राय बनाम स्कूल की वास्तविकता

स्कूल	अभिभावकों की राय	स्नातक शिक्षक (%)	पेशेवर योग्यता प्राप्त शिक्षक (%)	औसत अनुभव (महीनों में)
सरकारी	वे अभिभावक जिनके लिए शिक्षक की योग्यता 'महत्त्वपूर्ण' है	96	98	169
	वे अभिभावक जिनके लिए शिक्षक की योग्यता 'महत्त्वपूर्ण नहीं' है	92	98	164
निजी	वे अभिभावक जिनके लिए शिक्षक की योग्यता 'महत्त्वपूर्ण' है	76	64	74
	वे अभिभावक जिनके लिए शिक्षक की योग्यता 'महत्त्वपूर्ण नहीं' है	87	74	79

3.3 अभिभावकों की आकाँक्षाएँ और मार्केटिंग के तरीक़े

गुणात्मक साक्षात्कारों से मिले आँकड़ों को देखकर अभिभावकों की राय और स्कूली वास्तविकता के बीच के अन्तर के सम्भावित कारणों को समझा जा सकता है। ज़्यादातर निजी स्कूलों ने यह बताया कि स्कूल का प्रचार कर दाख़िले बढ़ाने के लिए उन्होंने योजनाबद्ध ढंग से दाख़िला अभियान चलाया। यह अभियान शिक्षकों द्वारा गर्मी की छुट्टियों में चलाए जाते थे। इन दाख़िला अभियानों के बारे में बताते हुए एक शिक्षक ने कहा, "हम अपने वर्तमान विद्यार्थियों के अभिभावकों की मदद से गाँवों में जाते हैं। गाँव के सरपंच और दूसरे प्रभावशाली लोगों से सम्पर्क करते हैं। हम स्कूल की गाड़ी से गाँव जाते हैं जिसपर एक लाउडस्पीकर लगा होता है। हम लोगों को एक जगह इकट्ठा कर उनको स्कूल की विशेषताओं के बारे में बताते हैं। इसके बाद शिक्षक दो-दो के समूह में बँटकर घर-घर जाते हैं। हम, परिवार में जो बच्चे हैं उनकी जानकारी लेते हैं, फ़ोन नम्बर लेते हैं और उनको स्कूल के बारे में समझाते हैं।" (निजी स्कूल के एक शिक्षक, रायपुर)। घर-घर के इन दौरों में छपे हुए पर्चे बाँटे जाते हैं जिनपर

स्कूल की मुख्य विशेषताएँ लिखी होती हैं।

स्कूलों के हेडमास्टर और शिक्षकों से इन दाख़िला अभियानों और पर्चों की विषयवस्तु के बारे में पूछने पर जो लिस्ट मिली उसमें यह सब शामिल था : स्कूल ले जाने व वापस लाने के लिए वाहन सुविधा, स्कूल में सीसी टीवी कैमरा, जल्दी दाख़िला लेने पर छूट, वर्तमान छात्र के भाई-बहन के दाख़िले पर छूट, अंग्रेज़ी लिखने व बोलने की क्षमता का विकास, शिष्टाचार, अच्छी आदतें व विचारों का विकास, कम्प्यूटर शिक्षा, कम्प्यूटर कक्षाएँ, पाठ्येतर गतिविधियाँ, रोज़ाना या हर सप्ताह टेस्ट, बोर्ड इम्तिहानों में पास होने की ऊँची दर। स्कूलों की छवि चमकाने के लिए जिन सरल सन्देशों का इस्तेमाल किया जाता है उनमें कम फ़ीस पर बेहतर शिक्षा, रोज़मर्रा की बातचीत में अंग्रेज़ी का इस्तेमाल, स्कूल में स्थानीय भाषा के इस्तेमाल पर पाबन्दी, और अनुशासन व स्कूल की परम्पराओं के महत्त्व पर ज़ोर देना शामिल हैं।

यह भी देखा गया कि अभिभावक शैक्षणिक गुणवत्ता के इन ज़्यादा प्रकट मगर सन्देहास्पद मापदण्डों को लेकर आश्वस्त थे। इनमें एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड था 'संस्कार' यानी सरकारी स्कूलों की तुलना में निजी स्कूलों के माहौल से जुड़ी धारणाएँ जिनमें स्कूल की ड्रेस, व्यवहार, स्कूल में बातचीत के तौर-तरीक़े आदि शामिल थे। सरकारी स्कूलों की तुलना में निजी स्कूलों के बच्चों के बेहतर व्यवहार की धारणा के बारे में बात करते हुए अभिभावक अकसर यह कहते पाए गए, "और यहाँ के बच्चे ज़्यादा सुसंस्कृत हैं।" अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजने वाले अभिभावकों ने ऐसी कई दूसरी प्रभावशाली मान्यताओं के बारे में भी बताया जो उनकी नज़र में 'संस्कार' से जुड़ी हुई थीं। इनमें निजी स्कूलों में अंग्रेज़ी में ही बातचीत करने की अनिवार्यता और उसकी तुलना में सरकारी स्कूलों में स्थानीय भाषा व बोलियों का इस्तेमाल, निजी स्कूलों में अनुशासन और बच्चों की गतिविधियों पर निगरानी जैसी चीज़ें शामिल थीं। एक अभिभावक जो ऐसे परिवारों में से थे और जो कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूल का ख़र्च उठा सकते थे लेकिन जिन्होंने अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में भेजने का फैसला किया था, उन्होंने बड़े सटीक शब्दों में अभिभावकों द्वारा सरकारी स्कूलों के बजाय निजी स्कूलों के चयन के बारे में कहा कि, "सरकारी स्कूल आज भी अच्छे हैं। लेकिन लोग आमतौर पर यह सोचते हैं कि ग़रीब लोगों के बच्चे ही सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। इसलिए दूसरे लोग अपने बच्चों को इन स्कूलों में नहीं भेजते और उनकी बजाय निजी स्कूल चुनते हैं।" (दो बच्चों के पिता, टोंक)।

4. निष्कर्ष

यह अध्ययन अभिभावकों द्वारा स्कूल चयन के सन्दर्भ में अनेक ज़रूरी मसलों और बहसों को उभारता है। कुल मिलाकर यह स्कूल चयन और वाउचर जैसी बाज़ार-आधारित नीतिगत पहलों को ग़ैर-आलोचनात्मक तरीक़े से अपनाने के प्रति आगाह करता है।

इस अध्ययन से निकले नतीजे इस सरलीकृत धारणा को चुनौती देते हैं कि अभिभावकों का चयन समुचित जानकारी और स्कूलों के मूल्यांकन के महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक मापदण्डों पर आधारित होता है। अनेक कारकों की भूमिका और चयन करने में व्यावहारिक व शैक्षणिक तत्त्वों के प्रभाव से यह पता चलता है कि स्कूल चयन अपने-आप में एक जटिल प्रक्रिया है। ऐसे अभिभावक जो निजी स्कूल का ख़र्च वहन कर सकते हैं, आस-पड़ोस के निजी स्कूलों के बारे में उनकी दुविधाएँ और बदलती राय से भी स्कूल चयन की जटिलता रेखांकित होती है।

यही नहीं, इस अध्ययन में स्कूलों की विशेषताओं के बारे में अभिभावकों की राय और उन विशेषताओं के मामले में स्कूल की वास्तविकता के बीच ज़्यादातर मामलों में ख़ासा अन्तर दिखाई देता है। क्या अभिभावकों को गुमराह किया जाता है? या फिर ऐसा है कि निजी स्कूलों की विशेषताओं के बारे में उनकी धारणाएँ

ग़लत हैं। हमारे ज़मीनी अध्ययन से पता चलता है कि यह दोनों बातें सच हैं। एक तरफ़ हमें देखने को मिलता है कि अपने बच्चों को निजी स्कूल भेजने वाले अभिभावकों में सांस्कृतिक पूँजी की आकांक्षा होती है। वहीं दूसरी तरफ़, निजी स्कूल बाज़ार-आधारित तरीक़ों से इन आकांक्षाओं को पूरा करने का प्रलोभन देते हैं। स्कूल चयन के समय अभिभावकों का ज़्यादातर ज़ोर ग़ैर-शैक्षणिक मापदण्डों पर होता है जो कि आसानी से दिख जाता है। इसे ही अभिभावक सीखने-सिखाने की गुणवत्ता का पैमाना मान लेते हैं। इस प्रक्रिया में कुछ ऐसे मापदण्ड जो शैक्षणिक रूप से महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन उतने स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देते हैं, जैसे कि- शिक्षकों की योग्यता, उनपर पर्दा पड़ जाता है।

हमारे अध्ययन से यह रेखांकित होता है कि स्कूलों, ख़ासतौर पर कम फ़ीस लेने वाले निजी स्कूलों की शैक्षणिक प्रक्रियाओं व उनकी वास्तविक स्थिति और उनकी शैक्षणिक गुणवत्ता के बारे में अभिभावकों की राय के बीच सूचनाओं की जो असंगति है उसके स्वरूप को समझने की ज़रूरत है। अभिभावकों द्वारा स्कूल चयन को लेकर और बारीक़ समझ विकसित करने की ज़रूरत है- ख़ासतौर से निर्णय लेने की प्रक्रिया के सन्दर्भ में- जिसमें अभिभावकों की सीमाओं, उनकी प्राथमिकताओं, और उनको उपलब्ध सूचनाओं पर आधारित तमाम कारकों की तुलना और संश्लेषण शामिल होता है।

सन्दर्भ

कडगर, एवं क्विन, ई (2012), *रिलेशनशिप बिटवीन प्राइवेट स्कूलिंग एण्ड अचीवमेण्ट्स : रिज़ल्ट्स फ्रॉम रूरल एण्ड अर्बन इण्डिया,* इकोनॉमिक्स ऑफ़ एजुकेशन रिव्यू, 31: 376-390

धनकर, आर (2002), *सीकिंग क्वालिटी एजुकेशन : इन द एरेना ऑफ़ फ़न एण्ड रेटॉरिक, सीकिंग क्वालिटी एजुकेशन फ़ॉर ऑल : एक्सपीरिएंसेज़ फ्रॉम द डिस्ट्रिक्ट प्राइमरी एजुकेशन प्रोग्राम* (पृ. 1-29)। दिल्ली : द यूरोपियन कमीशन।

हार्मा, जे (2011), *लो कॉस्ट प्राइवेट स्कूलिंग इन इण्डिया : इज़ इट प्रो पूअर एण्ड इक्विटेबल ?* इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ एजुकेशनल डेवलपमेंट, 31(4), 350-356

हार्मा, जे (2010), *स्कूल च्वॉइस फ़ॉर द पूअर ? द लिमिट्स ऑफ़ मार्केटाइजेशन ऑफ़ प्राइमरी एजुकेशन इन रूरल इण्डिया,* CREATE शोध पत्र, पाथवेज़ टू एक्सेस सीरीज़ 23, यूनिवर्सिटी ऑफ़ ससेक्स, ब्राइटन।

हिल, ई, सैमसन, एम व दासगुप्ता, एस (2011), *एक्सपैण्डिंग द स्कूल मार्केट इन इण्डिया : पैरेण्टल च्वॉइस एण्ड द रिप्रोडक्शन ऑफ़ सोशल इनइक्वालिटी,* इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीक्ली, 46(35): 99-105

करोपाडी, डी डी (2014), *डज़ स्कूल च्वॉइस हेल्प रूरल चिल्ड्रन फ्रॉम डिसएडवाण्टेजेड सेक्शंस ?* इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीक्ली, 49(51), 46-53

कौर, एस (2017), *क्वालिटी ऑफ़ रूरल एजुकेशन एट एलिमेण्ट्री लेवल : एविडेंस फ्रॉम पंजाब,* इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीक्ली, 52(5): 58-63

मुरलीधरन, के और सुंदररामन, वी (2015), *द एग्रेगेट एफ़ेक्ट ऑफ़ स्कूल च्वॉइस : एविडेंस फ्रॉम ए टू-स्टेज एक्सपेरिमेण्ट इन इण्डिया,* द क्वार्टरली जर्नल ऑफ़ इकोनॉमिक्स, 130(3), 1011-1066

ओईसीडी (2016), PISA 2015 परिणाम (भाग II) : *पॉलिसीज़ एण्ड प्रैक्टिसेस फ़ॉर सक्सेसफुल स्कूल्स,* पीसा, ओईसीडी पब्लिशिंग, पेरिस।

राविच, डी (2013), रेन ऑफ़ टेरर : *द होक्स ऑफ़ द प्राइवेटाइज़ेशन मूवमेण्ट एण्ड द डेंजर टू अमेरिकास स्कूल्स,* विंटेज।

राविच, डी (2010), *द डेथ एण्ड लाइफ़ ऑफ़ द ग्रेट अमेरिकन स्कूल सिस्टम : हाउ टेस्टिंग एण्ड च्वॉइस आर अण्डरमाइनिंग एजुकेशन*। बेसिक बुक्स।

शाह, पी जे और मिरांडा, एल (2013), *प्राइवेट इनिशिएटिव इन इण्डियाज़ एजुकेशन मिरेकल*। इंडिया इन्फ्रास्ट्रक्चर रिपोर्ट 2012 :

प्राइवेट सेक्टर इन एजुकेशन (पृ. 74-83), नई दिल्ली : राउटलेज।

श्रीवास्तव, पी (2007), नीदर वॉएस नॉर लॉएल्टी : *स्कूल च्वॉएस एण्ड द लो-फी प्राइवेट सेक्टर इन इण्डिया, ओकेज़नल पेपर, 134, नेशनल सेण्टर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ प्राइवेटाइज़ेशन इन एजुकेशन,* टीचर्स कॉलेज, न्यूयॉर्क : कोलम्बिया यूनिवर्सिटी।

स्ट्यूली, एन, वेनम, यू और वुडहेड, एम (2011), *इंक्रीज़िंग च्वॉएस ऑर इनइक्वालिटी ? पाथवेज़ थ्रू अर्ली एजुकेशन इन आन्ध्रप्रदेश, इण्डिया। वर्किंग पेपर नं. 58, स्टडीज़ इन अर्ली चाइल्डहुड ट्रांज़ीशन्स।* द हेग, द नीदरलैण्ड्स : बर्नार्ड वॉन लीर फाउण्डेशन।विंच, सी (1996), क्वालिटी एण्ड एजुकेशन, ऑक्सफ़ोर्ड : वाइली-ब्लैकवेल।

विश्व बैंक (2018), *वर्ल्ड डेवलपमेण्ट रिपोर्ट 2018, लर्निंग टू रियलाइज़ एजुकेशंस प्रॉमिस।* वाशिंगटन, डीसी : वर्ल्ड बैंक।

विद्यालयी ढाँचों में जनजातीय समुदाय की संस्कृति और सभ्यता के लिए जगह

जांजगीर ज़िले में हाशिए वाले जनजातीय समुदाय के स्कूल अनुभवों और चुनौतियों का अध्ययन

नीरज राणा

विभिन्न जनजातीय समुदायों की तरह छत्तीसगढ़ के जांजगीर चांपा जिले में बसे हुए सबरिया समुदाय के बारे में भी तरह-तरह की मान्यताएँ हैं। ये मान्यताएँ समाज में उनकी नकारात्मक छवि प्रस्तुत करती है, जिस कारण स्कूल में पढ़ने वाले इस समुदाय के बच्चों की शिक्षा के रास्ते में कई बाधाएँ और मुश्किलें पेश आती है। जिनमें भाषा के माध्यम और सीखने की प्रक्रियाओं से जुड़ी बाधाएँ प्रमुख हैं।

नीरज राणा इस समुदाय के बच्चों के लिए संचालित कुछ शासकीय विद्यालयों के अवलोकन और चर्चाओं पर आधारित शोध अध्ययन में सबरिया समुदाय के बच्चों के बारे में शिक्षकों की मान्यताओं, बाधाओं और चुनौतियों को समझने की कोशिश करते हैं, और यह भी कि इन चुनौतियों से कैसे उबरा जा सकता हैं? अध्ययन के निष्कर्ष बताते है कि सबरिया समुदाय के बच्चों के लिए स्थापित सरकारी शालाएँ उन्हें अन्य समुदाय के बच्चों से अलग करती नज़र आती हैं। अत: विद्यालयी ढाँचों में जनजातीय समुदाय की संस्कृति और सभ्यता को स्थान देने की ज़रुरत है। सं.

जांजगीर ज़िले की शालाओं में शिक्षकों, विद्यार्थियों और समुदाय के साथ निरन्तर कार्य करने के दौरान कई बार शिक्षकों द्वारा सबरिया समुदाय से स्कूल आने वाले बच्चों के सीखने, स्कूल में इनकी अनियमित उपस्थिति और भाषा सम्बन्धी चुनौतियों और इससे सीख पाने की सम्भावना के सम्बन्ध में कई बातें कही जाती हैं। इस समुदाय के बच्चों को अपनी स्कूली शिक्षा के सन्दर्भ में कई प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, मानसिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। सबरिया समुदाय के लिए सरकार द्वारा संचालित इन स्कूलों में शिक्षक अकसर इन बच्चों को सीखने में, उनके अनुभवों को व्यापक करने में और उनकी आर्थिक जरूरतों में मदद नहीं कर पाते हैं और असहाय महसूस करते हैं। हालाँकि शिक्षक, समुदाय व बच्चों की कठिनाइयों के बारे में सब जानते हैं, और बताते भी हैं फिर भी बच्चों के प्रति उनका रुख व धारणा बहुधा जस की तस, यानी नकारात्मक ही दिखती है।

इस बात को गहराई से समझने के लिए हमने कुछ स्कूलों का अध्ययन करने के बारे में सोचा ताकि हम हाशिए पर आए बच्चों द्वारा सामना की जाने वाली चुनौतियों को समझ पाएँ, और यह जान पाएँ कि इन स्कूलों में शिक्षक इन मुद्दों से जूझने, उनको हल करने के लिए किन तरीकों का उपयोग करते हैं, क्या प्रयास करते हैं और इन प्रयासों में उन्हें किस तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। हमारा मानना है कि इस स्थिति को बेहतर तरीके से समझना ऐसी ही अन्य परिस्थितियों में इन चुनौतियों को हल करने में मददगार हो सकता है। इस अध्ययन में हम चाहते हैं:

अ. बच्चों की भाषा और अन्य बाधाओं को समझने का प्रयास

ब. शिक्षकों द्वारा इस मुद्दे को हल करने और उन चुनौतियों का सामना करने के तरीकों को समझने का प्रयास

स. सबरिया समुदाय के बच्चों के प्रति शिक्षकों की मान्यताओं को समझने का प्रयास

अध्ययन का कारण

सबरिया लोगों के बारे में बहुत-सी नकारात्मक बातें मानी जाती है। अधिकांश लोगों के लिए वे कभी-कभी नहाने वाले, शराब पीने वाले, घर में शराब बनाने वाले, नहीं सीख पाने वाले और साँप पकड़ने वाले लोग हैं। उन्हें अकसर इन अलंकारों से ही सम्बोधित भी किया जाता है। यह भी कि पढ़-लिखकर ये क्या करेंगे? इस समुदाय के लिए सरकार द्वारा सबरिया डेरा स्कूल स्थापित किए गए हैं। ऐसा पाया गया है कि छत्तीसगढ़ में आमतौर पर हर कुछ ही दूरी पर एक सरकारी स्कूल स्थित है। जिस गाँव में सबरिया डेरा होता है उस गाँव के नाम के पहले सबरिया डेरा लिखते हैं जैसे कि शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा कटौद या शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा लोहर्सी आदि स्कूल का नाम होता है। 'सबरिया डेरा स्कूल' यह नाम जहाँ एक ओर सरकार की इनको पढ़ाने की मंशा का समर्थन करता है वहीं दूसरी ओर गाँव के अन्य समुदाय के लोगों को अपने बच्चों को किस स्कूल में नहीं पढ़ाना है यह भी स्पष्ट कर देता है।

सबरिया डेरा स्कूल अधिकांशत: गाँव के किनारे आखिरी छोर पर स्थित हैं यानी या तो गाँव की शुरुआत में या फिर गाँव के खत्म होने पर। स्कूल के अन्दर जाने पर कम संख्या में बच्चे और एक या दो शिक्षक मिलते हैं। संकुल स्कूल से मध्याह्न भोजन दो डिब्बों में एक साइकिल पर रखकर भोजन प्रभारी द्वारा लाया जाता है। चूँकि भोजन साइकिल से लाना होता है इसलिए ये काम अधिकांशत: बच्चों के माता-पिता या रिश्तेदार करते हैं।

अपने कुछ सालों के अनुभवों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि बाहरी तौर पर या फिर दूर से देखने पर सभी स्कूलों में चल रही प्रक्रिया लगभग समान नज़र आती है पर करीब से अवलोकन करने पर हर स्कूल में कुछ न कुछ नया देखने और सीखने को मिलता है। शिक्षकों के विचार, उनकी मान्यताएँ, समुदाय, बच्चे, बच्चों की बातें उनके विचार, उनके सीखने के तरीके आदि। जब बच्चों से बातचीत होती है और उनके साथ कुछ गतिविधि करता हूँ तो हर बार मेरा ये विश्वास प्रबल होता है कि हर बच्चे की सीखने की क्षमता अलग-अलग होती है, सभी बच्चे सीखने का प्रयास भी करते हैं हालाँकि उनके तरीके और उनके प्रयास हमारे परम्परागत खाँचों से भिन्न हो सकते हैं। यह बात मैं इस सन्दर्भ मे लिख रहा हूँ क्योंकि यहाँ भी कुछ शिक्षक साथी बच्चों के न सीख पाने और न कर पाने पर ध्यान दे रहे हैं जबकि स्वयं की तैयारी और सीखने में मदद करने की प्रक्रिया से उन्हें कोई शिकायत नहीं है।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति दोनों ही ऐसे समुदाय हैं जिन्हें ऐतिहासिक कारणों से औपचारिक शिक्षा व्यवस्था से बाहर रखा गया। पहले को जाति के आधार पर विभाजित समाज में सबसे निचले पायदान पर होने के कारण और दूसरे को उनके भौगोलिक अलगाव और सांस्कृतिक अन्तरों के कारण मुख्यधारा के कहे जाने वाले प्रबल समुदायों ने हाशिए पर कर दिया। अनुसूचित जनजातियों का शिक्षा के साथ दोहरा और विरोधाभासी सम्बन्ध रहा है। स्कूल शासन अब तक जनजातीय संस्कारों, विषेशरूप से उनकी अनियमित, मुक्त संस्कृति और समतावादी समाजीकरण और अधिगम व्यवहारों का ख़याल रखने में असफल रहा है। जांजगीर ज़िले में भी यही बातें शाला भ्रमण और शिक्षकों से निरन्तर संवाद के माध्यम से सामने आ रही हैं।

अध्ययन क्षेत्र

इस अध्ययन के लिए मैंने जांजगीर ज़िले के दो ब्लॉक नवागढ़ और पामगढ़ के कुल पाँच स्कूलों– कटौद, लोहर्सी, देवरी, कमरीद और रहौद का चुनाव किया। इस चुनाव का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि वर्तमान में

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन जांजगीर ज़िले के इन्हीं दो ब्लॉक में मुख्य रूप से कार्यरत है। इन दो ब्लॉक के तहत आने वाली अधिकांश शालाओं के शिक्षकों के साथ विभिन्न मंचों के माध्यम से संवाद होता रहता है। इस अध्ययन के अन्तर्गत किए गए अवलोकनों को कुछ इस तरह व्यवस्थित किया है कि जिसमें एक स्कूल सबरिया डेरा, कटौद का अवलोकन विस्तार से दिया है। इसमें स्कूल, शिक्षक, बच्चों के सन्दर्भ में सामान्य अवलोकन, शाला प्रबन्धन समिति, मध्याह्न भोजन और इस स्कूल के शिक्षकों की इन बच्चों के बारे में मान्यताएँ इत्यादि पर चर्चा है। आगे अन्य स्कूलों के अवलोकन हैं। चूँकि बहुत सी बातें ऐसी थी जो इन चयनित स्कूलों में समान ही थी अत: उनको न दोहराते हुए मैंने इन स्कूलों में दिखने वाली नई बातों को ही रेखांकित किया है।

सबरिया समुदाय - सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा

सबरिया समुदाय के लोग ज़्यादातर जांजगीर ज़िले में रहते हैं। हालाँकि, समुदाय के कुछ लोग जांजगीर जिले के अलावा बिलासपुर, कोरबा, रायगढ़ और बलौदा बाजार में भी रहते हैं। कुल 99 गाँव की पहचान की गई जहाँ सबरिया समुदाय के सदस्य रहते हैं। इन 99 गाँवों में सबरिया समुदाय के लोगों की जनसंख्या 10 से लेकर 500 तक है। सबरिया समुदाय के जनसंख्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित आँकड़े नहीं हैं लेकिन बातचीत के दौरान इकट्ठे किए गए आँकड़ों से लगभग 50,000 की आबादी का अनुमान है।

इन लोगों ने, कुछ आठ पीढ़ी पहले आंध्रप्रदेश से इस क्षेत्र में पलायन किया। रोजी-रोटी के लिए आए आदिवासी मजदूर वर्ग के ये लोग गाँव-गाँव जाकर मजदूरी का काम करते थे। मुख्यत: ये जमीन खोदने, दीवार तोड़ने अथवा घर तोड़ने या किसी के घर में कहीं साँप घुस गया है तो उसे निकालने जैसे काम करते थे। इस दौरान सब्बल (एक लोहे का राड) जो कि एक सिरे से नुकीला होता है इन मजदूरों के द्वारा औजार के रूप में प्रयोग किया जाता था। अमूमन समुदाय के लोग इस औजार को साथ लेकर चलते थे। इसी से शायद सब्बल से समुदाय का नाम सबरिया पड़ गया। इनके रहने के तम्बूनुमा घर गाँव के जिस आखिरी छोर पर होते हैं उसे ही सबरिया डेरा कहा जाता है। वर्तमान में भी सबरिया समुदाय के अधिकांश लोग खेती, मजदूरी आदि कार्य करते हैं। इसके साथ-साथ एक बात और गौर करने वाली है कि इस समुदाय के एक दो लोग अब सरपंच और शिक्षक के पदों तक भी पहुँच गए हैं।

अन्य समुदायों की तरह सबरिया समुदाय भी उत्सवों, त्यौहारों, परम्पराओं में विश्वास रखता है। ये सब उनके जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं को दर्शाते हैं। किन्तु शिक्षकों के अनुसार इस समुदाय का हर थोड़े दिन में किसी न किसी उत्सव को मनाना और बच्चों का उनमें शामिल होना, शाला में उनकी अनियमितता और पढ़ाई में बाधा का मुख्य कारण है। लेकिन मुझे लगता हैं कि उनके उत्सवों, त्यौहारों और परम्पराओं को भी हमारी शिक्षा व्यवस्था में या सीखने के स्वरूप में उपयोग किया जा सकता है।

शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, कटौद

जांजगीर से लगभग 35 किलोमीटर दूर नवागढ़ ब्लॉक में केरा रोड के दाहिनी ओर लगभग 5000 की आबादी वाला गाँव है कटौद। कटौद के स्कूलों में आजकल कुछ युवा शिक्षकों का समूह पढ़ा रहा है। यहाँ शासकीय प्राथमिक शाला, माध्यमिक शाला और हाई स्कूल एक ही परिसर में संचालित हो रहे हैं। सभी शिक्षक एक दूसरे को सहयोग देते हैं। यहाँ तक कि प्राथमिक और माध्यमिक शाला के शिक्षक आवश्यकता पड़ने पर और शिक्षकों की कमी होने पर, कभी-कभी हाई स्कूल में भी अपनी क्षमता के अनुसार अध्यापन का कार्य करते हैं। माध्यमिक शाला के प्रधान शिक्षक और सीआरसी भी युवा शिक्षकों का मार्गदर्शन करते हैं।

प्राथमिक शाला में कार्यरत एक शिक्षक साथी जो अकादमिक समन्वयक भी हैं, से इन स्कूलों के सन्दर्भ में काफी विस्तार से चर्चा हुई। यह चर्चा मुख्यत: प्राथमिक शाला में बच्चों की शिक्षा के स्तर को लेकर थी। उन्होंने बताया कि, सन् 1990 में उन्होंने शिक्षामित्र के तौर पर शुरुआत की थी। उन्हें शिक्षण कार्य पसन्द है और वे अपनी तरफ़ से ऐसा हर सम्भव प्रयास करते हैं जिससे बच्चे सीख सकें। अच्छी बात यह है कि इस काम में पूरा युवा स्टाफ सहयोग करता है और सब स्कूल के भले के लिए योजना बनाने और उसके क्रियान्वयन के लिए प्रयास करते हैं। जब स्कूल में बागवानी की बात आई तो सभी शिक्षकों ने 500-500 रुपए देकर पौधों के चारों ओर ईंट और सीमेंट का घेरा बनवाया है। हालांकि उनके अनुसार प्राथमिक शाला के प्रधान शिक्षक के साथ काम करना थोड़ा चुनौती भरा है। प्रधान शिक्षक बैठे रहते हैं खाली रहने पर भी कक्षा में नहीं जाते। इस पर अकादमिक समन्वयक का कहना है कि उनको क्लास नहीं लेना है तो कोई बात नहीं वे कार्यालय का काम करते हैं और अन्य शिक्षक साथी अकादमिक कार्य करते हैं।

बातों-बातों में गाँव और स्कूल के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने सबरिया डेरा स्कूल का ज़िक्र किया जो कि वहाँ से लगभग एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि वहाँ सबरिया समुदाय के लोग रहते हैं और मुख्यधारा के लोगों का नज़रिया अभी भी सबरिया समाज के लिए बराबरी का नहीं है। जिस प्रकार कमार, देवार समुदाय के बच्चों को समझा जाता है कुछ इसी तरह का नज़रिया इनके बारे में भी है। मैंने सबरिया डेरा प्राथमिक शाला का अवलोकन करने जाना तय किया और अकादमिक समन्वयक और मैं सबरिया डेरा की ओर चल दिए।

कटौद स्कूल

सबरिया पारा (मोहल्ला) कटौद माध्यमिक शाला से कुछ ही दूरी पर स्थित है। प्राथमिक स्कूल का भवन, रसोई कक्ष, शौचालय, चारदीवारी सभी मौजूद है। स्कूल के बच्चे बाहर खेल रहे थे। कार्यालय में पटेल सर कुछ कार्यालयीन कार्य में व्यस्त थे। मैंने अपना परिचय दिया और बातचीत शुरू की। पटेल सर ने बताया "अधिकांश बच्चों के अभिभावक शराब बनाने का काम करते हैं, उनमें शिक्षा के प्रति जागरूकता नहीं है इसलिए कम बच्चे स्कूल आते हैं।" उन्होंने कहा हालाँकि इसके बारे में अभी कुछ कहना जल्दबाजी होगी कि वर्तमान परिस्थितियों में जीने के लिए लोग आजीविका को महत्व दें या भविष्य के लिए संरक्षित की जाने वाली (वर्तमान में चल रही शिक्षा पद्धति) शिक्षा को। सबरिया डेरा शाला के एक शिक्षक साथी ने कहा कि, "बच्चों की भाषा को लेकर भी कुछ चुनौतियां हैं, बच्चे अलग भाषा का प्रयोग करते हैं जो न छत्तीसगढ़ी है न हिन्दी।" शिक्षक ने बताया, "शासन की योजना के अनुसार हर एक किलोमीटर के अन्दर सबरिया बच्चों को स्कूल तो मिल गया, लेकिन शिक्षकों को उनकी भाषा की समझ न होने की वजह से पढ़ाने में परेशानी होती है।"

धमतरी में कार्य करते हुए अपने अनुभवों के आधार पर एक बात तो मैं कह सकता हूँ कि स्कूल को बच्चों के लायक बनाने में शासन पूरी तरीके से कामयाब नहीं हो पाया है। यहाँ तो बच्चों को स्कूल के लायक बनने की दिशा में प्रयास किए जा रहे हैं।

जिस दिन मैं कटौद स्कूल गया उस दिन कक्षा 1 से कक्षा 5 तक के कुल 47 में से 27 बच्चे स्कूल नहीं आए थे। युवा शिक्षक, जो इस स्कूल में लगभग तीन साल गुजार चुके हैं, ने कहा "सर मैं यहाँ से स्थानान्तरण चाहता हूँ यहाँ मुझे अच्छा नहीं लगता। मेरे बच्चे भी बड़े हो रहे हैं। उनकी शिक्षा के लिए मैं बिलासपुर स्थानान्तरण चाहता हूँ।" हालाँकि अपने स्थानान्तरण की बाट जोहते शिक्षक को मैंने इस बात पर राजी किया कि जब तक वे यहाँ रहेंगे अच्छे से मेरे साथ काम करेंगे। स्कूल में पदस्थ एक और शिक्षिका का

भी लगभग यही कहना था। पुरुष शिक्षक साथी ने कुछ ही दिनों में और महिला शिक्षक साथी ने लगभग एक साल में अपने लिए स्थानान्तरण को ही उपयुक्त रास्ता मान लिया है।

अन्य स्कूलों के मुकाबले इस स्कूल में स्कूल अवधि के दौरान ही, यानी जल्दी ही ताले लग जाते हैं। बच्चों से पूछने पर अकसर यही जवाब मिलता है कि शिक्षक आए थे फिर उन्होंने छुट्टी कर दी। ऐसा क्यों किया यह पता नहीं। अवलोकन के दिन भी यही हुआ और बच्चों ने कहा इसलिए अब हम नहाने के लिए नाला पर जा रहे हैं। हालांकि शिक्षकों के अनुसार बच्चे कई-कई दिन नहाकर नहीं आते, उन्हें इसकी जरूरत ही नहीं लगती। अभिभावकों से बात करने पर मालूम हुआ कि उनको भी नहीं पता कि छुट्टी क्यों हुई। जैसा कि मैं पहले भी यह बात साझा कर चुका हूँ कि सबरिया डेरा स्कूल और वहाँ रह रहे लोगों के लिए कुछ विशेष चुनौतियाँ भी हैं जिनके कारण बच्चे अन्य कार्यों में संलग्न रहते हैं, स्कूल कम ही आ पाते हैं, ऐसी परिस्थितियों में जिस दिन वे आ पाएँ उस दिन ही स्कूल में ताला लगा रहना और भी चिंता का विषय है।

बच्चे

ठण्ड के मौसम में जब लोग मफ़लर, स्वेटर के बिना घर से बाहर नहीं निकलते। सबरिया डेरा स्कूल के बच्चे अपनी बिना हुक की कमर से नीचे आती पैंट और बदन दिखाती टूटे बटन की शर्ट के साथ ऊर्जा से लबालब वहाँ थे। कुछ बच्चों को छोड़कर किसी ने यूनिफॉर्म नहीं पहना था, उनके पास वास्तव में यूनिफार्म है या नहीं अगले विजिट में इसका पता करने की कोशिश करूँगा।

बच्चे धूप में खेल रहे थे तब मैंने उनसे कुछ देर बात की। बहुत से बच्चे नहाकर नहीं आए थे। कुछ बच्चों की बहती हुई नाक ने होठों तक का सफ़र पूरा कर लिया था। उन्होंने बताया कि स्कूल में खेलने में मज़ा आता है और भी कई बातें हुईं। कुछ फोटो भी खींचे गए। लेकिन जब उन बच्चों के साथ मेरी फोटो खिंचाने की बारी आई, तब मैंने सेल्फ़ी न लेते हुए बच्चों से कहा मैं सबको मोबाइल से फोटो खींचना सिखाता हूँ। कोई खींच सकेगा क्या? कई बच्चे तैयार हो गए और एक बच्चे छोटू ने फोटो खींची और एक बच्ची उसे समझा रही थी। "सर का मोबाइल टच स्क्रीन है देख के चलाना।" ये वही बच्चे हैं जिनके सीखने की गति को लेकर आमतौर पर शिक्षक साथियों को और समाज के एक बड़े वर्ग को सन्देह रहता है। जो बच्चे दौड़ते, खेलते थकते नहीं, जो बच्चे ठण्ड में नंगे पाँव जमीन पर दौड़ते रहते हैं, पलक झपकते ही दीवार पर, छत पर चढ़ जाते हैं, एक बार बताने पर ही स्मार्ट फोन से फोटो खींच लेते हैं, टूटे हुए बाथरूम को अपना किचन मानकर खाना पकाते हैं, उन बच्चों के बारे में शिक्षक साथी अकसर यही कहते दिखते हैं, ये नहीं सीखते, न सीखना चाहते या फिर सीख ही नहीं सकते।

शाला प्रबन्धन समिति

इन शालाओं के शिक्षकों से शाला प्रबन्धन समिति के विषय में चर्चा करने पर यह बात निकलकर आई कि अधिकांश शालाओं में शाला प्रबन्धन समिति सुचारु रूप से संचालित नहीं होती। चूँकि ग्राम कटौद में सरपंच महोदय सबरिया समुदाय से ही आते हैं इसलिए वो व्यक्तिगत रूप से रुचि रखकर इस स्कूल के लिए प्रयास कर रहे हैं। बच्चों की स्कूल में उपस्थिति के प्रयास और एसएमसी में सहभागिता को लेकर हुई चर्चा से यह निकल कर आया कि फ़िलहाल शाला प्रबन्धन समिति अपने दिशा निर्देशों के अनुसार काम करने से कोसों दूर हैं। यह मैं अपने अनुभवों के आधार पर कह रहा हूँ और शिक्षक ने जो बताया वो भी कुछ इसी तरह का था।

मध्याह्न भोजन

मध्याह्न भोजन का संचालन सरपंच जी की पत्नी की जिम्मेदारी है। स्कूल में मध्याह्न भोजन

के लिए एक नया और पक्का कमरा होने के बावजूद मध्याह्न भोजन सरपंच के घर से ही बन कर आता है। हालाँकि पूरी बातचीत के दौरान शिक्षक साथी की ओर से यही बात कही जा रही थी कि स्कूल के प्रति सरपंच का रवैया सहयोगात्मक है।

जिस प्रकार हम कई शहरों में द्विस्तरीय, बहुस्तरीय जीवन शैली देखते हैं, कुछ उसी तरह का एक छोटे से गाँव कटौद में भी दिख जाता है। गाँव के छोर पर बसे सबरिया पारा और उसके स्कूल के पास की जगह झुग्गी झोपड़ी और कुछ कच्चे मकानों में तब्दील हो गई है। कुछ ने बिना प्लास्टर के ईंट के घर भी बना लिए हैं।

बच्चों और उनके सीखने को लेकर शिक्षकों की मान्यताएँ

शिक्षकों का कहना है ये तेलुगु बोलते हैं (हालाँकि किसी को यह पक्का पता नहीं था कि वे बच्चे या वह भाषा तेलुगु है भी या नहीं)। ये तो छत्तीसगढ़ी भी नहीं बोल पाते, ये हिन्दी क्या बोलेंगे और पढ़ेंगे और फिर अँग्रेजी क्या बोलेंगे? पढ़ाई में इनकी रुचि नहीं है। इन बच्चों के अभिभावक इनकी शिक्षा पर ध्यान नहीं देते। ये स्कूल से लगातार अनुपस्थित रहते हैं। इनके घरों में शराब बनाई जाती है। ये लोग काम के लिए अन्य राज्यों में पलायन करते हैं। ये नहाते नहीं है, गन्दे रहते हैं आदि। इन कथनों में सभी तरह के नकारत्मक पूर्वाग्रह हैं, जो उन बच्चों के साथ उनके व्यवहार को अत्याधिक दूरी पैदा करने वाला ही नहीं वरन् उनके प्रति हिकारत भरा रवैया भी दिखाता है।

इस स्कूल से कक्षा पाँचवी पास कर चुके एक बच्चे से जब मैंने दीवार पर लिखे 'माप' को पढ़ने के लिए कहा ताकि आगे की बात की जा सके तो पाया कि वह पढ़ पाने में असमर्थ है। अन्य बच्चों से भी पूछने पर यह साफ़ हो गया कि अधिकांश बच्चे पढ़ पाने में असमर्थ हैं।

2017 के नए सत्र में कक्षा पहली में सिर्फ़ दो बच्चों ने ही प्रवेश लिया था। कुल मिलाकर कक्षा पहली से पाँचवी तक 21 बच्चे ही थे और इनके लिए दो शिक्षक। स्कूल में चल रही प्रक्रियाओं को देखते हुए बच्चों के इतनी कम संख्या में प्रवेश पर ज़्यादा आश्चर्य नहीं हो रहा था।

कुछ साल पहले दंतेवाड़ा में रहते हुए, जब मैं कुछ बच्चों को सीखने में आ रहीं चुनौतियों को याद करता हूँ तो कई बातें मन में आती हैं। एक बच्चे के सन्दर्भ में हुए मेरे अनुभव का जिक्र करूँगा। आंध्रप्रदेश से पलायन करके आए हुए एक परिवार के एक बच्चे के बारे में, शिक्षकों और बच्चे के माता-पिता द्वारा कहा जा रहा था कि बच्चा गधा है कुछ सीखता नहीं। लेकिन बाद में कुछ और ही बात निकल कर आई। वह बात उसके और स्कूल के बीच की संवादहीनता को सबके सामने ला रही थी। वह यह कि बच्चा लगभग 6 साल का था और सिर्फ़ तेलुगु भाषा ही थोड़ी बहुत ठीक से बोल पाता था और थोड़ी बहुत हिन्दी समझ पाता था। इस वजह से शिक्षक परेशान होकर उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते थे। इसलिए बच्चा, कक्षा में चलने वाली अकादमिक गतिविधियाँ में भाग नहीं ले पाता था।

शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, लोहर्सी (पामगढ़)

शिवरीनारायण से बिलासपुर मार्ग में लोहर्सी नाम का एक गाँव है। शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, लोहर्सी में एक शिक्षिका और एक शिक्षक कार्यरत हैं।

शिक्षक और शिक्षिका समर कैम्प, अमरकंटक में शामिल हो चुके हैं, इसलिए उनसे कई अन्य मुद्दों पर हमारे साथियों की बातचीत हो चुकी थी। इस स्कूल में कक्षा पहली से पाँचवी तक 21 बच्चे हैं। प्रत्येक कक्षा में औसतन लगभग पाँच बच्चे, जैसा कि अन्य सबरिया डेरा के स्कूलों में संख्या होती है। कटौद सबरिया डेरा स्कूल

और लोहर्सी सबरिया डेरा स्कूल के बच्चों, शिक्षक और अभिभावकों से चर्चा और स्कूल के अध्ययन से यह लगने लगा कि बच्चों के माता-पिता की आर्थिक और सामाजिक स्थिति लगभग समान है। रहन-सहन वेश-भूषा, बात करने की भाषा भी एक ही है। और जिन गाँवों में यह लोग रह रहे हैं उसका भी स्तर कोई बहुत ज्यादा भिन्न नहीं है।

लेकिन, स्कूल में अवलोकन से कुछ अन्तर पता चलता है। एक ओर जहाँ कटौद के बच्चे झिझकते नजर आते हैं, पाँचवी पास बच्चे भी कुछ पढ़-लिख पाने में सहज नहीं थे, कोई भी बच्चा स्कूल यूनिफॉर्म नहीं पहने था। वहीं, लोहर्सी के बच्चे बारी-बारी अपना परिचय दे रहे थे, हिन्दी, अँग्रेजी की कविता सुना रहे थे और कविता बोलने के लिए अपनी बारी का इंतजार कर रहे थे। कुछ बच्चे दोबारा भी कविता सुनाना चाह रहे थे।

शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, देवरी

शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, देवरी संकुल केंद्र खरौद में स्थित है। यहाँ कार्यरत शिक्षक बताते हैं कि, पहले वो स्कूल के सामने पेड़ के नीचे बच्चों को पढ़ाते थे। बाद में स्कूल भवन का निर्माण हुआ। स्कूल का नाम भले ही सबरिया डेरा है लेकिन यहाँ अन्य समुदाय के भी बच्चे पढ़ते हैं, इसी वजह से अब लोगों का स्कूल के प्रति नज़रिया बदला है। वहाँ कार्य कर रही शिक्षिका का कहना है, "मैं बच्चों से सिर्फ हिन्दी में ही बात करती हूँ बच्चे भी हिन्दी बोलने की कोशिश करते हैं।" इसमें बच्चों की अपनी पहचान खो जाने के ख़तरे का कोई अहसास नहीं है।

शासकीय प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, कमरीद

यहाँ पदस्थ शिक्षक अपने अनुभवों के आधार पर कहते हैं कि सबरिया डेरा समुदाय के बच्चों के साथ काम करना काफी चुनौती भरा है। समुदाय के लोग थोड़े-थोड़े दिन में कुछ न कुछ त्यौहार मनाते रहते हैं जिसकी वजह से बच्चे स्कूल नहीं आते। कुल मिलाकर मेरी यही समझ बनती है कि सबरिया समुदाय का जीवन उत्सव और उत्साह से भरा है पर हमारी वर्तमान स्कूली व्यवस्था के खाँचे में वो फिट नहीं बैठते।

कुछ बच्चे जो पहले पास के ही दूसरे स्कूलों में पढ़ते थे और किन्हीं कारणों से इस स्कूल में आ गए थे। वे बच्चे अपनी बातचीत के दौरान अँग्रेजी, हिन्दी और तेलगु शब्दों का उपयोग कर रहे थे। वे हमको भी हर हिन्दी शब्द का तेलगु में समानार्थी शब्द बताते जा रहे थे। इससे यह लगता है कि सभी बच्चों में और सबरिया बच्चों में भी सीखने की क्षमता है। इसीलिए दूसरे स्कूल से आए बच्चों की प्रतिभा, उनके शब्द भण्डार और उनकी भाषा पर पकड़ को देखते हुए लग रहा था कि कई भाषाओं को सीखने की कोशिश जैसे कदम उनके सीखने को समृद्ध बनाएँगे न कि उसमें बाधा उत्पन्न करेंगे।

शासकीय उन्नयित प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, रहौद

वर्तमान में यहाँ तीन शिक्षक पदस्थ हैं। इनमें से एक, विशेष पदस्थापना के तहत यहाँ पदस्थ हैं और दो शिक्षक पहले से ही शाला में हैं। वर्तमान में शाला में 80 बच्चे दर्ज हैं। उस दिन इनमें से आधे ही यानी 40 बच्चे उपस्थित थे। शिक्षकों ने बताया कि सबरिया डेरा और धनवार डेरा के बच्चे प्राय: अनुपस्थित रहते हैं। हर माह कुछ न कुछ त्यौहार मनाते हैं और सात-आठ दिन बच्चे अनुपस्थित रहते हैं। कुछ परिवार रोजी-रोटी के लिए पलायन कर गए हैं और बच्चे भी उनके साथ चले गए हैं।

इस स्कूल व अन्य स्कूलों के अवलोकन और शिक्षकों से हुई बातचीत से पता चला कि सबरिया समुदाय के अधिकांश बच्चे नियमित स्कूल नहीं आते। नियमित स्कूल न आने के निम्न कारण बताए गए, जो वर्तमान परिस्थिति को दिखाते हैं और इस तरह सुझाते भी हैं कि

किन पहलुओं पर काम करने की जरूरत है। ये हैं:

- सबरिया समुदाय के अभिभावकों का शिक्षा के प्रति जागरूक न होना।
- कम उम्र में ही लड़के और लड़कियों का विवाह कर देना।
- रोजगार के लिए पलायन करना।
- घरों में शराब बनाना और अभिभावकों का और कई बार बच्चों का भी शराब का सेवन करना।
- सबरिया समुदाय के द्वारा बोली जाने वाली भाषा का शिक्षकों को समझ न आना।
- स्कूल की अवधि में ही आजीविका के लिए बकरी, गाय चराना या फिर मछली पकड़ना।

समुदाय से चर्चा

इस दौरान हमने समुदाय से भी बातचीत की। ऊपर एक दो जगह हमने इसका उल्लेख भी किया है। इससे भी कई महत्त्वपूर्ण बातें सामने आईं। कटौद के सरपंच ने कहा, "सर जी अब ए बच्चा मन बार ओही गुरुजी ल लाबो जो की एमन के बात समझ सके अउ ए मन के भाषा बोल सके"। उन्होंने शिक्षक व बच्चों में दूरी को कम करने की और बच्चों की भाषा इस्तेमाल करने की ज़रूरत को बहुत सरल शब्दों में रख दिया।

समुदाय द्वारा आयोजित एक अन्य बैठक में भी हमको शामिल होने का अवसर प्राप्त हुआ। इस बैठक में फ़ैसला हुआ कि अभिभावक अपने बच्चों को स्कूल भेजें और खेतों में या मजदूरी न करवाएँ। आदिवासी समाज में दण्ड का भी प्रावधान है तो ये फैसला लिया गया कि जो भी अपने बच्चों को (बेवजह) स्कूल नहीं भेजेगा, उसे शाला विकास के लिए पाँच रुपए दण्ड स्वरूप स्कूल में जमा करना होगा। बच्चों को स्कूल भेजने पर सभी की सहमति बनी।

जैसे-जैसे स्कूल के आसपास की आबादी बढ़ रही है अन्य कई जातियों के लोग भी यहाँ पर स्थाई रूप से बसने लगे हैं। लेकिन किसी भी अन्य जाति के बच्चे सामान्यतः इन स्कूलों में नहीं आते। वे सब दूसरे स्कूलों में जाते हैं। इन अन्य स्कूलों के बच्चों के पालकों से सम्पर्क के दौरान पालकों ने कहा कि यह स्कूल सबरिया समुदाय का है, हम अपने बच्चों को यहाँ नहीं भेजेंगे। शिक्षक ने समझाया कि बस नाम भर ही सबरिया डेरा है, हर समुदाय के बच्चे यहाँ पढ़ सकते हैं। इस पर पालकों ने अपना वोटर आईडी कार्ड दिखाते हुए कहा कि वोटर आईडी में तो गाँव भाटापारा, कटौद लिखा है तो फिर स्कूल का नाम सबरिया डेरा क्यों? पहले स्कूल का नाम बदलवाओ तब हम अपने बच्चों को इस स्कूल में पढ़ाएँगे। अब इस स्कूल के शिक्षक और समुदाय सरपंच के साथ मिलकर, स्कूल का नाम सबरिया पारा से भाटापारा करवाने के प्रयास में लगे हैं।

बच्चों के सीखने के सन्दर्भ में कुछ शिक्षकों द्वारा किए जा रहे प्रयास

सबरिया डेरा की शालाओं में एक ओर तो कुछ शिक्षक बच्चों को सिखाने के प्रयास से हतोत्साहित हो रहे हैं वहीं दूसरी ओर कुछ शिक्षक बच्चों को सीखने में मदद का भरसक प्रयास कर रहे हैं। शासकीय उन्नयित प्राथमिक शाला सबरिया डेरा, रहौद की शिक्षिका बच्चों से कुछ घुली-मिली लग रही थी। जब मैंने शिक्षिका से पूछा कि आप इतनी आसानी से कैसे बच्चों से घुलमिल गई हैं और बच्चे खेल रहे हैं बातचीत कर रहे हैं। तब उन्होंने बताया कि वो सबरिया समुदाय से ही हैं लेकिन उनकी पढ़ाई और परवरिश बाहर हुई है। उनके पिता जी इस समुदाय से पढ़ कर सरकारी नौकरी पाने वाले पहले व्यक्ति थे। वे पुलिस विभाग में थे। और इस समुदाय से वे पहली महिला शिक्षिका हैं। क्योंकि वे इस समुदाय से आती हैं इसलिए उनको बच्चों द्वारा बोली जाने वाली भाषा समझ आती है। और यह बच्चों को सीखने में मदद करती

है। शिक्षिका से जब मैंने पूछा कि जिस भाषा का आप प्रयोग कर रही हैं क्या वो तेलुगु भाषा है, तो उन्होंने कहा कि ये तेलुगु नहीं सबरिया बोली है और इसकी कोई लिपि नहीं है।

स्कूल में कार्यरत शिक्षक बच्चों को सिखाने का हर सम्भव प्रयास कर रहे हैं। कक्षा एक के बच्चे एक एनजीओ द्वारा दिए गए किट और कंकड़ पत्थरों से गणित की अवधारणा पर अपनी समझ बनाते और संख्याओं को जोड़ते नजर आ रहे थे। कक्षा पाँचवी की एक बच्ची से जब यह पूछा गया कि जो भाषा तुम बोल रही है क्या उस भाषा में 1 2 3 4 ... गिनती बोल सकती हो। शिक्षिका ने कहा कि नहीं, यह बच्ची वो वाली गिनती तो नहीं बोल पाएगी। लेकिन उस बच्ची ने कहा कि वो अपनी भाषा में 10 तक गिनती गिन सकती है। और उसने गिनती बोल के दिखा दिया।

रहौद की शिक्षिका के सामने सबरिया समुदाय की होने की वजह से निश्चित रूप से बच्चों को सिखाने में भाषा को लेकर कोई चुनौती नहीं है जो कि कटौद की शिक्षिका और शिक्षक को हो रही है। लेकिन कोई शिक्षक साल भर बच्चों को सिखाने का प्रयास कर रहा है और बच्चे कुछ भी सीख नहीं पा रहे हैं ये बात समझ में नहीं आती। बातचीत में लोहर्सी की शिक्षिका ने कहा कि, "मैं हर जगह तो बच्चों को सिखाने नहीं जा सकती।"

जब भी मुझे रायपुर और अन्य जगहों पर ट्रेनिंग के लिए बुलाया गया है तो मैंने सबरिया डेरा स्कूलों में काम कर रहे शिक्षकों को अपने अनुभव भी बताए हैं । मेरा मानना है कि–

- शिक्षकों को इन बच्चों को सम्मान देते हुए बातचीत करनी चाहिए और इनकी झिझक हटाने में सहयोग देना चाहिए।
- इसी समुदाय से जो बच्चे आठवीं पढ़ जाते हैं उनका इन बच्चों को सिखाने में सहयोग लेना चाहिए।
- यह कोशिश करनी चाहिए कि सबरिया समुदाय से ज़्यादा से ज़्यादा बच्चे पढ़कर निकलें खासकर प्राथमिक और उच्च प्राथमिक शालाओं में पढ़कर।
- बच्चों को ज़्यादा से ज़्यादा एक्सपोजर का मौका मिलना चाहिए।

यहाँ पर एक बात गौर करने की है कि इस समुदाय से बहुत ही कम बच्चे आठवीं तक पढ़ाई कर पाते हैं, और तो और कक्षा पाँच पास किए बच्चे भी वर्णमाला भी नहीं पढ़ पाते। शिक्षक भी इनको सीखने में उस तरह से मदद नहीं कर पाते हैं जैसी उनको करनी चाहिए।

वहीं दूसरी ओर काफी जद्दोजहद और सीएसी और सरपंच के लगातार प्रयासों के बाद सबरिया पारा कटौद में दो शिक्षकों की नियुक्ति हो गई है। इनमें से एक सबरिया समुदाय से ही है। हालाँकि यह शिक्षक बचपन से ही एक हाथ से कुछ कर पाने में असमर्थ है लेकिन फिर भी ये शिक्षक स्कूल आने से पहले, स्कूल में पढ़ने वाले प्रत्येक बच्चों के घर जाकर बच्चों को शाला लेकर आते हैं। मध्याह्न भोजन भी अब शाला परिसर में ही बनता है।

एक अन्य स्कूल में स्कूल लीडरशिप डेवलपमेंट प्रोग्राम के तहत स्कूल के प्रधान शिक्षक द्वारा अनुपस्थित बच्चों को स्कूल में लाने का प्रयास किया गया था। इसमें वो बहुत हद तक सफल भी हुए थे। वर्तमान में भी अगर बच्चे अनुपस्थित रहते हैं तो शिक्षक पालकों से मिलने जाते हैं। परन्तु एसएलडीपी कार्ययोजना ऐसे बहुत से प्रयासों की श्रेणी में शामिल हो गई है जो एक साल के प्रोग्राम मोड के रूप में तब्दील हो जाते हैं। शिक्षकों का मानना है कि वह तो पिछले साल की कार्ययोजना थी, अब थोड़ी करना है।

एक शिक्षक ने कहा कि साफ-सफाई के अभाव में कई बीमारियों के वजह से भी बच्चे कई बार स्कूल नहीं आ पाते है जैसे कि सात से आठ बच्चों को एक साथ चिकनपॉक्स हो जाना। और इसमें हम कुछ नहीं कर सकते। इन

सब कथनों और मान्यता के बीच यह आँकना मुश्किल है कि कौन-सा कथन सही है और कौन-सा मात्र एक मान्यताओं से जुड़ा हुआ यथार्थ से मेल न खाने वाला मत।

अन्ततः हम यही कह सकते हैं कि तमाम मान्यताओं और चुनौतियों के बावजूद कुछ शिक्षक हैं जो कि सबरिया डेरा के बच्चों को शाला लाने, सीखने में मदद करने हेतु प्रयासरत है।

निष्कर्ष

इस छोटे से अध्ययन से भी यह स्पष्ट रूप से दिखता है कि सभी बच्चों में सीखने की क्षमता होती है शायद सीखने के तरीके भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। वंचित समुदाय के बच्चों को शिक्षा दिलाने हेतु सरकार द्वारा इन कुछ समुदायों के नाम से ही सरकारी शालाएँ स्थापित की गई हैं। लेकिन इसी प्रकार की पहल इन जनजतियों के बच्चों को अन्य समुदाय के बच्चों से अलग करती हुई नजर आतीं है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में 'अनुसूचित जाति और जनजाति के बच्चों की समस्याएँ' पर केन्द्रित हिस्से के अनुसार भी अनुसूचित जाति और जनजाति के बच्चों की शिक्षा की जमीनी वास्तविकता के सर्वेक्षण से यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य की नीति और नौकरशाही दोनों ने मिलकर अभी तक संख्यात्मक रूप से बेहद अपर्याप्त और गुणात्मक रूप से बेहद घटिया शिक्षा प्रदान की है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में दिए गए सुझावों की अनुशंसा करते हुए और जमीनी चुनौतियों के अवलोकन के बाद भी मैं पूरे तरीके से बदलाव के बारे में विश्वास के साथ नहीं कह सकता, किन्तु कुछ बातों को इस शिक्षा व्यवस्था में तत्काल लागू किया जाना या पहल की जानी चाहिए। जैसे- जरूरी है कि घर में बोली जा रही भाषा ही स्कूल में शिक्षा के प्रारम्भिक वर्षों में संवाद / निर्देश का माध्यम हो। किन्तु इस दिशा में प्रयास करने हेतु शिक्षकों को समग्रता से प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है। शिक्षकों को और समाज के अन्य लोगों को इन आर्थिक व सत्ता की दृष्टि से वंचित समाज की सभ्यता, सांस्कृतिक विविधताओं व क्षमताओं को समझने की ज़रूरत है। विद्यालयी ढाँचों में जनजाति समुदाय की संस्कृति और सभ्यता को स्थान देने की आवश्यकता है।

नीरज राणा, वर्ष 2013 से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में फेलोशिप प्रोग्राम के अन्तर्गत जुड़े हुए हैं। वर्तमान में, फाउण्डेशन के जिला संस्थान जांजगीर चांपा में फील्ड रिसर्च टीम के साथ कार्यरत हैं।
सम्पर्क : neeraj.rana@azimpremjifoundation.org

रटने की ओर जाती शिक्षा व सीखना-सिखाना

पत्रिका की संवाद श्रृंखला की यह तीसरी परिचर्चा है और विषय है– 'रटने की ओर जाती शिक्षा और सीखना-सिखाना।' पहले दो संवाद दिल्ली में आयोजित किए गए थे, इस बार यह संवाद उदयपुर में किया गया।
संवाद में उदयपुर जिले के शिक्षकों– कानपुर शासकीय स्कूल में भौतिकी के शिक्षक राजेश भट्ट, शासकीय विद्यालय गोगुन्दा main की शिक्षिका शहनाज़ डी के और विद्या भवन के शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्राध्यापक डॉ गिरीश शर्मा व विद्या भवन शिक्षा सन्दर्भ केन्द्र से सम्बद्ध विज्ञान और पर्यावरण विषय की स्रोत सदस्या यशोधरा ने भागीदारी की। संवाद का संचालन रजनी द्विवेदी और गुरबचन सिंह ने किया। संवाद के समन्वयन में रंजना ने सहयोग किया।

रजनी द्विवेदी : जैसा कि ऊपर ज़िक्र किया गया है, इस संवाद में 'रटने की ओर जाती शिक्षा व सीखना-सिखाना' के बारे में बातचीत है। इस विषय से सम्बन्धित कुछ चुने हुए सवालों पर चर्चा हुई, ये हैं:

आमतौर पर समझने, रटने और याद करने को एक जैसा माना जाता है। क्या ये एक जैसे ही हैं या इनमें कुछ फ़र्क़ है और यदि फ़र्क़ है तो वह क्या है?

दूसरा सवाल था कि क्या कक्षाओं के स्तर बदलने से इस विषय यानी समझने, रटने और याद करने के मायने भी बदल जाते हैं? या ये मायने एक जैसे ही रहते हैं और अगर ये बदल जाते हैं तो किस तरह से बदल जाते हैं?

तीसरा सवाल था, आज की शिक्षा पद्धति में जिस तरह का सीखने-सिखाने का काम हो रहा है क्या उसमें रटने की प्रवृत्ति और ज़रूरत बढ़ गई है ? और यह रटना क्यों और कैसे हो रहा है ?

और चौथा, आज की प्रतियोगी शिक्षा प्रणाली के दौर में पढ़ाई का जो स्वरूप है क्या हम उसमें रटे के बिना पढ़ाई की कल्पना कर सकते हैं और यदि नहीं, तो क्यों ?

डॉ गिरीश शर्मा : पहला सवाल– समझने, रटने और याद करने को अकसर एक जैसा समझा जाता है क्या ? मेरा मानना है कि तीनों में फ़र्क़ है। जैसे कोई प्रश्न है, अगर 'समझकर याद करने' की दृष्टि से देखें तो जिस बच्चे ने किसी चीज़ को समझ लिया वह परीक्षा में जाकर उसको कैसे भी लिख देगा। लेकिन वह, जिसने पूरा का पूरा पेज रटा है, तो वह सवाल में अगर थोड़ा-सा भी फेरबदल हो गया है, या वह उसके उत्तर का एक भी बिन्दु भूल जाता है, तो फिर उसके जवाब को नहीं लिख पाएगा। लिखने के लिए उसे शुरुआत की लाइन याद आनी चाहिए। वैसे कभी-कभी लगता है कि याद करना और रटना लगभग एक जैसा ही है। परन्तु याद करने में बच्चा अपनी तरफ़ से भी इनपुट दे सकता है। उदाहरण के लिए, एक पेज के उत्तर वाला कोई प्रश्न रटना है पर हर किसी बच्चे की क्षमता नहीं होती कि वो जस का तस उसे रट ले। मुझे लगता है कि अधिकांश बच्चे याद रख सकते हैं और याद करने के कई तरीक़े हैं

जैसे– उसे बिन्दुवार लिखना या उसका कोई फ़्लो-चार्ट बनाना या कोई चित्र बनाना कि मुझे इस तरह से इस प्रश्न का जवाब लिखना है। यानी याद करने में वह अपना समझा हुआ चित्र याद करके उत्तर बना कर किसी भी तरह से लिख सकता है। 'समझने' में उसके दिमाग़ में पूरी छवि बन गई कि यह मुख्य अवधारणा है, मुझे इसे इस तरह से याद रखना है, और इस तरह से उत्तर पुस्तिका में लिखना है। अगर ऐसा कोई भी सवाल आएगा तो मैं उसका उत्तर अच्छे से लिख लूँगा। मुझे इस तरह इन तीनों में फ़र्क़ लगता है।

दूसरा सवाल– क्या प्राथमिक, उच्च प्राथमिक या बाक़ी कक्षाओं के स्तर के अनुरूप इनके मायने बदल जाते हैं? तीसरी कक्षा से बारहवीं कक्षा के बारे में हम सोचें तो शुरुआत में जब बच्चा स्कूल आता है तब वह रटने की कोशिश नहीं करता है, बिल्कुल भी नहीं करता। यहाँ तक कि घर पर भी वह चीज़ों को समझता है और सोचने की कोशिश करता है। जब वह स्कूल में आने लगता है, अपने साथियों से मिलता है, अपने शिक्षक से मिलता है और स्कूल में सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं से जुड़ता है, बस वहीं से धीरे-धीरे उसकी रटने की आदत शुरू हो जाती है। उसको कहा जाता है कि कुत्ते को कुत्ता न बोलकर 'डॉग' बोलो और बिल्ली को 'कैट' बोलो। समझना तो कहीं और रह जाता है और बिना समझ के एवं बिना अर्थ के याद रखने पर ज़ोर होता है। रटने की प्रवृत्ति यहीं से शुरू होती है। यह सब शुरुआती कक्षाओं यानी कक्षा एक-दो से ही शुरू हो जाता है। अगर शुरुआती कक्षाओं से ही समझने पर ज़ोर हो तब हो सकता है कि बारहवीं कक्षा तक आते-आते या उससे बहुत पहले ही उसको समझ कर सीखने का महत्त्व पता चल जाए ।

" वे सभी चाहते थे कि उन्हें केवल प्रश्न व उनके उत्तर लिखवा दिए जाएँ और वे उन सभी प्रश्नों व उनके उत्तरों को रट लें। वे इस तरह से पढ़ना ही नहीं चाहते थे, जिसमें पहले उनको ख़ुद को कुछ काम करना हो। "

इसी के चलते, बीएड में जो छात्र हमारे पास आते हैं (वैसे बारहवीं या स्नातक कक्षाओं का भी कुछ ऐसा ही हाल होगा) यदि हम उनको कहें कि यह प्रश्न समझना है तो वे समझेंगे नहीं, रटेंगे ही। एक उदाहरण मैं आपको देना चाहूँगा– बीएड के कुछ छात्र जो तीस की उम्र के आसपास थे, उन्होंने मुझसे कहा कि वे कुछ प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहे हैं और इसलिए वे चाहते हैं कि मैं उन्हें भूगोल पढ़ा दूँ। मैंने उनसे कहा कि मेरा विषय शिक्षण पद्धतियाँ हैं अतः भूगोल को किस तरह पढ़ाया जाता है मैं उस बारे में ज़्यादा बात नहीं कर सकता हूँ। उन्होंने मुझ पर बहुत दबाव बनाया और अन्ततः मैंने भी सोचकर हाँ कह दी कि इससे मेरा विषय का दोहराव हो जाएगा।

हमने एनसीईआरटी की छठी कक्षा की किताब से शुरुआत की। पहला पाठ लेकर उसके पहले पैराग्राफ़ से उसे पढ़ना शुरू किया। छात्रों से मैंने कहा कि इस पाठ को पढ़ने के दौरान जो प्रश्न बन रहे हैं हम उन पर बात करेंगे। पढ़ते-पढ़ते यह भी रेखांकित कर लें कि कहाँ क्या प्रश्न बन सकता है। यानी पहले वे बिन्दु और अवधारणाएँ ढूँढ़ लें फिर अन्य स्रोत सामग्री या नेट पर इनके बारे में और ज़्यादा पढ़ने व जानने की कोशिश करेंगे तथा बातचीत भी करेंगे। एक-दो दिन तक यह सिलसिला जारी रहा पर फिर आगे नहीं चल पाया।

वे सभी चाहते थे कि उन्हें केवल प्रश्न व उनके उत्तर लिखवा दिए जाएँ और वे उन सभी प्रश्नों व उनके उत्तरों को रट लें। वे इस तरह से पढ़ना ही नहीं चाहते थे, जिसमें पहले उनको

ख़ुद को कुछ काम करना हो। मैंने कहा, "अगर तुम ख़ुद ही नहीं पढ़ना चाहते हो तो मैं ही एक-एक पैराग्राफ़ पढ़ता हूँ और फिर उसमें से हम सब मिलकर उन बिन्दुओं और अवधारणाओं को रेखांकित कर लेंगे। मैं बीच-बीच में प्रश्न पूछता हूँ कि किस तरह से इनपर समझ बनाना है।" फिर एक अन्य पाठ को तय प्रक्रिया से पढ़ाने की कोशिश की, पर यह तरीक़ा भी असफल हो गया।

मुझे लगता है कि अगर वे स्वयं पूरा पाठ पढ़ लेते तो उस पाठ पर उनकी एक व्यापक समझ बनती। और किसी अवधारणा के आगे-पीछे क्या अवधारणाएँ एवं उप अवधारणाएँ जुड़ रही हैं यह भी समझ आता, उसकी पूरी पृष्ठभूमि समझ में आती। फिर यदि प्रतियोगी परीक्षा में किसी भी तरह का प्रश्न आता तो वे उसे हल कर पाते। क्योंकि न तो उन्होंने स्कूल में पूरे पाठ पढ़े और ना ही स्नातक में उस तरह से पाठ पढ़े तो यहाँ भी वे पढ़कर समझना ही नहीं चाहते, बस रटना चाहते हैं।

मुझे लगता है कि रटने की प्रवृत्ति सभी स्तरों पर है और बहुत ज़्यादा है एवं सारा ज़ोर भी रटने पर ही दिया जा रहा है, क्योंकि सब ज़्यादा-से-ज़्यादा अंक प्राप्त करने की दौड़ में लगे हुए हैं। शिक्षा से व्यक्ति का जिस तरह का विकास होना चाहिए वह विकास खाली अंक प्राप्त कर लेने से नहीं होता, वह व्यक्तित्व में भी कहीं-न-कहीं झलकता है। किस तरह से हम अपने बच्चों से बात कर रहे हैं, किस तरह अपने सहकर्मियों से बात कर रहे हैं, किस तरह से हम अपने परिवार से बात कर रहे है, किस तरह से समाज में बात कर रहे हैं, यदि सारी शिक्षा रटने वाली होगी तो सारे समाज में भी इसी तरह की प्रवृति सामने आएगी। और अगर समझने वाली होगी तो मुझे लगता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व में भी विकास होगा और बदलाव भी आएगा।

राजेश भट्ट : मेरा मत है कि रटने वाला भी याद करने की कोशिश करता है और समझने वाला भी याद करने की ही कोशिश करता है। मैं इन तीनों को एक ही श्रेणी में नहीं रखना चाह रहा हूँ। एक समझना है और एक रटना। पहले हम इन दोनों में भेद-विभेद कर लें। रटना, एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें बच्चा दी गई विषयवस्तु को जस का तस याद कर लेता है परन्तु जब उसका उपयोग करने की बारी आती है, तब रटने वाला बच्चा असफल हो जाता है। सीखने के बारे में ख़ास बात यह है कि सीखे गए ज्ञान के उपयोग के जरिए वह विभिन्न परिस्थितियों में उसका इस्तेमाल कर सके, तो सीखना हुआ है। लेकिन रटने पर, रटे हुए का उपयोग करने में वह असफल हो जाता है।

स्कूली शिक्षा के बारे में मेरा मानना है कि वहाँ रटने की प्रणाली नहीं चल रही है। वहाँ

" समझाने का दूसरा अच्छा तरीक़ा यह हो सकता है कि बच्चों से प्रयोगों के माध्यम से ज़्यादा–से–ज़्यादा काम कराया जाए ताकि एक ऐसा अधिगम हो जाए जो स्थायी हो, यह आदर्श स्थिति होगी पर ऐसा होता नहीं है। "

सैद्धान्तिक तरीक़े से बोर्ड पर लिखकर समझाया जा रहा है। यह बात सही है कि वहाँ प्रयोग नहीं हो रहे हैं, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि वहाँ केवल रटाया जा रहा है। सिद्धान्तों को बार-बार उदाहरणों के माध्यम से व सवालों के माध्यम से हल करके समझाने की कोशिश की जा रही है। अतः यदि हम केवल यह कहते हैं कि आज के समय में चाहे कोचिंग सेण्टर हों या स्कूल हों, खाली रटा रहे हैं, यह कहना ठीक नहीं है। वे पढ़ा रहे हैं और समझा भी रहे हैं।

समझाने का दूसरा अच्छा तरीक़ा यह हो सकता है कि बच्चों से प्रयोगों के माध्यम से ज़्यादा-से-ज़्यादा काम कराया जाए ताकि एक

ऐसा अधिगम हो जाए जो स्थायी हो, यह आदर्श स्थिति होगी पर ऐसा होता नहीं है। लेकिन कक्षा में बोर्ड पर या कॉपी-पेन से समझा रहे हैं, रटा नहीं रहे हैं। रटना उसे कहते हैं जैसे– बचपन में पहाड़े बच्चों को ज़ोर-ज़ोर से बुलवाकर याद करा दिए जाते थे और उनकी स्मृति में वह पक़्क़े हो जाते थे। वह क्यों हो रहा है और कैसे, उसपर चर्चा कम थी बस पहाड़े याद होने चाहिए। लेकिन समझने वाला ढाँचा ऐसा नहीं है। कक्षा में बच्चों को समझाया जाता है एवं तरह-तरह के सवाल जब बदल-बदल कर दिए जाते हैं तो बच्चे उन्हें हल भी करते हैं। सवाल में थोड़ा-सा घुमाव दे दिया जाए, तो बच्चा उसको पकड़ लेता है और उसको भी हल कर लेता है। लेकिन जिस बच्चे का ध्यान नहीं है, कुछ

" पूरी व्यवस्था, जिसमें बच्चे, शिक्षक, स्कूल, अभिभावक आदि सभी शामिल हैं, उसी ओर भाग रही है कि छात्र दिए गए 200 या 250 प्रश्नों में से कैसे भी 80 या 90% प्रश्न सही–सही हल कर लें। वह भी निश्चित समयावधि में। "

भी करो, वह उस बात को नहीं पकड़ पाता है। जैसे– जो बच्चे रटकर पहाड़े याद करते हैं वे एक भी संख्या छूट जाने पर आगे नहीं बढ़ पाते, लेकिन जिन्होंने पैटर्न को पकड़ लिया वे जानते हैं कि आगे कौन-सी संख्या आएगी और क्यों?

एक सामान्य बात कर रहा हूँ कि जब हम कक्षा में कुछ समझा रहे हैं उसका इस्तेमाल बच्चा कर लेता है, कहीं ऐसी समस्या भी आ जाती है जिसका उसने कभी सामना नहीं किया हो, परन्तु उसे भी वह हल कर लेता है। यानी स्कूल में या कोचिंग सेण्टर में, जहाँ उनको पढ़ाया जा रहा है समझने-समझाने की प्रक्रिया होती है। अब कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनपर चर्चा-परिचर्चा बहुत ही आवश्यक है। यह चर्चा इकतरफ़ा नहीं होनी चाहिए। स्कूल या कोचिंग सेण्टर की सबसे बड़ी बुराई ही यह है कि चर्चा अकसर इकतरफ़ा ज़्यादा है। जैसा कि अभी चर्चा में भी आया था कि जब छात्रों से कहा गया कि ख़ुद किताब पढ़ो, फिर हम सवाल खड़े करते हैं, पर ऐसा नहीं होता। कोचिंग कक्षाओं में भी ख़ुद पढ़कर सीखने के स्तर पर तो कमी है ही। जिन विषयों में प्रयोग होने चाहिए और प्रयोग के माध्यम से बच्चे की एक समझ विकसित की जानी चाहिए, उसकी भी बहुत कमी है। और उसका कारण ही यही है कि हमारी मूल्यांकन प्रणाली ऐसी हो गई है कि जिसने आईआईटी की परीक्षा में प्रथम स्थान हासिल किया और 600 / 600 लाया, उसने भी ग्यारहवीं और बारहवीं में, यानी कि पूरे दो सालों में, एक भी प्रयोग नहीं किया। पर आईआईटी में सर्वाधिक अंक प्राप्त किए थे और उसे आईआईटी के सबसे बढ़िया संस्थान में प्रवेश भी मिला। हमारा शिक्षा का ढाँचा ही ऐसा है। यह पूरी तरह से वस्तुनिष्ठ प्रश्न पर आधारित है, कोई ख़ास उत्तर क्यों आया? कैसे आया? उसपर बात ही नहीं है, बच्चों को तो बस दिए गए विकल्पों A, B, C, D में से किसी एक पर टिककर उत्तर देना है। अब टिक कैसे हुआ है, वह रटकर हुआ है या समझकर हुआ है या क्या उसपर वास्तव में छात्र ने अच्छा ख़ासा अध्ययन कर रखा है यह मायने नहीं रखता।

पूरी व्यवस्था, जिसमें बच्चे, शिक्षक, स्कूल, अभिभावक आदि सभी शामिल हैं, उसी ओर भाग रही है कि छात्र दिए गए 200 या 250 प्रश्नों में से कैसे भी 80 या 90% प्रश्न सही-सही हल कर लें। वह भी एक निश्चित समयावधि में। जब हमारा लक्ष्य ही बदल गया है, लक्ष्य प्रयोग करना न रहकर वस्तुनिष्ठ और बहुउत्तरीय प्रश्नों को हल करना है तो उसी के अनुरूप बच्चों की सालभर अच्छे से प्रैक्टिस हो रही है। इस प्रैक्टिस में सीखना या लर्निंग नहीं हो रही है या वे समझ नहीं रहे हैं, ऐसा नहीं

कह सकते। समझ तो रहे हैं और तकनीक के अनुसार सवालों को हल भी कर रहे हैं, लेकिन एक आदर्श अधिगम होता है जिसमें छात्र प्रश्न को अलग तरीक़े से देने पर भी हल कर ले वह नहीं हो रहा।

जैसे भौतिकी में ओह्मस-लॉ है। अगर बच्चा एक बार पेपर पर ओह्मस-लॉ करेगा, यानी टेबल बनाएगा, **V** (विभवान्तर) और **I** (धारा) में ग्राफ़ बनाएगा, सीधी रेखा आएगी तब वह यह सम्बन्ध निकाल लेगा कि ये दोनों समानुपाती हैं। वह प्रयोग नहीं कर रहा है लेकिन कक्षा में जब शिक्षक उसको समझा रहा है कि एक चालक है, उसमें हम धारा प्रवाहित करते हैं, फिर विभवान्तर आता है। जब धारा बढ़ाते हैं तो विभवान्तर भी उसी अनुपात में बढ़ता है, इसलिए ये दोनों समानुपाती हैं। तब वो लिखेगा **V / I.** अब यदि आनुपातिकता का संकेत हटाना है तो एक स्थिरांक लगाना पड़ेगा, वह स्थिरांक R यानी प्रतिरोध है। ये बिल्कुल सैद्धान्तिक चल रहा है और समझाया जा रहा है और **R = V / I** है । **V** को दुगुना करोगे तब अनुपात स्थिर हो जाएगा। इस तरह उदाहरणों के माध्यम से पूरा ज़ोर लगाकर कक्षा में शिक्षक पढ़ा रहे हैं, समझा रहे हैं और समझ भी विकसित हो रही है। लेकिन केवल सैद्धान्तिक समझ ही विकसित हो रही है। अगर उसने वास्तव में प्रायोगिक रूप से ओह्मस-लॉ किया होता तो वह जीवनभर उसे नहीं भूल सकता था। पर शिक्षक वैसा नहीं करते हैं, वहाँ तो बस यह है कि जैसे-तैसे समझाना है, लेकिन बच्चे महज़ रट नहीं रहे है। इसको मैं रटना भी नहीं कहूँगा। हाँ वे प्रयोग से थोड़े से दूर हैं। इस वजह से जब उसे लागू करने की बात आती है, वहाँ वे ज़रूर पीछे हैं। लेकिन ओएमआर शीट (OMR sheet) में जो प्रश्न आ रहे हैं, उनको वे सफलतापूर्वक हल कर रहे हैं और 95-96 प्रतिशत अंक ला रहे हैं। पूरा रास्ता ही ऐसा हो गया है कि शिक्षक को जल्दी-से-जल्दी और ज़्यादा-से-ज़्यादा पाठ्यक्रम कवर करते हुए पढ़ाना है। प्रयोग पर आधारित प्रश्न भी आते हैं और बच्चे ये प्रश्न करते भी हैं क्योंकि उन्होंने समझा तो है पर प्रयोग ग़ायब हैं। प्रायोगिक परीक्षाएँ महज़ औपचारिकता हो गई हैं। प्रायोगिक परीक्षाएँ लेने बाहर से एक शिक्षक आएगा, बिल्कुल औपचारिकता में प्रयोग हो जाएँगे और वह चला जाएगा।

डॉ गिरीश शर्मा : राजेश भट्ट जी की बात से मैं भी सहमत हूँ। मेरी भूगोल की कक्षा में भी बहुत से ऐसे बच्चे आते हैं जिन्होंने कभी कोई प्रयोग नहीं किया है यहाँ तक कि उन्होंने मौसम सम्बन्धी यंत्र भी कभी नहीं देखे हैं। उदयपुर जैसे शहर से पढ़कर आने वाले छात्रों ने फिर भी इन यंत्रों को देखा होगा, लेकिन बाँसवाड़ा, डूंगरपुर जैसे छोटे शहरों के छात्रों ने ये यंत्र कभी देखे ही नहीं होते हैं। हमने बीएड की कक्षाओं के दौरान कुछ यंत्र लगाकर उनका अभ्यास कराने की कोशिश भी शुरू की। जब यंत्रों के प्रयोग करने की विधि का प्रदर्शन किया गया तब बच्चों ने उसे ठीक से देखा और बाद में एक-दो बार रुचि से उसको किया भी। यंत्रों के उपयोग करने के अभ्यास और उनकी उपयोगिता को समझने के लिहाज़ से सोचा गया कि दो बच्चे रोज़ इनका उपयोग करते हुए विभिन्न गणनाएँ लेंगे और प्रार्थना सभा में रोज़ के तापमान, आर्द्रता आदि मौसम की जानकारी सबको देंगे। साप्ताहिक चार्ट भी बना दिया गया था लेकिन वे यह नहीं करते थे। उनको बार-बार बताना पड़ता था, अभ्यास कराना पड़ता था

"पूरा रास्ता ही ऐसा हो गया है कि शिक्षक को जल्दी-से-जल्दी और ज़्यादा-से-ज़्यादा पाठ्यक्रम कवर करते हुए पढ़ाना है। प्रयोग पर आधारित प्रश्न भी आते हैं और बच्चे ये प्रश्न करते भी हैं क्योंकि उन्होंने समझा तो है पर प्रयोग ग़ायब हैं।"

इसके बावजूद वे अपने स्तर पर कोई प्रयास नहीं करते। बस एक बार समझ लिया, देख लिया, काफ़ी है। दूसरा– कक्षा में आप कितने ही अच्छी तरह से नोट्स बना कर समझा लो, उस समय लगता है कि उनको बहुत अच्छी तरह से समझ आ रहा है। परन्तु जब परीक्षा का समय आएगा तो वही पासबुक लेकर आएँगे। उसी में से पढ़कर लिखेंगे। परीक्षा के समय भी कहेंगे कि सर, आपने उस दिन हमें जो पढ़ाया था वे नोट्स हमको दे दो, हम फ़ोटोकॉपी करा लें। वे सीधा-सीधा लेना चाहते हैं, अपनी तरफ़ से कुछ समझना ही नहीं चाहते। उनका मक़सद भी यही है कि बस परीक्षा में अच्छे नम्बर ले आएँ। समझ में आ रहा है या नहीं उससे उन्हें कोई मतलब नहीं है।

"मुझे नहीं लगता कि परिस्थितियाँ बहुत ज़्यादा बदली हैं। जिस तरह के सरकारी स्कूल में मैं पढ़ती थी और आज भी जब सरकारी स्कूल में जाकर हम पढ़ाने का काम करते हैं तो स्कूल, पढ़ाने के तरीक़े, सब अमूमन वैसे ही लगते हैं।"

यशोधरा : एक सवाल था कि परिस्थितियाँ बदली हैं क्या? मुझे नहीं लगता कि परिस्थितियाँ बहुत ज़्यादा बदली हैं। जिस तरह के सरकारी स्कूल में मैं पढ़ती थी और आज भी जब सरकारी स्कूल में जाकर हम पढ़ाने का काम करते हैं तो स्कूल, पढ़ाने के तरीक़े, सब अमूमन वैसे ही लगते हैं। जब परिस्थितियाँ नहीं बदलीं तो पढ़ाई का दबाव, ये गला काट प्रतियोगिता और इस तरह की भावनाएँ कैसे जड़ों में बसती जा रही हैं? दबाव है और यह हम सभी महसूस भी कर रहे हैं। मुझे यह दिक़्क़त लग रही है कि एक तरफ़ तो हम कह रहे हैं कि रटाया नहीं जा रहा है, लेकिन वास्तव में जब हम बच्चों के साथ काम कर रहे होते हैं, तब यह महसूस होता है कि बच्चे वास्तव में चीज़ों को रट ही तो रहे हैं। यह इस बात से भी पता चलता है कि अधिकांश बच्चे अपनी भाषा में, अपनी तरह से कोई भी चीज़ समझकर नहीं लिख पा रहे होते हैं। बच्चे कक्षा-दर-कक्षा आगे बढ़ते जाते हैं लेकिन जो अवधारणात्मक समझ उस कक्षा के स्तर पर उनके पास होनी चाहिए वह नहीं होती। पिछली कक्षा या स्तर की अवधारणात्मक समझ की कमी की वजह से उनको उसके आगे की अवधारणा जो पिछली कक्षा या स्तर से जुड़ी है, उसको समझने में भी दिक़्क़त आती है। कुछ छात्र जिनके पास यह समझ आ जाती है वे अपने स्तर पर चीज़ों के साथ संघर्ष करके जुड़ाव बनाते हैं और अपने स्तर पर उत्तर लिखने का प्रयास भी करते हैं। लेकिन जिन बच्चों के पास यह अवधारणात्मक समझ नहीं होती उनके पास रटने के अलावा और कोई चारा नहीं बचता।

अब रही समझने और रटने में अन्तर की बात। यहाँ मैं राजेशजी की बात से सहमत हूँ कि याद करने की प्रक्रिया समझने और रटने दोनों में होती है। समझने में भी कुछ हिस्सा आपको याद करना पड़ सकता है और रटने में तो यह है ही। परन्तु दोनों में फिर भी अन्तर है। मान लीजिए कि कोई अवधारणा है जैसे– ओह्मस-लॉ, अब इसमें विद्युत विभव और विद्युत धारा के बीच के सम्बन्ध को रटा जा सकता है पर अवधारणात्मक समझ नहीं बनेगी क्योंकि अवधारणात्मक समझ के अन्तर्गत जितने भी उप बिन्दु या उप विचार आएँगे, जैसे– विद्युत धारा क्या होती है? विद्युत धारा की दिशा क्या होती है? यह इसी दिशा में क्यों बहती है, प्रतिरोध क्यों होता है और उसकी भूमिका क्या होती है? विद्युत विभव कैसे उससे प्रभावित होता है? आदि रटने में नहीं आएँगे। आप सैद्धान्तिक रूप से इसपर सवाल बनाकर दे दीजिए। रटकर भी ये सवाल वह छात्र कर लेगा लेकिन समझ नहीं

बनेगी। हालाँकि, जिन बच्चों की अवधारणात्मक समझ का ख़ाका मज़बूत है वह भी कुछ चीज़ें याद करते ही करते हैं। जैसे– विभव क्या होता है? धारा क्या होती है? उनकी परिभाषा क्या होती है? क्योंकि मूल्यांकन तो इसी का होना है, अगर आप वे चीज़ें नहीं याद करोगे, वैसा नहीं लिखोगे, तो आपको नम्बर नहीं मिलेंगे। तो वे सारी चीज़ें आपस में जुड़ी हैं। लेकिन मुख्य बिन्दु यह है कि जब रटने वाले छात्र के साथ अनुप्रयोग करने की बात करते हैं, उपयोग की बात करते हैं तब उन सब चीज़ों में वे छात्र ढेर हो जाते हैं। समझने के दौरान जो याद किया जाता है या याद होता है उसमें ऐसा नहीं होता।

मैं उदाहरण देकर बताती हूँ कि ऐसा क्यों हो रहा है? हम बारहवीं के छात्रों के साथ काम कर रहे हैं और उनके साथ हम दो आवासीय शिविर भी कर चुके हैं। हम लोग जीव विज्ञान पढ़ने में उनकी मदद कर रहे थे। हमने पाया कि बच्चे पूरा पाठ पढ़ लेते हैं, प्रश्नों के उत्तर दे लेते हैं, लेकिन जब उनको कहा जाता है कि बताओ इस पाठ में क्या-क्या मुख्य बातें कही गई हैं, क्या आप उन्हें लिख लेंगे, तब यहाँ वे असमर्थ होते हैं। इसी तरह यदि उनको किताब से बाहर का कोई प्रश्न दे दिया जाए तो वे उसका उत्तर नहीं दे पाते। सवाल किताब से हू-बहू हो तो ठीक। हमें समझ आया कि इस स्थिति का कारण रटने की प्रवृत्ति है। रटना इस अर्थ में– धारणा क्या होती है उसको रटना, उसके मुख्य बिन्दु भी रटना और उसको कैसे लिखा जाना है वह भाषा भी रटना। रटने की इस प्रक्रिया में कभी-कभी समझने के सम्बन्ध भी बनते हैं। एक अवधारणा का दूसरी अवधारणा के साथ क्या सम्बन्ध है वे भी बनते हैं या फिर उस अवधारणा के विभिन्न हिस्सों के भी सम्बन्ध बनते हैं। अतः यह द्वन्द्व रहता है कि समझकर याद किया गया है या रटकर, और यह आसानी से पता भी नहीं चलता। बच्चे के साथ काम करते-करते समझ आता है कि उसकी क्या और कितनी समझ है। इसीलिए शिक्षक प्रशिक्षण या ऐसे अन्य मौक़ों पर जब हम रटने और समझने की बात करते हैं तो शिक्षक और प्रशिक्षक भी यही कहते हैं कि हम भी तो उसी सिस्टम से पढ़कर आए हैं। हम भी तो रटते थे या हम भी तो याद करते थे। पर उस दौरान यदि हम उस पूरी प्रक्रिया पर प्रतिबिम्बित करें जिससे हम पढ़कर आए या कोई भी व्यक्ति पढ़कर आया है, तब यह समझ में आता है कि जब हम वास्तव में रट रहे थे तब कहीं-न-कहीं हम कोई-न-कोई सम्बन्ध स्थापित कर रहे थे। उसकी वजह से उस अवधारणा विशेष का या उस परिस्थिति विशेष का ख़ाका हमारे दिमाग़ में आज भी मज़बूती से उपस्थित है। अगर वे सम्बन्ध नहीं होते तो वह ख़ाका हमारे दिमाग़ में नहीं होता।

गलाकाट प्रतियोगिता है और बच्चों पर उसके असर को हम देख ही रहे हैं लेकिन साथ ही साथ हमारे समाज का स्वरूप भी बदल रहा है। प्रतिशत की दौड़ और कुछ चुनिन्दा कैरियर की दौड़ में अभिभावक भी अपने बच्चों को दाँव पर लगा रहे हैं। कुछ चुनिन्दा व्यवसायों के अलावा भी आगे बढ़ने के बहुत सारे अवसर होते हैं, जैसे– कला या संगीत के क्षेत्र में अपना कैरियर चुनना, लेकिन इनमें मुझे अवसर बहुत कम बनते हुए नज़र आ रहे हैं। क्योंकि विद्यालय में न तो इस विषय पर चर्चा होती है, न ही माहौल मिलता है और न ही विद्यालय के बाहर छात्रों को इस तरह का कोई अवसर और प्रोत्साहन मिल रहा है। कला या संगीत

‘‘ गलाकाट प्रतियोगिता है और बच्चों पर उसके असर को हम देख ही रहे हैं लेकिन साथ ही साथ हमारे समाज का स्वरूप भी बदल रहा है। प्रतिशत की दौड़ और कुछ चुनिन्दा कैरियर की दौड़ में अभिभावक भी अपने बच्चों को दाँव पर लगा रहे हैं। ’’

जैसे सभी क्षेत्र ग्रीष्मकालीन अवकाश में छोटे-छोटे कोर्स तक सीमित होकर रह गए हैं। जो सर्वांगीण विकास की बात हम कर रहे हैं वह समझने और रटने के फेर में अन्तर नहीं कर पाने की वजह से अवरुद्ध हो रहा है।

शहनाज़ : मेरा मानना है कि समझने वाले की पढ़ाई जिस साल में उसने पढ़ा है उस पूरे साल में पूरी होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो समझ धीरे-धीरे बनती है उसमें समय लगता है, लेकिन जब समझ आता है तो पूरा आता है, जैसे बात को पूरा समझकर अपने अन्दर उतार लिया है। रटने वाले की स्थिति होती है कि उसने आज रटा है, वह परीक्षा देगा, अंक आ जाएँगे और फिर वह भूल जाता है। कक्षा में और अपने आसपास रहने वाले बच्चों में रटना मैंने दो तरीक़ों से देखा है– कुछ बच्चे रटते चले जाते हैं और वे जो रटा है उसको साथ-साथ समझ नहीं रहे होते हैं, लेकिन जैसे अभी आपने कहा कि बार-बार उसी को पढ़ते रहने से उनको कुछ बातें थोड़ी समझ में आने लगती हैं। जो उनके पढ़ने या रटने का तरीक़ा है उसमें कहीं-न-कहीं चीज़ों में कुछ सम्बन्ध दिखता है, जुड़ाव दिखता है और वह चीज़ों को समझने लगता है। रटना वह होता है जिसमें कहीं कोई सम्बन्ध नहीं होता है, उसको बस पहली से आख़िरी पंक्ति तक 10-20 बार पढ़ना है और रटना है। कक्षा में भी बच्चे सामान्यतः ऐसा ही करते हैं। यानी याद करने वाली स्थिति दोनों में है। पर मैंने यह भी पाया है कि यदि छोटी कक्षाओं से ही समझने पर ज़ोर हो और स्कूल का पैटर्न ऐसा हो कि हर चीज़ को करने का, देखने का, समझने का उनको पूरा समय मिले, तभी समझना होता है । जैसे– शब्दों और वाक्यों की बजाय पूरी कविता या पूरी कहानी पढ़ना है और विज्ञान में कुछ सीख रहे हैं तो उसे करके देखना या गणित में कुछ पढ़ रहे हैं तो उसमें पैटर्न पकड़ना आदि। यदि बार-बार ऐसे अवसर मिलें तो छोटी कक्षा से ही बच्चे समझना शुरू कर देते हैं और बड़ी कक्षा में आकर भी उनका समझने का तरीक़ा वैसा ही रहता है, तब वह रटता नहीं है। छात्र कहता है कि मुझे समझाओ कि यह क्या है? कैसे करना है? और उन चीज़ों को वह साल में 2-3 बार होने वाली परीक्षा में करता है तो उसको वे चीज़ें अच्छे से समझ आई हुई होती हैं और वापस पूछने पर भी वह उसका जवाब देता है। वहीं जो बच्चे शुरुआती कक्षाओं से ही रटते आते है इसमें पालकों और शिक्षक दोनों की भूमिका होती है। शिक्षक देखते हैं कि पढ़ाने के लिए समय कम है, अतः बढ़िया है इस चीज़ को ऐसे याद कर लो। बच्चों को भी बार-बार याद करने के लिए कहा जाता है। और अभिभावक भी यह करते हैं कि यह तो अभी छोटे हैं क्या समझेंगे, इनको रटा दो, और वे भी छोटी कक्षा से ही बच्चों को रटाना शुरू कर देते हैं। वे कहते हैं कि बच्चे जब बड़े होंगे तो धीरे-धीरे समझ ही लेंगे। अभी ये बातें इनकी समझ से बाहर हैं। वह बड़ी क्लास में आकर भी रटता ही है। और फिर उच्च शिक्षा में भी यही पैटर्न बना रहता है।

"कक्षा में समझना और रटना बहुत कुछ शिक्षक और बच्चों के बीच के रिश्ते पर भी निर्भर करता है और कक्षा के माहौल पर भी कि किस तरह का माहौल है, क्या पढ़ाने वाले को भी मज़ा आ रहा है और बच्चों को भी पढ़ने में मज़ा आना चाहिए।"

मेरा यह भी मानना है कि कक्षा में समझना और रटना क्या होगा, यह बहुत-सी अन्य बातों पर भी निर्भर करता है। यह बहुत कुछ शिक्षक और बच्चों के बीच के रिश्ते पर भी निर्भर करता है और कक्षा के माहौल पर भी। क्या पढ़ाने वाले को भी मज़ा आ रहा है और बच्चों को भी पढ़ने में मज़ा आना चाहिए। मैंने हमेशा यह देखा है कि कुछ शिक्षक जो पर्याप्त समय लेकर बच्चों

को पढ़ाते-लिखाते हैं, बच्चों के साथ गतिविधियाँ करते हैं या बच्चों को कुछ करने के लिए कहते हैं, उन शिक्षकों को भी कई बार दूसरे शिक्षक रोकते हैं, कि यह सब करने में बहुत सारा समय जा रहा है और आपका कोर्स भी पूरा नहीं हो रहा है। परीक्षा के पैटर्न, मूल्यांकन के तरीक़े आदि का पालन करते-करते कई बार शिक्षक भी समयाभाव के कारण याद कराने के लिए मज़बूर हो जाते हैं। दूसरी तरफ़ पासबुक वाला तरीक़ा है। इनका आसानी से उपलब्ध होना और फिर शिक्षक के पास भी इतनी समझ न होना, ये सभी चीज़ें मिलकर स्थिति को और मुश्किल कर देती हैं। तब समझ को केंद्र में रखकर काम करने वाले शिक्षक भी रटने और कोर्स पूरा करने पर आ जाते हैं।

दूसरी तरफ़, हर कक्षा में समझने वाले बच्चे भी होते हैं। मैंने देखा है कि ऐसे बच्चे किसी-न-किसी तरह धीरे-धीरे उन चीज़ों पर काम करते हैं कि यह बात हमको समझ में ही नहीं आ रही है, कितने दिन से रटे जा रहे हैं या शिक्षक के पास बार-बार जाते हैं कि आप इसको मुझे ऐसे समझा दीजिए ताकि मैं इसको अच्छी तरह से याद रख लूँ। मेरा अनुभव है कि जब बच्चों को समझाया जाता है तो वे सहजता से उन चीज़ों को सीखते हैं और यदि प्रश्न बदलकर दिए गए हैं तो उन्होंने उनका भी उत्तर दिया है। जब बच्चे समझ लेते हैं तो अपनी भाषा में भी लिखते हैं।

विज्ञान की एक कक्षा में प्रयोग करने के दौरान बच्चों ने मुझसे पूछा कि क्या विज्ञान ऐसे पढ़ते हैं? हमने तो ऐसे कभी पढ़ा ही नहीं या हमको तो किसी ने ऐसे कभी समझाया ही नहीं। प्रयोग के लिए आवश्यक सामग्री भी हमने आसपास से उसी समय एकत्रित की थी। हालाँकि, इस तरह से कार्य करने पर कई बार मैं ख़ुद भी परेशान हुई हूँ क्योंकि कुछ कार्यों में बहुत सारा समय निकल जाता है और इसलिए मेरा पाठ्यक्रम भी पूरा नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि रटने के बग़ैर भी पढ़ाई सम्भव है, परन्तु उसके लिए जितना समय कक्षा में शिक्षक को देना पड़ता है उतना उपलब्ध नहीं हो पाता है। जब बहुत-सा कोर्स पूरा नहीं हो पाता, तो इस स्थिति में बच्चों को पहले ही कह दिया जाता है कि अमुक पाठों को रट लो और जो पढ़ने और समझने वाले पाठ हैं उनको हम धीरे-धीरे करते हैं। कई बार इसके लिए दो-दो पीरियड साथ-साथ चाहिए होते हैं और इसकी भी व्यवस्था करनी पड़ती है। समझने वाले पाठों पर कुछ इस तरह से काम होता है– जैसे कोई प्रयोग करना है तो बच्चे को पूरा पैराग्राफ़ पढ़ने को कहना और पूछना कि उसमें क्या कहा गया है ? निर्देश पढ़कर बताओ कि क्या-क्या करने को कहा गया है? बच्चे चरणबद्ध तरीक़े से बताते हैं कि इसमें पहले सामग्री लानी है, फिर उसे ऐसे सेटअप करना है, तब यह करना है आदि।

"मेरा अनुभव है कि जब बच्चों को समझाया जाता है तो वे सहजता से उन चीज़ों को सीखते हैं और यदि प्रश्न बदलकर दिए गए हैं तो उन्होंने उनका भी उत्तर दिया है। जब बच्चे समझ लेते हैं तो अपनी भाषा में भी लिखते हैं।"

इस तरह से पूरा प्रयोग होगा और फिर सामग्री सामने है तो बच्चे प्रयोग करके देखें। लेकिन सभी पाठों को इस तरह से समझकर पढ़ने और उसके प्रयोग करवाने का समय किसी स्कूल के पास नहीं है। एक साथ दो पीरियड मिलना भी आसान नहीं है। इसलिए सारी स्थितियाँ गड़बड़ा जाती हैं। यानी हम समझने वाली स्थिति से शुरू करते हैं धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं, लेकिन अन्त तक आते-आते सारा मामला ही रटने पर ख़त्म हो जाता है।

राजेश भट्ट : प्रतियोगिता की बात करें तो ज़्यादातर सरकारी स्कूलों में प्रतियोगिता वाली

स्थिति ही नहीं बन पा रही है। बच्चे समझ भी रहे हैं, अच्छे परिणाम भी ला रहे हैं और पढ़ना भी चाहते हैं, मगर फिर भी उनको लगता है कि उनको मौक़ा नहीं मिल रहा है क्योंकि वे किसी भी तरह से अपने स्तर पर उस प्रतिस्पर्धा (competition) में नहीं जा पाते। आजकल जो कोचिंग चल रही हैं, उनमें बच्चे ज़रूर अपने स्तर से रट रहे हैं, पढ़ रहे हैं, लेकिन कहीं-न-कहीं जो रटा है, याद किया है उसे लागू करके भी देख रहे हैं क्योंकि ज्ञान के उपयोग आधारित, यानी अनुप्रयोग (application) वाले प्रश्न तो आते ही हैं। इसलिए बच्चों को लगता है कि जब मौक़ा आएगा तो हम अनुप्रयोग भी कर लेंगे। शायद महाविद्यालय के स्तर पर कर भी रहे हैं परन्तु ग्यारहवीं और बारहवीं के स्तर पर तो वे रट ही रहे हैं।

''बच्चों में यह आत्मविश्वास आना चाहिए कि वे चीज़ों को ठीक लिख रहे हैं, वे उसको अपनी तरह से लिख रहे हैं, और यह कि अपनी तरह से लिखना ही बेहतर है, न कि हू-बहू किताब जैसा लिखना।''

जब इन बच्चों से मैंने पूछा कि वे क्यों इस तरह की प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए कोशिश नहीं करते, तो उनका कहना था कि समझ तो हम जाते हैं लेकिन उतना अभ्यास नहीं कर पाते जितना कि इन परीक्षाओं के लिए ज़रूरी है। उनको भी तब लगने लगता है कि रटना ही बेहतर है क्योंकि कोचिंग कक्षाओं में जाने वाले सभी बच्चे यही कर रहे हैं और आगे बढ़ रहे हैं। यानी तुलनात्मक रूप से देखने पर उनको लगता है कि रटी हुई चीज़ ज़्यादा सफलता दे रही है और समझने वाले समझ-समझ कर वहीं के वहीं रह गए हैं। यहाँ तक कि उनको तो यह मौक़ा भी नहीं मिल पा रहा कि वे फ़ॉर्म भी भर पाएँ।

शहनाज़ : मैं माध्यमिक कक्षाओं को पढ़ाती हूँ। मुझे वहाँ दोनों तरफ़ से देखना पड़ता है। कक्षा एक से पाँच के जो बच्चे आ रहे हैं वे रटने पर बहुत ज़्यादा आश्रित होते हैं। जैसा कि मैंने पहले भी कहा कि अभिभावक भी रटने पर ही ज़ोर देते हैं और समझ की ज़िम्मेदारी शिक्षक पर डाल देते हैं। जब पाँचवी-छठी में हमारे पास बच्चे आते हैं और जैसा कि अमूमन मैं कक्षा में करती हूँ– बच्चों को पूछती हूँ कि विज्ञान में आप प्रयोग करते रहे हो कि वायु स्थान घेरती है तो प्रयोग में जो पढ़ा इसका क्या मतलब है? उनको नहीं पता, क्योंकि वे इस बात को रटते चले जाते हैं। पर जब हम प्रयोग करवाते हैं और फिर मैं उनसे पूछती हूँ कि अब मुझे बोलकर बताओ कि तुमने क्या-क्या किया है? बच्चे सहजता से बोलते हैं, पर तब भी उनको यह लगता है कि यदि हम ऐसा लिखेंगे तो क्या हमें इसके नम्बर मिलेंगे? क्योंकि किताब में तो ऐसा नहीं लिखा हुआ है। और तब उनको यह भी समझाना पड़ता है कि वही बात किताब में भी लिखी हुई है, पर उसकी भाषा किताब की भाषा है। और तुम इसे अपनी भाषा में लिख रहे हो, बस यही मुख्य फ़र्क़ है। बच्चों में यह आत्मविश्वास आना चाहिए कि वे चीज़ों को ठीक लिख रहे हैं, वे उसको अपनी तरह से लिख रहे हैं, और यह कि अपनी तरह से लिखना ही बेहतर है, न कि हू-बहू किताब जैसा लिखना। बच्चों ने स्वयं प्रयोगों को करके अपनी फ़ाइल में और कॉपी में अपनी भाषा में लिखना शुरू किया। जब इस तरह के कुछ अभ्यास मैंने उनके साथ किए तो विज्ञान में बच्चे किताब से हटकर अपने-आप लिखने लगे। इससे पहले उनको डर था कि किताब से हटकर कुछ लिखेंगे तो हमको कोई नम्बर नहीं मिलेंगे। इसलिए ऐसी चीज़ों को करने के लिए हमें बच्चों का पूरा विश्वास भी जीतना पड़ता है। बच्चों को पासबुक की आदत भी शुरुआत में ही हो जाती है। उनको ऐसा लगता है कि अगर इसमें से हमने लिखा और याद कर लिया

तभी हमें अच्छे नम्बर मिलेंगे। और दूसरे तरीक़े से करते ही हमारे नम्बर कट जाएँगे। वहाँ भी उनको यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि ये दोनों तरीक़े अलग हैं, पर तुम जो कर रहे हो इसके भी पूरे नम्बर मिलते हैं। तब जाकर बच्चों में यह आत्मविश्वास आता है कि वे ख़ुद भी इसको पढ़कर लिख सकते हैं।

रजनी द्विवेदी : यह सब चर्चा रटने, याद करने और समझने में क्या फ़र्क़ है, इससे शुरू हुई थी। अभी तक की चर्चा में मुख्य रूप से ये बिन्दु रखे गए हैं–

पहला तो यह माना गया है कि प्रयोग करने से समझना बेहतर होता है। यदि बच्चा ज्ञान को प्रयोग में लाता है तो इसका मतलब है कि उसको समझ में आ गया है लेकिन रटने पर समझ नहीं आता है। दूसरा बिन्दु यह है कि सैद्धान्तिक समझ और व्यावहारिक समझ अलग-अलग हैं। तीसरा हम यह मानते हैं कि कई चीज़ें रटते-रटते समझ में आने लग जाती हैं। और चौथा यह कि कक्षा में सीखने की ऐसी प्रक्रिया जिसमें समझने पर ज़ोर हो, यह बहुत-सी अन्य बातों पर भी निर्भर करती है जैसे– शिक्षक और बच्चे के सम्बन्ध, कक्षा का माहौल, अभिभावकों की अपेक्षाएँ आदि।

रजनी द्विवेदी : यहाँ इस विषय पर चर्चा महत्त्वपूर्ण होगी कि 'समझ' से हम क्या समझते हैं? उसमें क्या-क्या शामिल होगा?

राजेश भट्ट : एक उदाहरण देना चाहूँगा। मान लीजिए कि खिचड़ी बनानी है। एक माँ अपने बच्चे को काग़ज़ पर समझा रही है कि खिचड़ी ऐसे बनेगी और बच्चे ने उस प्रक्रिया को बिल्कुल रट लिया है। हो सकता है कि एक माँ कहे, बैठकर देखो और समझो। मैं बोल भी रही हूँ और तुम्हारे सामने खिचड़ी बनाकर भी बता रही हूँ। इस तरीक़े में सीखना और बेहतर होगा क्योंकि प्रयोग के तौर पर वह उसको देख रहा है कि खिचड़ी ऐसे बनी। तीसरी प्रक्रिया यह हो सकती है कि बच्चों को उस पूरी प्रक्रिया में शामिल कर लें। तुम पहले तपेली लाओ, अब इसमें तेल डालो, फिर इसको गर्म करते हैं, अब इसमें मसाला डालो आदि। इस प्रकार उनके हाथों से होते हुए खिचड़ी बनेगी। इन तीनों प्रक्रियाओं में पहली में समझ विकसित होने की सम्भावना बहुत ही कम है। जिस बच्चे ने उसको रटा है वह सिर्फ़ खिचड़ी ही बना पाएगा लेकिन जिस बच्चे ने समझा है वह जब उसका उपयोग करके देखेगा और पाएगा कि गर्म पानी में चावल पक जाता है तो वह यह भी सोच लेगा कि मैं आलू की सब्जी भी ऐसे ही बना सकता हूँ। यानी समझने वाला उसका उपयोग और कहीं-न-कहीं ज़रूर करेगा, क्योंकि उसको मूल अवधारणा समझ में आ गई है। तो जो समझ बनी है वह माँ (स्कूल में सिखाने वाले शिक्षक) के समझाने के तरीक़े पर निर्भर करेगी। यह हो सकता है कि बाक़ी दो प्रक्रियाओं में भी बच्चा यदि रटने वाला होगा तो उसकी भी कुछ समझ तो विकसित होगी ही।

"यदि शिक्षक सक्रिय और नवाचारी है और हर कक्षा में कुछ नया करने की कोशिश करता है तो बच्चे रुचि लेकर ज़्यादा सीखेंगे।"

अब आई सिद्धान्त की बात। जब हम विज्ञान के सिद्धान्त समझा रहे होते हैं तब कई बच्चे इसे एक बिल्कुल सेट पैटर्न में कि R = V / I* है, मुझे V (विभवान्तर) रखना है तो R (प्रतिरोध) आ जाएगा और V को दुगुना करूँगा तो R पर क्या असर होगा यह उसको पता नहीं है। वह बस सूत्र में रखकर देखेगा। पर जिसने सिद्धान्त को समझ लिया है वह कहेगा कि V को दुगुना

करेंगे तो। (धारा) स्वतः ही दुगुनी होती है और R स्थिर होगा। ओह्मस-लॉ में R स्थिर होता है। यदि आप घुमा-घुमा कर बात करेंगे तब भी R में बदलाव नहीं हो सकता है चाहे V में आप कुछ भी करो। लेकिन जैसे ही V बदलोगे, R भी बदल जाएगा। जिसने रटा है यदि उसको आप कहोगे कि V को आधा किया तो R पर कितना असर होगा, यह सुनकर उसके दिमाग़ पर झटका लगेगा क्योंकि उसने उस क़ायदे या नियम को सिर्फ़ रट लिया है।

जैसा कि मैंने पहले भी कहा कि याद करना एक ऐसी प्रक्रिया है जो रटने और समझने दोनों में होती है। रटने वाला बच्चा भी याद करेगा और उस विषयवस्तु को अपने मस्तिष्क

"जिसने प्रयोग करके व ख़ुद भी पढ़कर समझा है उसके लिए वह विषयवस्तु ज़्यादा स्थाई हो जाती है। और इसी वजह से शायद ज्ञान के अनुप्रयोग में भी रटने वाला पीछे ही रहेगा।"

में कहीं-न-कहीं जगह देगा। क्योंकि याद करने का मतलब ही है कि उसने जो भी रटा है, पढ़ा है, देखा है, समझा है या प्रयोग किया है वह उसे अपनी स्मृति में रखना है। यह बात अलग है कि रटने वाले को उस चीज़ को अभिव्यक्त करते समय अपने दिमाग़ पर थोड़ा ज़्यादा ज़ोर देना पड़ेगा। हो सकता है कि दो-चार महीने बाद वह बिल्कुल धूमिल भी हो जाए। लेकिन जिसने प्रयोग करके व ख़ुद भी पढ़कर समझा है उसके लिए वह विषयवस्तु ज़्यादा स्थाई हो जाती है। और इसी वजह से शायद ज्ञान के अनुप्रयोग में भी रटने वाला पीछे ही रहेगा।

फिर भी मैं कहूँगा कि कक्षा में सिर्फ़ रटाया जाता है, यह कथन ठीक नहीं है। कक्षा में सैद्धान्तिक रूप से समझाया जाता है। जितनी भी प्रतियोगी परीक्षाएँ हो रही हैं, उनमें यह नहीं है कि प्रश्न सिर्फ़ किताब से ही आ रहे हैं, उनमें घुमाव वाले प्रश्न भी आते हैं जिन्हें बच्चे हल कर रहे हैं, तभी तो वे 96, 97% ला रहे हैं। सीबीएसई के भौतिकी के प्रश्न-पत्र के बारे में ख़बर थी कि परिणाम ख़राब रहे उसके बावजूद 98% नम्बर भी आए हैं। प्रश्न-पत्र इसलिए ख़राब हो गया क्योंकि कई सारे प्रश्न अनुप्रयोग आधारित (application based) थे, बच्चों ने उस तरह से तैयारी ही नहीं की थी। कई बच्चे नहीं कर पाए, पर कई बच्चों ने किया भी। क्योंकि सीखने सिखाने की प्रक्रिया शिक्षक और प्रत्येक बच्चे पर निर्भर करती है, बच्चा चीज़ों को कैसे आत्मसात कर रहा है और शिक्षक उनको कैसे प्रस्तुत कर रहा है, कैसे समझा रहा है ? व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो हर चीज़ को स्कूल में एक दिए गए कालांश में प्रयोग के माध्यम से करना सम्भव ही नहीं है। न ही यह सम्भव है कि समझ न आने पर शिक्षक बार-बार उसको ठीक से, प्यार से, मोहब्बत से, उदाहरणों के माध्यम से उसकी व्याख्या करे, समझाए और सुनिश्चित करे कि समझ बच्चे के दिमाग़ में चली जाए। फिर जब भी मौक़ा पड़े वह उसका उपयोग करे और नए-नए सवालों को हल करे।

रजनी द्विवेदी : बच्चे 98% अंक ला रहे हैं। लेकिन जैसा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) 2005 में कहा गया है कि बच्चों में विज्ञान के कौशल और वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी विकसित करना है। बच्चे विज्ञान पढ़ तो रहे हैं, आईआईटी जैसे संस्थानों में भी जा रहे हैं लेकिन वैज्ञानिक नज़रिया पैदा करें, विज्ञान में शोध करें, ऐसा नहीं हो पा रहा है। आपने कहा कि छात्र बोर्ड पर सैद्धान्तिक रूप से समझ रहा है, क्या ऐसा कुछ भी है जो सैद्धान्तिक रूप से समझने के बाद भी वह समझ नहीं रहा है? क्या ज्ञान का अनुप्रयोग इस सैद्धान्तिक समझ में शामिल है? और शामिल है तो किस हद तक? जैसा कि आपने कहा कि ज्ञान का अनुप्रयोग,

समझ का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

समझ को थोड़ा और खोलने की ज़रूरत है कि उसमें क्या-क्या शामिल है? क्या उसमें सिर्फ़ सैद्धान्तिक समझ ही है या कुछ और है? हम इसका विश्लेषण करें कि बच्चे अपने आसपास के पर्यावरण के बारे में सवाल पूछें और किन्हीं चीज़ों के बीच में सहसम्बन्ध देखकर सम्बन्ध बना सकें, ऐसी चीज़ें क्यों नहीं कर पा रहे हैं?

डॉ गिरीश शर्मा : मैंने शुरुआत में कहा था कि बच्चे ख़ुद पढ़ना नहीं चाहते, बाक़ी साथियों ने भी कहा कि हम बच्चों को ख़ुद से पढ़ने और समझने के अवसर निर्मित करने की कोशिश करते हैं, लेकिन तब हमें पाठ्यक्रम पूरा करने का समय ही नहीं मिलता।

बच्चे में समझ विकसित करने के लिए बहुत धैर्य भी चाहिए। यदि पाठ्यक्रम पूरा कराने को ही अन्तिम ध्येय मानकर चलेंगे तो रटने वाली प्रवृत्ति की ओर ही बढ़ेंगे। समझने के लिए सबसे ज़रूरी है कि बच्चा ख़ुद भी उस पाठ को पढ़े, साथ ही यह ज़रूरी नहीं है कि वह पाठ तक ही सीमित रहे, क्योंकि पाठ्यपुस्तकों की एक सीमा है। हो सकता है उसमें एक पैराग्राफ़ में संकल्पना को संक्षिप्त में समझाया गया हो, लेकिन समझ विकसित करने और उसको पुख़्ता करने के लिए उस संकल्पना से सम्बन्धित कोई-न-कोई दूसरा अतिरिक्त व्याख्यान भी उसको पढ़ने के लिए देना पड़ेगा। शिक्षक का पढ़ाना ज़रूरी है लेकिन उतना ही ज़रूरी है कि बच्चा ख़ुद से पढ़े, ख़ुद चीज़ों को करे, जितना ज़्यादा-से-ज़्यादा वह ख़ुद पढ़ेगा उतनी ही उसकी समझ बढ़ेगी। शिक्षक के पास जितना है, उतना वह देने की कोशिश करेगा। लेकिन यह समझने की ज़रूरत है कि बच्चे में क्षमता भी ज़्यादा होती है और कोशिश करने का जज़्बा भी ज़्यादा होता है और वह तमाम चीज़ों को सीखने की इच्छा भी रखता है। साथ ही हमको बच्चों पर विश्वास करना पड़ेगा, उनपर छोड़ना पड़ेगा। इसमें समय लग सकता है। हो सकता है वे पहली क्लास में नहीं सीखें दूसरी क्लास में सीखें, दूसरी में नहीं तीसरी में सीखें या पाँचवी में सीखें या बारहवीं तक आकर सीखें। लेकिन जो वे ख़ुद से सीखेंगे वह ज़्यादा सही रहेगा, बजाय इसके कि समझ नहीं आ रहा है तो यह कहें कि रट लो।

हमें बच्चों को पाठ पढ़ने, उसपर प्रश्न पूछने, अपने भ्रम और कठिनाइयों को रखने का समय तो देना ही पड़ेगा, जब तक यह नहीं होगा तब तक बच्चे को पहले की संकल्पना और उसके बाद की संकल्पना समझ में नहीं आएगी। इससे उसका सहसम्बन्ध नहीं बनेगा, उसकी पृष्ठभूमि नहीं बनेगी, तो फिर रटने वाली प्रवृत्ति ज़्यादा बनेगी, समझने वाली नहीं। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समझ की बात करें तो व्यवहार में इसे वह तब ला पाएगा जब वह ख़ुद से इसे करेगा। उदाहरण के लिए, अकसर पर्यावरण की कक्षा में यह मुद्दा आता ही है कि अपने आसपास साफ़-सफ़ाई होनी चाहिए, कचरा नहीं होना चाहिए वग़ैरह। पर क्या स्कूल में कभी करवाते हैं कि आप साफ़ करो या अपने घर व आसपास की सफ़ाई रखो। घर में उसको सफ़ाई के लिए बोलते नहीं हैं, लेकिन हम कहते हैं कि होना चाहिए। यह सब इसलिए हो रहा है कि हम उसको परीक्षा की दृष्टि से देख रहे हैं, रटने की दृष्टि से देख रहे हैं।

“ बच्चे में समझ विकसित करने के लिए बहुत धैर्य भी चाहिए। यदि पाठ्यक्रम पूरा कराने को ही अन्तिम ध्येय मानकर चलेंगे तो रटने वाली प्रवृत्ति की ओर ही बढ़ेंगे।”

रजनी द्विवेदी : आपने कहा कि लक्ष्य बदल गया है और उसकी वजह से यह स्थिति है।

मुख्य रूप से कक्षा ग्यारहवीं और बारहवीं में तो ज़्यादा फ़ोकस रटने और अभ्यास पर ही है। शुरुआत से ही ऐसा क्या हो कि आपको भी इस तैयारी को करवाने में अलग चीज़ें करनी पड़ें और आपको भी मज़ा आए कि मैं भी कुछ-कुछ आगे बढ़ रहा हूँ।

राजेश भट्ट : उसका कारण प्रतियोगी परीक्षाएँ और स्पर्धा है। बच्चे ने जीवविज्ञान लिया है और उसको डॉक्टर बनना है। इसके लिए उसको एक प्रतियोगी परीक्षा देनी है और उसे पास करना ही है। प्रश्न-पत्र सेट है, बहुविकल्पीय प्रश्न हैं और एक उत्तर चुनना है। यही पैटर्न है। प्रयोग छोड़ो, जो जितने ज़्यादा नए-नए सवाल सीखकर, समझकर करेगा उसको फ़ायदा होगा। यदि वह एक ओह्मस-लॉ के लिए प्रयोगशाला में चला जाएगा और हर दिन 4 घण्टे तक उसके पीछे पड़ा रहेगा और 5 दिन तक यही काम करेगा तो कोर्स भी पूरा नहीं होगा और वह पिछड़ जाएगा। दूसरा तरीक़ा यह हो सकता है कि बोर्ड पर ठीक से समझा दिया जाए और फिर उससे नए-नए सवाल करवाए जाएँ। यह बात तो सही है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित नहीं हो रहा है, लेकिन तात्कालिक लक्ष्य यानी प्रतियोगी परीक्षा को पास कर लेना पूरा हो रहा है। हमारी परीक्षा प्रणाली ही ऐसी है।

"यह बात सही है कि बच्चा जो कुछ प्रयोग करके सीखेगा और उससे जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित होगा, उसका मुक़ाबला ही नहीं है। वह कुछ करेगा, उसमें समय लगाएगा, उसमें धैर्य होगा, वह बहुत-सी बातें सीख लेगा।"

यदि परीक्षा प्रणाली ऐसी होती कि आपकी प्रायोगिक परीक्षा भी होगी और आपको वहाँ आकर प्रयोगशाला में एक प्रयोग करना पड़ेगा और उस प्रयोग के अवलोकन और उसके निष्कर्षों को सबके सामने रखना पड़ेगा, तब शायद वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित होता। अब हमारी परीक्षा प्रणाली ऐसी है कि बच्चे को वहाँ 90 और 180 प्रश्न दिए गए हैं और निश्चित समय में उसे ये प्रश्न हल करने हैं। अब इसकी तैयारी तो ऐसे ही हो सकती है कि सारे सूत्र याद हों, पहाड़े याद हों, प्रश्नों को करने का बहुत अभ्यास हो आदि। शिक्षक को भी उन परीक्षाओं में पास करवाने के लिए बच्चे को वैसा ही पढ़ाना है, परन्तु यह बात सही है कि बच्चा जो कुछ प्रयोग करके सीखेगा और उससे जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित होगा, उसका मुक़ाबला ही नहीं है। वह कुछ करेगा, उसमें समय लगाएगा, उसमें धैर्य होगा, वह बहुत-सी बातें सीख लेगा, उसमें कौशल विकसित होगा, लेकिन यह तो आदर्श स्थिति है। पर यथार्थ में रोजी-रोटी के लिए तो कुछ बनना है।

यहाँ तक कि वैज्ञानिक बनने के लिए होने वाली प्रवेश परीक्षाओं में भी ऐसा ही हो रहा है। वहाँ पर भी कोई प्रयोग नहीं करवाए जा रहे हैं, वहाँ भी सैद्धान्तिक सवाल और बहुउत्तरीय प्रश्न ही होते हैं।

राजेश भट्ट : प्रतियोगिताओं और स्पर्धा का कारण है कि उतनी रिक्तियाँ ही नहीं हैं जितने ज़्यादा शिक्षा प्राप्त लोग हैं। दूसरी बात, पढ़ाई पर बहुत ज़्यादा फ़ोकस होने लग गया है, बच्चे खेल से दूर हैं, उनको रोज़ पढ़ना है और रोज़ नए-नए सवाल मिल रहे हैं, वह उससे बाहर ही नहीं जा पा रहे हैं। स्वाभाविक रूप से उनका दूसरी तरफ़ सामाजिक रुझान तो कम हो ही रहा है और उसकी सारी ऊर्जा सवालों में लग रही है, तो वहाँ उसकी उपलब्धि का स्तर 75 से 95 प्रतिशत पर चला गया। लेकिन उसके सामाजिक सरोकार और रिश्ते सब उसके जीवन से ग़ायब हो गए हैं। बच्चे अच्छे नहीं हैं ऐसा भी नहीं है। आज के नए-नए बच्चे जो हैं, जैसे ही उनको मौक़ा मिलता है काम करने का, वे अपने ज्ञान का उपयोग करके वहाँ पर अच्छे-अच्छे काम कर रहे हैं। तो खाली यह भ्रम भी हमारे मन में

न रहे कि सारी प्रणाली ही ऐसी है कि जिसमें बच्चे खाली रट रहे हैं, कोई रचनात्मकता नहीं है और नए अन्वेषण भी नहीं हो रहे हैं। नए ज्ञान का प्रयोग करके नए-नए अन्वेषण हो रहे हैं, उसको नकारा नहीं जा सकता। लेकिन 'समझ' के लिए तो यही सही है कि जितने प्रयोग होंगे और जितना बच्चे प्रयोग करके सीखेंगे, वह तो समझने के लिए बहुत प्रभावी है।

शहनाज़ : मैं 'समझने' की थोड़ी विस्तार में व्याख्या करने की कोशिश कर रही हूँ। यदि मूलभूत बातों को समझा गया होता कि पूरे साल बच्चों का अवलोकन होता रहेगा और हर बच्चे की प्रगति बहुत ही सूक्ष्म स्तर पर नोट की जाएगी और तब उसके अनुसार बच्चे को आगे की कक्षाओं में बढ़ाया जाएगा, ताकि न उसपर बस्ते का बोझ हो, न पाठ्यक्रम का बोझ हो और उसकी सीखने की प्रक्रिया बहुत ही आनन्दमयी रहे और बिना किसी दबाव के वह आगे बढ़ता रहे। लेकिन यह सब उस प्रणाली में, जिसमें मौजूदा स्वरूप में परीक्षा होती है, सम्भव नहीं है। अभी की परीक्षा प्रणाली एक छन्नी की तरह है। वह हर स्तर पर बच्चों को छाँटती चलती है। यदि हम परीक्षा के इस मौजूदा ढाँचे से हट पाएँ तो बच्चों को और ज़्यादा सीखने के मौक़े उपलब्ध हो पाएँगे। लेकिन सतत और सम्पूर्ण मूल्यांकन की इस अवधारणा को शिक्षकों, अन्य सरकारी दफ़्तरियों द्वारा कितना समझा गया है, इसमें मुझे सन्देह है। मुझे लगता है कि बारीक़ियों को नहीं समझा गया है, उनको नहीं पता कि बच्चे को किस दिशा में और कहाँ तक ले जाना है। बच्चों में कौन-सी दक्षताएँ है? भाषा में दक्षता, गणित में दक्षता और इन दक्षताओं के लिए हमें कैसे काम करना है, यह कोई शिक्षक नहीं समझता है। जब यह समझ नहीं बनी है तो सीसीई की डायरी अलग तरह से भरी जा रही है और कक्षा में काम भी अलग तरह से हो रहा है। प्रशिक्षण में भी इस तरह की कोई बात स्पष्ट नहीं की जाती है कि इन दक्षताओं पर आपको कैसे काम करना है। मैं एक प्रशिक्षण में गई थी, वहाँ मैंने बार-बार पूछा कि इसको करने के लिए बच्चों के साथ काम कैसे करना पड़ेगा, तो किसी ने भी मुझे इस बारे में नहीं समझाया, स्पष्ट नहीं किया कि यह क्या है, बस कहा कि वह डायरी में लिखा है उस तरह से कर लेना।

यशोधरा : मैंने कभी बच्चों के साथ इतना काम नहीं किया है पर जब भी शिक्षकों के साथ काम किया है या जब भी बच्चों के साथ काम करने का मौक़ा मिला है तो यह बात तो पक्की है कि अगर बच्चों को सीखने को मिलता है तो वे सिर्फ़ उसको कक्षा तक ही सीमित नहीं रखते, कक्षा के बाहर भी बच्चे उसको बहुत रुचि से करते हैं। एक तरीक़ा यह हो सकता है कि हमारे पास पाठ्यचर्या है और पाठ्यक्रम है, तो उसके अनुसार हमें प्रत्येक कक्षा में जो हासिल

"अभी की परीक्षा प्रणाली एक छन्नी की तरह है। वह हर स्तर पर बच्चों को छाँटती चलती है। यदि हम परीक्षा के इस मौजूदा ढाँचे से हट पाएँ तो बच्चों को और ज़्यादा सीखने के मौक़े उपलब्ध हो पाएँगे।"

करना है, उन हिस्सों को चिह्नित कर लें और कुछ अवयवों के लिए हम बच्चों को कक्षा से, पाठशाला से बाहर लेकर भी जाएँ, उनके घर या समाज तक। जैसे कि समानता के अधिकार की बातें सामाजिक विज्ञान में है, तो इस तरह की चीजों पर समझ के लिए हम बच्चों को काम दे सकते हैं कि आप पता करो कि आपके घर में कौन क्या-क्या काम करता है? क्या सब लोग समान काम करते हैं? या सबको कोई निर्णय लेने का समान अधिकार है? कुछ इस तरह की गतिविधियाँ। विज्ञान में अवलोकन करना, चीज़ों को ध्यान से देखना, एक उद्देश्य के तहत देखना आदि पर काम करना। एक शीट बनाकर

बच्चों को दें कि किसका अवलोकन करना है और उस अवलोकन के तहत क्या-क्या दर्ज़ करना है। ज़ाहिर है कि शिक्षक का कार्यभार बढ़ेगा। बच्चे जब कुछ करके लाएँगे तो उस पर बातचीत भी करनी पड़ेगी, पर इस तरह के मौक़े शिक्षक उनके लिए बना सकते हैं जो कक्षा और पाठशाला के अन्दर ही नहीं, पाठशाला के बाहर भी सीखने की प्रक्रिया को जारी रखेंगे। हो सकता है इस स्थिति में भी पूरा न्याय नहीं हो पाए, लेकिन हम कुछ बेहतर की तरफ़ बढ़ पाएँगे, जिसमें बच्चों को सीखने के बेहतर मौक़े मिल पाएँगे।

दूसरा, बच्चों को कक्षा में बात करने की अनुमति नहीं होती और इसे अनुशासनहीनता

"बच्चे रचनात्मक एवं सृजनशील होते हैं और यह क्षमताएँ शुरू में ही सँवर जाएँ तो अच्छा है। साथ ही कुछ इस तरह से तय करें कि उनमें प्रकृति से जुड़ाव, प्रयोग करना, अवलोकन करना, फिर ख़ुद ही निष्कर्ष निकालना आदि हों, जिससे उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी विकास हो सके।"

माना जाता है। कक्षा में बच्चों को उनकी बात बोलने की आज़ादी दी जाए। वे जो कहना चाहते हैं, वे जो सुनना चाहते हैं वह सब करने के लिए उन्हें स्वतंत्रता हो, उससे बहुत फ़र्क़ पड़ता है और इससे यह समझने में भी मदद मिलती है कि बच्चे समझ के किस स्तर पर हैं। मुझे भी लगता है कि यह दो-तीन चीज़ें कारगर होती हैं। पर यह पूरी तरह से उस समस्या का हल नहीं है।

राजेश भट्ट : दसवीं तक तो गतिविधि आधारित बहुत काम होना चाहिए। मेरा मानना है कि इस स्तर पर पाठ्यक्रम का दबाव भी बहुत ज़्यादा नहीं होता, अतः दसवीं तक जितना अधिक गतिविधि आधारित काम हो सके उतना ही बढ़िया है। चूँकि बच्चे रचनात्मक एवं सृजनशील होते हैं और यह क्षमताएँ शुरू में ही सँवर जाएँ तो अच्छा है। साथ ही कुछ इस तरह से तय करें कि उनमें प्रकृति से जुड़ाव, प्रयोग करना, अवलोकन करना, फिर ख़ुद ही निष्कर्ष निकालना जैसे कार्य हों, जिससे उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी विकास हो सके। इसलिए दसवीं तक का पाठ्यक्रम उस तरह से डिज़ाइन हो जैसे– खोजबीन* या ऐसी ही अन्य किताबों का रहा है। मैंने भी कुछ दिन उसमें काम किया था। मुझे लगता है वे बहुत शानदार तरीक़े हैं, उसमें वास्तव में बच्चा सीख सकता है, अच्छी तरह से सीखता है। तो मुझे लगता है कि दसवीं तक तो इन चीज़ों का ख़याल रखना चाहिए, क्योंकि बाद में तो बहुत दबाव होता है। पर हमारा ढाँचा ही ऐसा है कि परेशानी बार-बार वहीं पर खड़ी हो जाती है, रटने पर।

शहनाज़ : अभी पाँचवी में एस.ई.क्यू. आई. (School Education Quality Index) और (सीसीई) सतत और व्यापक मूल्यांकन चल रहा है और यह काफ़ी गतिविधि आधारित है। इसके तहत शिक्षकों से अपेक्षा है कि वे पाठ्यपुस्तक में दी गई सभी गतिविधियाँ बच्चों के साथ करें। लेकिन शिक्षकों के साथ यह समस्या भी है कि एक कक्षा में जहाँ अलग-अलग स्तर के बच्चे होते ही हैं, तब सभी के साथ पाठ्यपुस्तक में दी गई वही गतिविधि नहीं की जा सकती। वैसे इसके लिए यह भी किया जा रहा है कि कक्षा में आते ही बच्चों का आधार टेस्ट लिया जाए और इस टेस्ट में शामिल बच्चे के स्तर के अनुसार उसके साथ लगभग दो महीनों तक काम किया जाए, और फिर जिस कक्षा में वह है उसका काम शुरू किया जाए। यह सिस्टम बच्चों के लिए बहुत प्रभावी है। यदि शिक्षक सक्रिय और नवाचारी है और हर कक्षा में कुछ नया करने की कोशिश करता है तो बच्चे रुचि लेकर ज़्यादा सीखेंगे। जैसा आपने कहा कि बच्चे को रोज नई चीज़ चाहिए। शिक्षक रोज़ाना तैयारी करके जाए,

पढ़कर जाए, नई-नई गतिविधियाँ कराए।

रजनी द्विवेदी : एक बात शहनाज़जी ने कही और राजेश भट्टजी ने भी कि बच्चे की भी अपनी अपेक्षाएँ हैं। मतलब अगर उसको समझ का चस्का लगे तो वह चस्का टूटना नहीं चाहिए, टीचर को भी उसके साथ फिर नियमित रहना चाहिए।

शहनाज़ : लेकिन अगर दसवीं क्लास तक गतिविधियाँ करने की रुचि बनाना है, तो जैसा कि राजेश भट्टजी कह रहे हैं, कक्षा तीन से ही पूरी गतिविधियाँ कराने लगें तो बच्चों को चस्का लग जाएगा, तो फिर हर क्लास में वे चाहेंगे कि शिक्षक कुछ काम कराएँ और नहीं मिलने पर वे कहेंगे भी कि हमारी किताब में यह है तो आप हमको यह करवाओ।

रजनी द्विवेदी : राजेशजी, कोचिंग में तो एक ही लक्ष्य वाले बच्चे आते हैं लेकिन ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षा में जिसमें आप साइंस पढ़ा रहे हैं, वहाँ पर तो बच्चे छँटकर आते होंगे।

राजेश भट्ट : नहीं, उनका लक्ष्य भी वही है, वे भी चाहते हैं कि हमारा आईआईटी-जेईई में चयन हो जाए।

रजनी द्विवेदी : उनको सैद्धान्तिक रूप से विज्ञान सीखने में और अपनी समझ को विकसित करने में किस तरह की समस्याएँ आती हैं?

राजेश भट्ट : सरकारी स्कूलों में सबसे बड़ी समस्या यह है कि वहाँ संसाधन नहीं हैं, विज्ञान के लिए प्रयोगशाला नहीं है। बिना प्रयोगशाला के विज्ञान संकाय खोल दिया। कानपुर शासकीय विद्यालय की बात करूँ तो सरकार से एक भी रुपया प्रयोगशाला के लिए नहीं आया है। जैसे-तैसे हम लोगों ने कुछ रुपया इकट्ठा किया और काम शुरू किया। कक्षा में हम जान डालने की कोशिश करते हैं कि बच्चा प्यार से विज्ञान को पढ़ ले, और वह हो भी जाता है। ऐसा नहीं है कि बच्चा विषय छोड़ देता है। शिक्षक की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। शिक्षक के अन्दर अगर ताक़त है तो वह पेड़ के नीचे भी बच्चों को पढ़ा देगा और नहीं है तो वह सुविधा में भी कुछ नहीं कर पाएगा।

यशोधरा : अभी मैं शिक्षा सम्बल कार्यक्रम में काम कर रही हूँ। यह सही है कि ऐसे बहुत से स्कूल हैं जहाँ संकाय तो खुल गया और पद भी हैं लेकिन बहुत समय से खाली हैं, यानी शिक्षक ही नहीं हैं। तब बच्चे अपने स्तर पर जितना पढ़ सकते हैं पढ़ते हैं। और अगर उनके गाँव में ऐसी कोई सुविधा उपलब्ध है, कि कोई ट्यूशन पढ़ा सकता है तो वे वहाँ पढ़ते हैं। हमारे कैम्प में बच्चे आते हैं और वे बताते हैं कि हम तो ख़ुद ही अपने स्तर पर कुछ-कुछ पढ़ रहे हैं। ये सारी परिस्थितियाँ भी सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को बाधित कर रही होती हैं।

''यदि शिक्षक सक्रिय और नवाचारी है और हर कक्षा में कुछ नया करने की कोशिश करता है तो बच्चे रुचि लेकर ज़्यादा सीखेंगे। जैसा कि कहा गया है बच्चे को रोज नई चीज़ चाहिए। शिक्षक रोज़ाना तैयारी करके जाए, पढ़कर जाए, नई-नई गतिविधियाँ कराए।''

डॉ गिरीश शर्मा : विद्यालय अवलोकन के लिए मुझे सिरोही जाने का मौक़ा मिला था। पहले स्कूल दसवीं तक था और फिर उसका उन्नयन हुआ था बारहवीं तक, लेकिन शिक्षक नहीं थे। वहाँ पहली से आठवीं तक के बच्चे खाली बैठे रहते थे क्योंकि जो आठवीं के टीचर थे उनका सारा फ़ोकस दसवीं और बारहवीं पर था और वे उनको पढ़ाते थे। लेकिन ज़्यादा फ़ोकस तो उन छोटे बच्चों को पढ़ाने पर होना चाहिए था, दसवीं और बारहवीं के बच्चे तो ख़ुद भी पढ़ सकते थे। लेकिन वे ऐसा नहीं करते थे। चूँकि पहली से आठवीं तक के बच्चों के लिए सुबह

से लेकर शाम तक कुछ भी करने के लिए नहीं होता था, कुछ बच्चे दो-तीन दिन आते फिर उन्हें लगता कि जब कुछ हो ही नहीं रहा तो विद्यालय क्या जाना? बच्चों का स्कूल से पलायन करने का एक कारण यह भी है। प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता जिसके परिणामस्वरूप शुरुआत ही हमेशा कमज़ोर रहती है। अभी बीएड करने वाले छात्र-शिक्षक इन्टर्नशिप के लिए जा रहे हैं। उनको मुख्यतः नौवीं और दसवीं कक्षा पढ़ानी थी लेकिन उनको प्राथमिक कक्षाएँ ही दी जाती हैं। और उसपर ये नए छात्र-शिक्षक क्या पढ़ाते हैं, कैसे पढ़ाते हैं, पढ़ा भी रहे हैं या नहीं, यह भी नहीं देखते।

"लेकिन सवाल यह भी है कि क्या जो आज की पाठ्यपुस्तकें हैं, एनसीईआरटी जैसी किताबों को छोड़कर, वे बच्चों को समझने के अवसर देती हैं या शिक्षक की ऐसी बाध्यता बनती है कि वह बच्चे को बिना समझाए उस पाठ को पढ़ा ही नहीं सकता है?"

गुरबचन सिंह : इस सारी बातचीत से यह स्थापित होता है कि बच्चे ज़्यादा-से-ज़्यादा अंक प्राप्त करें इसलिए रटने की प्रवृत्ति बढ़ी है। दूसरा– जो शहनाज़ ने साफ़तौर पर कहने की कोशिश की है कि समय बहुत कम है और कोर्स बहुत ज़्यादा है। और इस वजह से बच्चों के साथ उनको समय देते हुए समझ विकसित करने की दिशा में काम नहीं हो पाता और इसलिए बच्चों को रटने की तरफ़ जाना पड़ता है। कई बार हम ख़ुद ही कह देते हैं कि रट लो, समझना बाद में। तीसरा– कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कारण भी हैं जो रटने की प्रवृत्ति की ओर ले जाते हैं जैसे– स्कूल में टीचर का कम होना, पाठ्यक्रम अधिक होना और कभी-कभी उसका स्तर के अनुसार न होना। कक्षाओं में बच्चे ज़्यादा होना यानी शिक्षक-छात्र अनुपात युक्तिसंगत नहीं होता है। ये सभी सीखने के माहौल को प्रभावित करते हैं। क्या आपको लगता है कि यही मुख्य कारण हैं या इसके अलावा भी कोई अन्य कारण हैं जो बच्चे को रटने की तरफ़ ले जाते हैं? मुझे एक दूसरा द्वन्द्व भी दिखाई दे रहा है, जैसे– शहनाज़ ने कहा कि बच्चे शुरू में रट लेते हैं और बाद में समझ लेते हैं और इसमें कोई दिक़्क़त नहीं है। लेकिन साथ ही हम यह भी कह रहे हैं कि समझने की संस्कृति को शुरुआत से ही बढ़ावा देने की आवश्यकता है। इन दोनों में क्या ठीक है, क्या ज़्यादा बेहतर है या दोनों ही ठीक हैं? चौथी बात यशोधरा ने कही कि पाठ्यपुस्तक के सारे पाठ रटने के लिए बाध्य करते हों यह कहना ठीक नहीं है। अवधारणाओं को रटवाया भी जा सकता है और समझाया भी जा सकता है। लेकिन सवाल यह भी है कि क्या जो आज की पाठ्यपुस्तकें हैं, एनसीईआरटी जैसी किताबों को छोड़कर, वे बच्चों को समझने के अवसर देती हैं या शिक्षक की ऐसी बाध्यता बनती है कि वह बच्चे को बिना समझाए उस पाठ को पढ़ा ही नहीं सकता है? इसके बारे में आपके खुद के, अपनी पाठ्यपुस्तकों के साथ जो अनुभव हैं, उन्हें साझा करेंगे तो और स्पष्टता बनेगी।

यशोधरा : रटना और समझना दोनों को बिल्कुल ही अलग-अलग करके देखने में दिक़्क़त है। मेरा यह मानना है कि शुरुआती स्तर पर या किसी भी स्तर पर समझना और रटना ये दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। ऐसा नहीं है कि एक समय पर समझ लिया तो उसमें रटना शामिल नहीं है। जैसे– अगर हम विज्ञान या गणित की बात करें तो कुछ शब्दावलियाँ है या कुछ सूत्र हैं। यहाँ अनुपात पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि शुरुआती सालों में इस बात का ध्यान रखा जाए कि रटने के हिस्से कम-से-कम हों या जो विषयगत अवधारणात्मक जानकारियाँ हैं, वे कम-से-कम हों, और जो हों भी वे ऐसी भाषा में हों जिसे बच्चा समझ सके ताकि समझने

का हिस्सा ज़्यादा व्यापक रहे। धीरे-धीरे जब हम प्राथमिक से माध्यमिक व उच्च माध्यमिक कक्षाओं या कॉलेज की तरफ़ आते हैं, तब उस विषय की भी माँग रहती है और उस परिस्थिति में हम यह मानकर चलते हैं कि एक समझ विकसित होने के बाद परिभाषाएँ याद करना या वह तकनीकी शब्दावली याद करना या उस विषय की भाषा में बातों को व्यक्त कर पाना आसान हो जाएगा। यदि शुरुआती स्तर पर समझना सशक्त रहा और रटने का हिस्सा कम रहा या रटने की चीज़ों को बच्चों के साथ सरल भाषा में साझा किया गया। तो दोनों को एकदम अलग-अलग करके नहीं, पर उनके अनुपात को घटा-बढ़ा कर आगे बढ़ें तो समस्या कम होगी।

रजनी द्विवेदी : तो फिर तो आप यह कह रहे हैं कि रटना भी सीखने का हिस्सा होना चाहिए?

यशोधरा : वह तो है ही, आप उसको नहीं हटा सकते। वह साथ-साथ चलेगा।

डॉ गिरीश शर्मा : हर व्यक्ति तो रट नहीं सकता।

गुरबचन सिंह : सवाल यह है कि रटने की ज़रूरत ही क्यों महसूस होती है ? मेरे शिक्षक मुझे यह सिखाते आए हैं कि अगर कुछ समझ में नहीं आ रहा है तो इसको रट लो। तो उनका आग्रह तो यही था कि चीज़ों को समझना चाहिए लेकिन अभी समझ में नहीं आ रहा है तो रट लो तो रटना एक तरह की बाध्यता है या यह ज़रूरत है? और क्या यह भी पढ़ाई का एक हिस्सा है?

रजनी द्विवेदी : समझना, रटना और याद करना, इसको आप कहाँ रखते हैं? जैसा कि राजेश भट्ट ने कहा कि समझने और रटने दोनों को स्मृति में रहना चाहिए। याद करना मतलब स्मृति में रहना। क्योंकि आपको नया कुछ सीखना है तो स्मृति में कुछ होगा तो आप आगे बढ़ सकते हैं। अब आपको फ़र्क़ करना पड़ेगा कि याद करने और रटने को आप कैसे देखते हैं और समझने में, इनमें से किसकी भूमिका ज़्यादा है या कम है? और कब, किसकी भूमिका ज़्यादा हो जाती है? फिर तो यह बात भी करनी पड़ेगी। और जब बच्चे रटते-रटते समझते हैं तो उसका क्या तात्पर्य है?

डॉ गिरीश शर्मा : रटते-रटते नहीं समझ सकते हैं। रटना तभी होता है जब कुछ समझ में नहीं आ रहा है, यानी यह स्मृति में रखने का एक तरीक़ा है। परीक्षा भी आ गई है और कुछ समझ भी नहीं आ रहा है तो परीक्षा पास करने के लिए रटना है, लेकिन समझना है तो अलग तरह की कोशिश करनी ही पड़ेगी।

शहनाज़ : रटते-रटते समझने वाली बात के बारे में मेरा अनुभव है कि बच्चे को जैसे सबसे पहले सूत्र दिखता है तो वह उसको रटने की ही कोशिश करता है क्योंकि उसको लगता है कि इसके तो आगे-पीछे कुछ है ही नहीं और मैडम ने कह दिया कि क्षेत्रफल का तो 'लम्बाई गुणा चौड़ाई' ही लिखना है, बस उसको रट लो। लेकिन जब बच्चे को समझाया जाता है और जब किसी काम के ज़रिए करवाया जाता है कि लम्बाई गुणा चौड़ाई हम क्यों कर रहे हैं, तब कुछ बच्चे यह समझना चाहते हैं। लेकिन वहाँ पर भी बहुत सारे बच्चे ऐसे होते हैं जो मानते हैं कि जब इसको लिखने भर से सवाल हल हो जाता है तो इतना समझने की क्या ज़रूरत है।

" रटते-रटते नहीं समझ सकते हैं। रटना तभी होता है जब कुछ समझ में नहीं आ रहा है, यानी यह स्मृति में रखने का एक तरीक़ा है। परीक्षा भी आ गई है और कुछ समझ भी नहीं आ रहा है तो परीक्षा पास करने के लिए रटना है, लेकिन समझना है तो अलग तरह की कोशिश करनी ही पड़ेगी। "

जिस बच्चे ने शुरू से कुछ समझते हुए काम किया होगा तो उसको लगेगा कि अगर मैं यह समझ लूँगा तो मुझे हमेशा यह सूत्र याद रहेगा। पाठ्यपुस्तक वाली बात भी यहाँ जुड़ रही है। राजस्थान में तीन साल पहले जो पाठ्यपुस्तक थी उसमें लम्बाई गुणा चौड़ाई के सूत्र को देने से पहले भी कुछ अभ्यास थे। यह पाठ्यपुस्तक शिक्षक को इस तरह से बाध्य करती थी कि उसको वे अभ्यास करवाने ही होंगे और उस खण्ड में बच्चा एक चौकोन में दिए गए वर्गाकार बॉक्स को गिनेगा और लम्बाई गुणा चौड़ाई से क्षेत्रफल निकालेगा या परिणाम निकलेगा, तो पहले वह करके ही देखेगा। किताब में खाली पेज़ भी थे तो शिक्षक को करवाना ही था और करवाने के बाद यह हुआ कि बच्चों को सारे सूत्र समझ में आए। लेकिन इन किताबों से पहले भी वे रट ही रहे थे और अभी भी वे रट ही रहे हैं। यानी एक तरीक़ा यह है कि पाठ्यपुस्तक इतना मज़बूर कर दे कि आपको करवाना या करवा के समझाना ही पड़ेगा और कोई चारा ही नहीं है। खाली पन्ना पड़ा है तो फिर शिक्षक क्या करेगा? सवाल तो लिखेगा-ही-लिखेगा, ख़ुद कुछ करवाएगा ही। दूसरी जगह यह होता है कि बच्चा रटते-रटते उस चीज़ को समझ जाता है कि मैंने तीसरी और चौथी क्लास में भी पढ़ा था कि क्षेत्रफल=लम्बाई गुणा चौड़ाई, तो वहाँ तो मुझे शिक्षक ने नहीं समझाया था। शिक्षक ने कहा था कि लिख दो और ऐसे करके ऐसे कर देना। लेकिन बाद में समझ बन गई, शायद बहुत बाद में।

"पाठ्यपुस्तकों में तो अभी भी बहुत ज़्यादा सुधार की ज़रूरत है। क्योंकि इन्हीं के कारण अभी फिर सारा ज़ोर रटने पर ही जा रहा है।"

मेरा अनुभव है कि कक्षा में दो-तीन तरह के बच्चे होते हैं, कुछ समझने वाले होते हैं तो वे उस चीज़ को समझकर ही सन्तुष्ट होते हैं कि यह बात अब पक्की हो गई, अब यह हमेशा याद रहेगी। लेकिन कुछ नहीं भी होते हैं। कई बार शिक्षक को लगता है कि वे समझा नहीं पा रहे हैं और बच्चे समझ नहीं पा रहे हैं, पूरा जुलाई निकल गया और अभी तक 1 से 100 तक की गिनती भी नहीं हो पा रही है। ऐसी भी समस्याएँ मैंने शिक्षकों के साथ देखी हैं, तो वे शुरुआती कक्षाओं में ही धीरे-धीरे रटाने पर आ जाते हैं। बच्चे ने समझकर याद किया है या रटकर, यह तब पता चलता है जब उसके द्वारा किए गए समझ के प्रयोग को देखते हैं, या फिर यह कि फलाँ चीज़ तो जुलाई में की गई थी, जनवरी तक याद है मतलब कि इसको यह बात समझ में आ गई। लेकिन फिर भी बच्चे के दिमाग़ में क्या है और वह कैसे वहाँ पर है इसका पता लगाना मुश्किल है और उसकी ठीक से जाँच भी हम नहीं कर पाते। लेकिन पाठ्यपुस्तकों में तो अभी भी बहुत ज़्यादा सुधार की ज़रूरत है। क्योंकि इन्हीं के कारण अभी फिर सारा ज़ोर रटने पर ही जा रहा है।

गुरबचन सिंह : पाठ्यपुस्तक में किस तरह की चीज़े हों या उसकी संरचना किस तरह की हो कि वह रटने को कम करें, क्या कुछ उदाहरण हैं आपके सामने जहाँ रटने की सम्भावना तो बिल्कुल ही नहीं बनती हो ।

राजेश भट्ट : खोजबीन* पुस्तक विज्ञान सीखने के लिए या स्वाध्याय के लिए बहुत ही शानदार थी, फिर भी दसवीं तक तो यह सब सम्भव है, मेरा फ़ोकस बार-बार ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षा पर आ जाता है। यहाँ ये तरीक़े भारी हो जाते हैं, काम सम्भव ही नहीं है लेकिन छोटी क्लास में तो अधिगम गतिविधि-आधारित होना चाहिए। पत्तियाँ इकट्ठी करना उनका वर्गीकरण करना कुछ ऐसी ही गतिविधियाँ हैं।

गुरबचन सिंह : आपने कहा कि उस पुस्तक में यह सम्भावना है कि बच्चे ख़ुद अध्ययन करें। ऐसा उसकी संरचना में होगा। तब यह बाध्यता और ज़रूरत बनती है कि इसको ख़ुद पढ़े बिना या करे बिना, नहीं कर सकते। यह उस चीज़ का एक आधार बन सकता है। उदाहरण के लिए, आप एनसीईआरटी की किताबों के अभ्यास देखें। कोई अभ्यास ऐसा नहीं है कि जिसका जो तय उत्तर है, वह पाठ में मिल जाए। आपको कुछ नहीं मिलेगा, आपको कुछ अतिरिक्त पढ़ना ही पड़ेगा, बाहर जाना पड़ेगा, सोचना पड़ेगा और कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा। दिए गए कई प्रश्नों के तय उत्तर भी नहीं हैं। ऐसे और कौन-कौन से तरीक़े हो सकते है जो किसी पाठ्यपुस्तक को रटने से बाहर ले जाने की कोशिश करें।

राजेश भट्ट : उसमें एक चुम्बक वाला अध्याय था। उसमें लिखा था कि अपने आसपास की जितनी भी छोटी-छोटी चीज़ें हैं उन्हें इकट्ठी कर लो। देखो कि उनमें से कौन-कौन सी चुम्बक से चिपकती है, उसकी सूची बना लो। जो नहीं चिपकती हैं, वे कौन-सी हैं और किस-किस पदार्थ से बनी हैं। और जो चुम्बक से चिपक रही हैं वे किस चीज़ के बनी हैं। वहाँ से वह एक निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि चुम्बक से लोहा चिपक रहा है पर लकड़ी और प्लास्टिक चुम्बक में नहीं चिपकेंगे। इस तरह जो अवधारणा बनती है, वह ज़ाहिर है कि इससे बेहतर होती है क्योंकि इस प्रयास से एक तो हम बच्चों को सैद्धान्तिक रूप से समझा रहे हैं कि लोहा चुम्बक से चिपक जाएगा, बाक़ी चीज़ें नहीं चिपकेंगी। दूसरे एक बच्चा अपने आसपास की चीज़ें इकट्ठी कर रहा है और उनकी सूची बना रहा है, फिर जो चीज़ें चुम्बक से चिपकी हैं, उनकी सूची बना रहा है कि वे किसकी बनी हैं और वह लिख रहा है और जो चुम्बक से नहीं चिपकीं वह भी लिख रहा है। यह समझ विकसित करने का बहुत शानदार तरीका था। पर आगे जाकर वह चला नहीं। यह सब छोटी कक्षाओं तक अच्छा और सम्भव है। बड़ी क्लास में जाने के बाद या तो उस तरह की प्रयोगशाला स्थापित हो जहाँ वास्तव में विज्ञान के सभी विषयों की हर चीज़ को गहराई से करके देखा जा सकें और वैसी ही मूल्यांकन पद्धति हो। ख़ुद करने में बहुत सीखना होता है। जैसे– उपकरणों को अलमारी में से ख़ुद लेना, प्रयोग क्या है, तो उसके लिए क्या उपकरण चाहिए, सर्किट बनाना है, क्या कनेक्शन करने होंगे, फिर ख़ुद ही रीडिंग लेना, उनसे ग्राफ़ बनाना, निष्कर्ष निकालना आदि। इसके लिए पहली बात है कि परीक्षा ऐसी ली जाए कि आपको बनाकर दिखाना है। शिक्षक बच्चों की थोड़ी-बहुत मदद करता रहे, उनको जहाँ ज़रूरत हो, निर्देश देता रहे तब जो समझ विकसित होगी उसका मुक़ाबला ही नहीं है। किताबें और मूल्यांकन का ढाँचा ऐसा हो कि टीचर अपने-आप बाध्य हो जाए कि मुझे इस पर

“बच्चा अपने आसपास की चीज़ें इकट्ठी कर रहा है और उनकी सूची बना रहा है, फिर जो चीज़ें चुम्बक से चिपकी हैं, उनकी सूची बना रहा है कि वे किसकी बनी हैं और वह लिख रहा है और जो चुम्बक से नहीं चिपकीं वह भी लिख रहा है। यह समझ विकसित करने का बहुत शानदार तरीका था।”

चलना है। पर अभी पाठ्यपुस्तकें और मूल्यांकन प्रणाली ऐसी नहीं है जो शिक्षक को इस तरह से करने के लिए बाध्य करे।

शहनाज़ : अभी कक्षा पाँचवी में दक्षताओं पर आधारित प्रश्न और उनको इस तरह से ही दिया गया कि उससे बच्चे की दक्षता पता चले। और शिक्षक को उपलब्धि की सूची भी वैसी ही बनानी है। लेकिन बच्चे को क्लास में वैसा करवाया ही नहीं गया है। तो अब यहाँ तो उल्टा ही हो गया कि सीसीई की तरह से पेपर तो बन गया लेकिन सीसीई के तरीक़े पर उससे काम नहीं करवाया गया। पाँचवी क्लास के बच्चे को बिल बनाने के

लिए दिया था, पर बच्चे को वह बिल बनाना ही नहीं आ रहा था। जबकि हमारे केन्द्र में निजी और सरकारी दोनों ही बच्चे थे। बच्चों को भी पता नहीं चल रहा था कि यह बिल बनाने में करना क्या है? ज़्यादातर बच्चे मुझसे पूछ रहे थे कि यह सवाल क्या है? यहाँ तो कुछ करने को ही नहीं दिया हुआ है। यहाँ प्रश्न लिखा हुआ था और आगे वाले पेज पर उस बिल का पूरा प्रोफ़ार्मा बना हुआ था। जब ऐसा करने के लिए आया तो बच्चों को कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था, क्योंकि इस तरह का अभ्यास कक्षा में कभी हुआ ही नहीं और उन्होंने कभी क्लास में बिल देखा ही नहीं। मेरी कक्षा में इस पाठ को पढ़ाते समय मैंने बच्चों से बिल मँगवाए थे और बच्चे हर तरह के बिल लाए थे। घर में आटा, दाल, चावल लाते हैं उसका भी था, बिजली का भी बिल था और पानी का भी बिल साथ लाए थे। अलग-अलग तरह के बिल हो गए थे। इस तरह उन्होंने देखा था कि बिल ऐसे होते हैं और उनमें कहाँ ग्राहक के नाम होते हैं? कहाँ पर पैसे लिखे हैं? कहाँ पर सामान लिखे हैं? वह किताब में भले ही बिल का ख़ाका तो देख रहा है पर किताब में तो एक ही तरह का था, मगर वहाँ तो उसको अलग-अलग तरह के देखने को मिले। फिर मैंने अपना पेपर बनाया था और उसमें अपना बिल दिया था और दो तरीक़े दिए थे कि बिजली का बिल ऐसा होता है और बाज़ार से जो सामान खरीदते हैं वह बिल ऐसा होता है। और अभी मैंने देखा कि बिल आया और बच्चों को पता ही नहीं है कि कैसे क्या करना है। तो शिक्षक को क्लास में इस तरह का काम करना कभी याद ही नहीं आता है। जिस तरह से दक्षताएँ विकसित की जानी चाहिए उस तरह से ही शिक्षक का प्रशिक्षण होना चाहिए।

डॉ गिरीश शर्मा : हम राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों की बात करें तो शुरुआत में ये किताबें एनसीईआरटी की तरह ही गतिविधि-आधारित लिखी गई थीं। प्रारम्भ में तो वे ठीक से चलीं लेकिन शिक्षक को इतना काम करना पड़ा कि बाद में वे किताबें बदल दी गईं और वापस पुराने पैटर्न पर सारी किताबें आ गईं। जबकि होना यह चाहिए था कि जो किताबें लिखी गई थीं वे एक क़दम आगे और अच्छे से लिखी जानी चाहिए थीं।

पुस्तकों में बच्चों को ख़ुद करने, सोचने व अपने तर्क रखने के मौक़े थे। उन्हें कई प्रयोग भी करने थे और ऐसे परिभ्रमण भी जिनमें उन्हें कई पहलुओं का गहराई से अध्ययन भी करना था।

रजनी द्विवेदी : आप सभी ने संवाद में सहभागिता करके इसे सार्थकता प्रदान की, सभी का अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की ओर से शुक्रिया।

खोजबीन* -खोजबीन, पूर्व माध्यमिक शालाओं के लिए लोक जुम्बिश परिषद द्वारा राजस्थान के चुने गए ब्लॉक में विज्ञान शिक्षा को ज़्यादा अर्थपूर्ण शिक्षण सम्भव बनाने के प्रयास के लिए तैयार की गई पाठ्यपुस्तकें हैं। इन्हें बनाने में राजस्थान के सरकारी ढाँचे में कार्य कर रहे शिक्षकों के अलावा एकलव्य व विद्या भवन शिक्षा सन्दर्भ केन्द्र शामिल थे। इनकी शुरूआत पीसांगन ब्लॉक से 1998 में हुई। पुस्तक विज्ञान शिक्षा को बेहतर करने के प्रयास का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थी और इसके साथ शिक्षकों का परिचय करवाने व समझ और जुड़ाव बनाने के लिए प्रशिक्षण के अलावा कई और माध्यम भी सोचे गए थे।

लेखकों से आग्रह

हमने पत्रिका के पहले एवं दूसरे अंक के लिए आलेख आमंत्रित करते हुए सभी को पत्र लिखे थे जिसमें लेखों की प्रकृति व स्वरूप के बारे में कुछ आधार भी दिए थे। इसके अलावा कुछ आधार आपको पहले, दूसरे और इस तीसरे अंक के लेखों को पढ़ने से मिल जाएँगे। आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी भी मसले पर अपने अनुभव, अध्ययन व विश्लेषण के आधार पर इस पत्रिका में लिख सकते हैं। उम्मीद करते हैं कि आप जो भी लेख भेजेंगे वह ठोस आधारों पर होंगे। यदि लेख में दिए गए किसी विवरण, चर्चा अथवा व्याख्या से सम्बन्धित किसी तर्क अथवा प्रमाण के लिए किसी पुस्तक, जरनल या वेब स्रोत से कोई सामग्री ली गई हो तो उसका उल्लेख ज़रूर करेंगे। आप जो भी सन्दर्भ सामग्री लें उससे लेख को अर्थपूर्ण, तार्किक और गुणवत्तापूर्ण बनाने में मदद मिले।

पत्रिका में लोगों के अनुभव भी लिए जाएँगे। इसमें कक्षा व स्कूल में विषय सीखने–सिखाने के अनुभव, छात्रों द्वारा किसी अवधारणा विशेष को सीखने की प्रक्रिया, उनके साथ की जाने वाली गतिविधियों के अनुभव, पाठ्यपुस्तक पढ़ाने के अनुभव और उनका विश्लेषण, बच्चों के साथ खेलने, चित्रकारी करने, बालसभा, मध्याह्न भोजन और टीचर लर्निंग सेण्टर आदि के अनुभव भी हो सकते हैं। इनके अलावा छात्र–अध्यापक सम्बन्ध, कक्षा में बातचीत और अनुशासन जैसे विषयों पर भी लिख सकते हैं। आशा करते हैं कि आपके यह लेखकीय अनुभव ठोस एवं यथार्थपरक होंगे। उसमें कुछ ऐसा ज़रूर हो जो पाठक को रुचिपूर्ण व सार्थक लगे।

इसके अलावा आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी पुस्तक, फिल्म अथवा अन्य शिक्षण सामग्री के बारे में भी लिख सकते हैं, मसलन उनका परिचय, समीक्षा अथवा विश्लेषण। इसके लिए आप शिक्षा व समाज से सम्बन्धित कोई ऐसी पुस्तक ले सकते हैं जो आपको उल्लेखनीय लगे। आप चाहें तो परिचय अथवा विश्लेषण के लिए एक ही क्षेत्र की दो–तीन पुस्तकों अथवा फिल्म को एक साथ ले सकते हैं।

लेखकों को अपने लेखन के सन्दर्भ में किसी भी तरह के सहयोग की आवश्यकता महसूस होती है तो वे इसके लिए सम्पर्क कर सकते हैं। उन्हें इस सन्दर्भ में सम्पादक मण्डल के सदस्यों द्वारा आवश्यक सहयोग और सुझाव दिए जाएँगे।

हम आशा करते हैं कि **पाठशाला भीतर और बाहर** का यह तीसरा अंक आपको अच्छा लगेगा और आप इसके अगले अंकों के लिए ज़रूर लिखेंगे। पत्रिका के इस अंक पर आपकी टिप्पणियों व सुझावों का हमें इन्तज़ार रहेगा।

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की अन्य पत्रिकाएँ



